प्रकाशक
रामनारायण लाल
प्रयाग

प्रथम संस्करण
मूल्य ५)
१९५२

मुद्रक
मुंशी रमजान अली शाह
नेशनल प्रेस
प्रयाग

दो शब्द

पहले सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव दिखलाने का विचार था, किन्तु अनुभव की गति के साथ यह कार्य विकट एवं दुरुह प्रतीत होने लगा। अतएव डा० धीरेन्द्र वर्मा की अनुमति से मैंने अपने कार्य को चौदहवीं तथा सोलहवीं शताब्दियों की परिधि में सीमित कर लिया। डा० साहब ने अपने अमूल्य सुझाओं से मेरी बड़ी सहायता की। इसके लिये मैं उनका ऋणी हूँ।

गवेषण के मार्ग में आचार्य श्री रामकृष्ण शुक्ल तथा रायबहादुर श्री कन्हैयालाल वर्मा से समय-समय पर अदम्य प्रेरणा मिलने से मैं उनका अति आभारी हूँ।

अनेक पुस्तकें यहाँ अप्राप्य होने के कारण मुझे काशी, प्रयाग, कलकत्ता, गोरखपुर, अजमेर, बीकानेर आदि स्थानों पर जाने की भी आवश्यकता हुई। वहाँ स्थानीय विद्वानों और पुस्तकालयों के अध्यक्षों से मुझे बड़ी सहायता मिली, अतः मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

राजपूताना विश्वविद्यालय ने मुझे डेढ़ हजार रुपये की उदार सहायता देकर इस ग्रंथ के प्रकाशन में अमित सहयोग प्रदान किया है। इसके लिये मैं विश्वविद्यालय का उपकार मानता हूँ। साथ ही मैं आभारी हूँ अपने प्रयागवासी मित्र श्री मोतीलाल अग्रवाल का जिन्होंने प्रकाशन-कार्य को अपने हाथ में लेकर मुझे अनुगृहीत किया।

जयपुर
जून १, सन् १९४९ ई० } 'अरुण'

भूमिका

इस निबन्ध में हिन्दी-साहित्य पर संस्कृत-साहित्य के प्रभाव की खोज की गई है। खोज के लिये १४०० ई० से १६०० ई० तक का हिन्दी-साहित्य चुना गया है। इन दो शताब्दियों में भक्ति-काल का वह सब साहित्य आ जाता है जिसे हिन्दी का प्राण कहना चाहिये। इस खोज में विशेष ध्यान इस ओर रहा है कि हिन्दी साहित्य में क्या है और संस्कृत साहित्य से इसमें क्या आया है।

इस निबन्ध में विचारों की मौलिकता नहीं है जितनी प्रस्तुतीकरण की। प्रस्तुतीकरण अपने संश्लेषात्मक रूप के कारण नितान्त अभिनव है। अनेक कोविदों ने किसी पंक्ति, पद्य या पुस्तक को लेकर उस पर संस्कृत की छाया देखने की चेष्टा की है, किन्तु अनेक कवियों की अनेक पुस्तकों को लेकर उस पर किसी विशेष प्रकरण के अंतर्गत संस्कृत-साहित्य के प्रभाव की खोज संभवतः आज तक किसी ने नहीं की। प्रस्तुत निबन्ध में हिन्दी के अनेक कवियों के अनेक ग्रंथों पर अनेक प्रकरणों के अंतर्गत संस्कृत-साहित्य के प्रभाव की खोज की गई है।

संस्कृत साहित्य ने हिन्दी-साहित्य (१४००-१६०० ई०) को अनेक प्रकार से प्रभावित किया है। कहीं हमें हिन्दी पर संस्कृत का आकृतिमूलक और कहीं सिद्धान्त-मूलक प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। हिन्दी-साहित्य के रूप और शाखाओं पर संस्कृत का आकृतिमूलक प्रभाव है, कथाओं और घटनाओं पर विस्तारमूलक प्रभाव की मुद्रा दीख पड़ती है और धर्म, दर्शन एवं काव्य-विज्ञान की पद्धति पर सिद्धान्तमूलक प्रभाव का साक्षात्कार होता है। सिद्धान्तमूलक प्रभाव के अंतर्गत सदाचार, वैराग्य, मनोवृत्ति, योगप्रवाह, भक्ति, दार्शनिक विचार एवं काव्य-शास्त्र का समावेश हो जाता है। उक्त विषयों में प्रवेश करने के लिये संस्कृत-साहित्य पर दृक्पात करके उसकी सामर्थ्य का अनुमान कर लेना भी आवश्यक है।

अतः सम्पूर्ण निबंध को ग्यारह अध्यायों में विभक्त किया गया है। पहले अध्याय को दो विभागों में विभक्त करके एक में वैदिक साहित्य के और दूसरे में

संस्कृत-साहित्य के अनेक विभागों का सामान्य अवलोकन किया गया है। दूसरे अध्याय में हिन्दी साहित्य के ढाँचे को ध्यान में रखकर उसके रूप और शाखाओं का विवेचन किया गया है। तीसरे अध्याय में कथावस्तु और आधार की परीक्षा की गई है। इसके 'क', 'ख', और 'ग', तीन विभाग हैं: 'क' में महाकाव्य, 'ख', में खण्ड काव्य और 'ग' में मुक्तक काव्य के आधार की खोज की गई है। इसके अनन्तर चौथे, पाँचवें, छठे, सातवें, आठवें और नवें अध्याय में भक्तिकालीन साहित्य की मूल प्रवृत्तियों का विवरण है: चौथे में वैराग्य वृत्ति, पाँचवें में सदाचार निरूपण, छठे में मन और उसका प्रसार, सातवें में योगसाधना, आठवें में भक्ति-भावना, और नवें में दार्शनिक विचार हैं। दसवें अध्याय में नीति का भक्ति साहित्य में मिलने वाला रूप प्रकट किया गया है। ग्यारहवें में काव्य-शास्त्र के अंतर्गत रस, अलंकार, दोष, और वृत्तियों की विवेचना की गई है।

हिन्दी साहित्य पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव

विषय-सूची

हिन्दी साहित्य पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव

प्रथम अध्याय

हिन्दी के संबन्ध से संस्कृत साहित्य का सामान्य पर्यवेक्षण

(क)

वैदिक साहित्य

इस निबंन्ध में हिन्दी-साहित्य (१४००-१६०० ई०) पर संस्कृत-साहित्य के प्रभाव की खोज की गई है, परन्तु जब हम संस्कृत साहित्य की बात करते हैं तो उससे वैदिक साहित्य को पृथक् समझ कर नहीं, वरन् उसे वैदिक साहित्य का ही एक सिलसिला मान कर। मैकडोनल और विंटरनिज आदिक विद्वान् भी, जो वैदिक साहित्य को संस्कृत साहित्य से भिन्न मानते हैं, संस्कृत साहित्य का इतिहास लिखते समय उसे छोड़ नहीं देते। इसका एक मात्र कारण है संस्कृत के संबन्ध में वैदिक साहित्य की अनिवार्यता। दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध मूल और वृक्ष का सा है। मूल के बिना वृक्ष की शाखाओं की कल्पना केवल भ्रम है। हमें यह मान्य है कि पाणिनि के व्याकरण ने भाषा को परिशुद्ध किया और इसी से व्याकरण नियंत्रित भाषा संस्कृत कहलाई, परन्तु जिस भाषा का परिशोध हुआ उसे एक साथ कैसे भुलाया जा सकता था। विचार धारा में जो वैदिक साहित्य के संस्कार चले आ रहे थे, उनमें पाणिनि का व्याकरण परिवर्तन कैसे कर सकता था? पाणिनि का व्याकरण वैदिक और संस्कृत दोनों भाषाओं पर लागू होकर उनके सबंध का साक्षी बनता है। जब वैदिक और संस्कृत भाषा का व्याकरण तक एक है तो उनको विच्छिन्न कैसे किया जा सकता है। इसलिए संस्कृत-साहित्य के परिशीलन के लिए वैदिक साहित्य का बड़ा महत्व है। हम यह नहीं कहते कि संस्कृत साहित्य ने अपनी कोई नवीनता प्रस्तुत नहीं की, परन्तु उसकी रग-रग में, शाखा-शाखा में, वैदिक साहित्य का रक्त दौड़ रहा है। किसी शाखा की प्रवृत्ति के परीक्षण के लिए वैदिक साहित्य से बड़ी महत्वपूर्ण सहायता मिल सकती

है। इसी दृष्टि से यहाँ पहले वैदिक साहित्य का और उसी के सिलसिले में संस्कृत साहित्य का सामान्य पर्यवेक्षण किया जा रहा है।

आदि से अन्त तक वैदिक साहित्य पर धर्म की छाप लगी हुई है। इसकी अन्तिम रचनाएँ भी धार्मिक दृष्टि से उत्पन्न हुई हैं। इसका परिचय हमें 'वेद' के अर्थ 'ज्ञान' से ही मिल जाता है। वेद का वाच्यार्थ 'ज्ञान' होते हुए भी, हम उसका प्रचलित अर्थ (आदि धर्म-ग्रंथ) ही ग्रहण करते हैं। जब हम यह कहते हैं कि अमुक व्यक्ति वेदपारंगत है तो समझ लेना चाहिए कि वह 'कर्मकांड' और 'ज्ञानकाड' से, जो वेद के मूल विषय हैं, अवगत है। वेदों में कर्मकांड और ज्ञानकाड का क्रमिक विकास संहिताओं से उपनिषदों तक फैला हुआ है। सहिता का मौलिक विषय ब्राह्मण और आरण्यक में होता हुआ उपनिषद् में अवसान को प्राप्त होता है। इस प्रकार संहिताओं में उत्पन्न हुआ कर्मकाड ब्राह्मणों में परिपुष्ट होकर आरण्यकों में ज्ञान की ओर बढ़ता हुआ उपनिषदों के ज्ञान में जा विलीन होता है, किन्तु वैदिक साहित्य के विषय का शैली से विशेष संबंध रहा है।

पाश्चात्य पंडितों[1] ने वैदिक साहित्य की तीन सीढ़ियाँ मानी हैं जिनका अंतर स्पष्ट है। पहली सृजनात्मक और पद्यात्मक सीढ़ी चारों सहिताओं से निर्मित है। "मंत्रों के समुदाय को संहिता कहते हैं और किसी देवता विशेष की स्तुति में प्रयुक्त होने वाले अर्थ-स्मारक वाक्य को मंत्र कहते हैं"[2]। ये मंत्र या तो ऋक्[3] (verses) के रूप में हैं, या सामन[4] (chants) के रूप में हैं, या यजुष् (sacrificial sentences) के रूप में हैं। ऋग्वेद सहिता में १०१७ सूक्त और १०५८० ऋचाएँ हैं जो अनेक देवताओं की स्तुति के लिए अभिप्रेत हैं। मंत्रों को दस भागों में संग्रहीत किया गया है, उनमें से प्रत्येक को मंडल कहते हैं।

संहिता

ऐतिहासिक दृष्टि से सामवेद संहिता का अधिक मूल्य नहीं है, क्योंकि इसके १५४६ पदों (stanzas) में से, ७५ को छोड़ कर, सबके सब ऋग्वेद के अंतर्गत हैं। इसके पदो को उपयुक्त गेय रूप 'गान' नाम के गीति-ग्रंथों (song books) में मिला है, जो गायन के लिए अनिवार्य ध्वनियों (syllables) के उतार-चढ़ाव, उनकी आवृत्ति और वृद्धि का संकेत देते हैं।

१—इम्पी० ग० आफ इंडिया, II, पृ० २०६

२—बलदेव उपा०, भा० द०, पृ० ४६।

३—'पाद से युक्त छन्दोबद्ध मंत्र' देखिये, बलदेव उपा०, भा० द०, पृ० ५०

४—'ऋचाओं का गायन वही " "

मूल यजुर्वेद को उसकी चार प्रमुख शाखाओं ने कुल छै पुनः पाठों में सुरक्षित कर रक्खा है। शुक्ल यजुर्वेद के अनुयायी 'वाजसनेय' कहलाते हैं। उनके मिलते-जुलते दो पुनः पाठ (recensions) हैं, जिनमें केवल यजुः संग्रह है। यजुर्वेद की व्याख्यात्मक सामग्री ब्राह्मण में एकत्रित की गई है। शेष तीन शाखाएँ कृष्ण यजुर्वेद की हैं। कृष्ण यजुर्वेद में ऋचाओं और नियमों (formulas) के साथ-साथ विवरणात्मक सामग्री भी मिलती है। इसके चारों पुनः पाठों में निकट सामुदायिक संबन्ध और अधिकांशतः मौखिक साम्य (verbal agreement) मिलता है। कृष्ण यजुर्वेद की तीन संहिताएँ (मैत्रायणीय, काठक, और तैत्तिरीय) हैं। काठक संहिता के अनुयायिओं की, कठ शाखा के अतिरिक्त, एक दूसरी उपशाखा कपिष्ठल है। शुक्ल यजुर्वेद की एक काण्व शाखा और मिलती है। इस प्रकार यजुर्वेद की आज कुल छै शाखाएँ उपलब्ध हैं।

यजुर्वेद का संग्रह सामवेद की तरह, धर्माचार के किसी अंग विशेष के लिए न होकर पूर्ण यज्ञाचार के लिए है। इसके मूल का चतुर्थांश ऋग्वेद से मिलता है। इसका मूलार्ध गद्य में है। उसमें सिद्धान्तों का निरूपण है। यह गद्यांश और पद्यांश का लगभग आधा भाग मौलिक है। देवोपाख्यान कुछ परिवर्तनों के सिवा, बहुधा वही हैं जो ऋग्वेद में हैं। यहाँ प्रजापति को प्राधान्य मिलने से उन्हें देवप्रमुख माना गया है। रुद्र शिव का रूप ग्रहण करने लगे हैं और विष्णु की मान्यता कुछ बढ़ गई है। विशेष अंतर आस्था में दीख पड़ता है। भारतीय धर्म में सर्पपूजा का प्रथम बीजारोपण यहीं होता है, परन्तु यजुर्वेद पर नवयुग की छाप उसमें यज्ञ के महत्व के कारण लगी है। ऋग्वेद यज्ञ का अभिप्राय देवों को होता की ओर झुकाने का था, किन्तु यजुर्वेद वह न केवल चिंता (thought) और अभिलाषा (desire) क ी केन्द्र बन गया है, प्रत्युत उसकी शक्ति इतनी बढ़ गई है कि वह देवों का पुरोहित की इच्छा का अनुपालन करने पर विवश कर देता है। यहाँ हुआ व्यवस्थित रूप मिलने के साथ-साथ मिश्र रूप भी, जो अनन्तर ब देखा जाता है, मिलने लगा है।

मौलिक रूप में ऋक्, साम और यजुः, इन तीन वेदों की ह न्यता है। इसी से इन्हें वेदत्रयी कहा जाता है, क्योंकि केवल ये तीन यज्ञानुष्ठान से संबंधित हैं। जिस अनुष्ठान से अथर्ववेद के मंत्रों का व्यावहारिक संबंध है, वह कुछ भिन्न प्रकार का है और उसमें जन्म मरण आदि से सम्बन्ध रखने वाले संस्कार या राजकीय प्रथायें, यथा - राज्यारोहण आदि, सम्मिलित हैं। अथर्ववेद का विषय प्रधानतः शान्तिकपौष्टिक है जिसका लक्ष्य उत्पात की शान्ति

और राज्य की पुष्टि है। इसमें शुभ-अशुभ विश्वास की मात्रा और मोहन, वशीकरण आदि की चर्चा ऋग्वेद से कहीं अधिक मिलती है। यह उन्नत धार्मिक विचारों की अपेक्षा जनता की भावनाओं का ही अधिक प्रतिनिधित्व करता है। इसके देवविषयक उच्च धार्मिक विचार अधिक अर्वाचीन प्रतीत होते हैं। ईश्वरीय ज्ञान और देव-विश्वास की मात्रा इसमें सब वेदों से अधिक मिलती है। सभ्यता के ऐतिहासिक अनुसंधान के लिए सबसे अधिक रोचक सामग्री अथर्ववेद में ही मिलती है। इसके बीस भाग हैं जिनमें छै हजार मंत्रों का सग्रह है। अंतिम भाग के लगभग सम्पूर्ण मंत्र ऋग्वेद से मिलते हैं। संहिता का लगभग षष्ठांश गद्य में है।

ब्राह्मण

वैदिक साहित्य की दूसरी सीढ़ी (stage) पर ब्राह्मणों का स्थान है जिनमें यज्ञानुष्ठान का विस्तारपूर्वक वर्णन मिलता है। इनका प्रधान विषय ब्रह्मन् (बढ़ने वाला अर्थात् वितान, यज्ञ) होने के कारण इन्हें ब्राह्मण कहते हैं,[1] इन में यज्ञ के विस्तारों का विवेचन गद्य में किया गया है। "इनका वर्ण्य विषय विधि, अर्थवाद और वेदान्त, इन तीन प्रकरणों में विभक्त किया जा सकता है। १—विधि रूप में (in the form of precepts) ये धर्मानुष्ठान, यज्ञादि का आदेश, अनुष्ठान के समय और साधनों का निर्देश तथा उसकी रीति का वर्णन करते हैं। २—विधि-विधान की पुष्टि विमर्श (exegesis), तर्क (polemic) देवाख्यान (mythology), सिद्धान्त (dogma) आदिक से की गई है; इस काम को अर्थवाद कहते हैं। ३—विषय-प्रतिपादन में यत्र-तत्र दार्शनिक विचार भी उठ खड़े होते हैं जो बहुधा ब्राह्मणों के अंत में मिलते हैं, उन्हें वेदान्त का नाम दिया गया है।"[2]

वेदों का अंत होने के कारण उपनिषदों को ही वेदान्त कहा जाता है। [illegible]ह्मणों के पूरकों (appendices) के, जिन्हें आरण्यक कहते हैं, प्रमुख उन[illegible] हैं। आरण्यकों का अध्ययन अरण्य में अभिप्रेत होने के कारण के ध[illegible] नाम दिया गया था। अरण्यावास में करणीय वह अध्ययन ब्राह्मणों [illegible]र का ही प्रतिरूप था, जिसमें अनुष्ठान-रीति का सम्पूर्ण परित्याग नहीं था, [illegible] उसे यहाँ सीमित अवश्य कर दिया गया था। कुछ भी हो, यह तथ्य है कि [illegible]रण्यकों में हमें अनुष्ठान-प्रवृत्ति पर आरूढ़ आध्यात्मिकता का अधिकता से [illegible]त्कार होता है। धर्माचार के व्यावहारिक पक्ष का स्थान

१—देखिये, [illegible] उपा० : भा० द०, पृ० ४१।

२—एस० सी० सेन : दी मि० फि० आफ दी उप०

'ध्यान' ग्रहण कर लेता है। इसके साथ ही अर्थ में प्रतीकमूलक परिवर्तन भी हो जाता है, जो अनन्तर उच्चतम विचार की ओर ले जाता है।

"पीछे इन आरण्यकों के मान्यतम अंशों को उनसे पृथक् करके भिन्न भिन्न उपनिषदों के नाम से एकत्रित किया गया था"।[1] "सामान्यतः उपनिषदों को आरण्यकों का जो ब्राह्मणों के परिशिष्ट हैं, एक अंश माना जाता है, परन्तु इनमें धर्म की धारा का रंग बदल गया है। यहाँ चिन्तन जीवन के अशाश्वत सुखों की खोज से परे शाश्वत आनंद की सत्ता के अनुसंधान में प्रवृत्त हो गया है। इनमें ब्राह्मणों के चिन्तन-पक्ष का अनुक्रम मात्र होते हुए भी धर्म के नूतन पक्ष का उदय मिलता है, जिससे रीति या व्यवहार पक्ष का निराकरण होता है। इनका लक्ष्य इष्ट-साधना से इस लोक या देवलोक का सुख नहीं है, वरन् शुद्ध ज्ञान द्वारा संसार से मुक्त होकर विश्वात्मा में लीन होना है। इनका विषय उस विश्वात्मा का स्वभाव-निरूपण है जिसके लिए 'आत्मा' और 'ब्रह्म' दोनों शब्द एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। उपनिषदों तक आते-आते 'आत्मा, और 'ब्रह्म' शब्दों ने अपना पूर्वार्थ लगभग बिल्कुल छोड़ दिया है। 'आत्मा' का जो अर्थ ऋग्वेद में 'श्वास' (breath), ब्राह्मणों में 'जीव' (Self or Soul) है, वही उपनिषदों में 'विश्वात्मा' का द्योतन करता है। इसी प्रकार 'ब्रह्म' ऋग्वेद में 'पूजा' को कहते हैं, ब्राह्मणों में उसका अर्थ 'व्यापक पावनता' तक आ गया है, उसी का अर्थ उपनिषदों में 'प्रकृतिव्यापक शुद्ध तत्व' ग्रहण किया जाता है। उपनिषदों का मूल सिद्धान्त 'आत्मा और परमात्मा का ऐक्य' है जो 'तत्त्वमसि' वाक्य से प्रतिपन्न होता है। यहाँ पुनर्जन्मवाद उक्त सिद्धान्त की संगति में रक्खा गया है। पीछे दार्शनिक प्रणालीगत औपनिषदिक चिन्तना का नाम ही 'वेदांत दर्शन' पड़ा है।"[२]

सूत्र-ग्रंथ

"वैदिक साहित्य की अंतिम सीढ़ी सूत्र-साहित्य है जिसका संग्रह वेदों और शाखाओं के अनुसार हुआ है। सूत्रों का उद्देश्य ब्राह्मणों के प्रकरणों को, जिन पर वे आश्रित हैं, संक्षिप्त रूप से क्रमबद्ध करके व्यवहारोपयोगी बना देना है। संक्षेपमूलक उद्देश्य के कारण वे ऐसी शैली में लिखे गए हैं कि उनका बोध भाष्य के बिना अति दुष्कर है। इसी प्रकार की शैली का अनुकरण पश्चात् भारतीय दर्शन-साहित्य और व्याकरणों में हुआ दीख पड़ता है।"[३]

१—देखिये, ड्यूसेन : दी सिस्टम आफ वेदान्त, पृ० १०।

२—दी इम्पी० ग० आफ इंडिया, II, अध्याय ६।

३—ड्यूसेन : दी सिस्टम आफ वेदान्त; पृ० १२।

सूत्रग्रंथ ब्राह्मण का उसी प्रकार अनुयायी होता है जिस प्रकार ब्राह्मण संहिता का, परन्तु संहिता और ब्राह्मण ग्रंथों को अपौरुषेय एवं सूत्र ग्रंथों को पौरुषेय माना गया है।

सूत्र साहित्य को तीन वर्गों में बाँटा गया है। पहले वर्ग में वे सूत्र हैं जो श्रुतिश्रय हैं; उन्हें श्रौत सूत्र कहा जाता है। उनका संबंध ऐसे कर्मों से है जो आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि से साध्य माने जाते हैं। अन्य दो वर्ग सामान्य रीतियों से संबंध रखते हैं। उनमें से एक वर्ग में गृह्य सूत्र और दूसरे में धर्मसूत्र हैं। गृह्य सूत्र गृहस्थ के जन्म से मरण तक के संस्कारों से सम्बन्धित नियमों का निदर्शन करते हैं। इनके क्षेत्र में मागलिक और अमांगलिक दोनों प्रकार के गृह्यकर्म आ जाते हैं। धर्मसूत्रों का वर्ण्य विषय प्रथामूलक (pertaining to customs) है। कानून पर वे सबसे पहले के ग्रंथ हैं। उनमें धर्मपक्ष का पूर्णतः और लौकिक पक्ष का अंशतः अनुशीलन मिलता है। उनका संबंध प्रमुखतः ब्रह्मचारी और गृहस्थ के कर्त्तव्य, आत्मपरिशोधन, तप और निषिद्ध आहार से है। लौकिक पक्ष में वे विवाह, दायाद्य और अपराध से संबंध रखने वाले नियमों का भी विवेचन करते हैं।

सूत्र काल के कुछ और भी मान्य ग्रन्थ हैं जो पूर्वोक्त किसी वर्ग से सम्बन्धित नहीं हैं। प्रातिशाख्य सूत्र, यास्क का निरुक्त और पाणिनि के व्याकरण-सूत्र इन्हीं ग्रन्थों में गिने जा सकते हैं। प्रातिशाख्य अपनी-अपनी शाखा के व्याकरण हैं। निरुक्त में वैदिक ऋचाओं में आने वाले शब्दों के उद्‌गम और विकास का विवेचन है। पाणिनि के व्याकरण-सूत्र लौकिक और वैदिक दोनों भाषाओं पर लागू होते हैं; इनमें सब शाखाओं का और साथ ही लौकिक भाषा का व्याकरण है। पाणिनि के सूत्रों के सम्बन्ध में सबसे अधिक महत्व की बात यह है कि संस्कृत भाषा के नवयुग का पदार्पण इन्ही के उपरान्त होता है।

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि प्राचीन भारतीय साहित्य के वृक्ष का मूल वेदों में और शाखा-प्रशाखाएँ संस्कृत साहित्य में हैं: इसलिए जब हम हिन्दी पर संस्कृत के प्रभाव की खोज करते हैं तो वैदिक साहित्य को भूल नहीं सकते। निःसन्देह यह बात अनुमान में नहीं आ सकती कि कबीर और जायसी जैसे हिन्दी कवियों ने कभी वेदो का अध्ययन किया होगा, फिर भी इनके अनेक वाक्यों में सरासर उपनिषदों की छाया दीख रही है। वह कहाँ से आई? उसकी संभावना दो ओर से है: १—या तो उक्त कवियों ने उपनिषदों को भाषा में सुना हो, २—या उनके सिद्धान्त उन्हें मौखिक परंपरा

से मिले हों। दोनों ही दशा में प्रभाव का रूप शुद्ध नहीं माना जा सकता, क्योंकि श्रवण में वक्ता का व्यक्तित्व भी बड़े महत्व की वस्तु है। मूल में वक्ता की रुचि और शैली आ मिलने से श्रवण-प्रभाव का रूप शुद्ध नहीं रह सकता। इस दृष्टि से देखने पर हिन्दी के संबंध में प्रभाव के दो रूप सामने आते हैं: मौलिक और परंपरागत। मौलिक प्रभाव दो श्रेणियों में रक्खा जा सकता है: शुद्ध और मिश्र। मूल के विनियोग से जो प्रभाव हिन्दी तक आया है उसे मौलिक ही कहना चाहिए, पर शुद्ध कहलाने का अधिकारी अध्ययन-संभव प्रभाव ही होना चाहिए; मूल के श्रवण से निष्पन्न प्रभाव को तो मिश्र कहना ही समीचीन होगा। परंपरागत प्रभाव में परिवर्तन की सभावना अधिक मिलती है। हाँ, तुलसीदास और केशवदास जैसे विपश्चितों की रचनाओं पर शुद्ध मौलिक प्रभाव के संबन्ध में शका करने का विशेष कारण विद्यमान नहीं है, फिर भी यह कहने का साहस हो सकता है कि इस निबन्ध से सम्बन्ध रखने वाले हिन्दी के भक्त कवियों की रचनाओं पर उपनिषदों के अतिरिक्त शेष वैदिक साहित्य का मौलिक प्रभाव लगभग नहीं के बराबर है।

(ख)

संस्कृत साहित्य

"संस्कृत साहित्य विषय, प्रवृत्ति और रूप में वैदिक साहित्य से भिन्न है। वैदिक साहित्य धार्मिक है और संस्कृत साहित्य लौकिक। फिर भी संस्कृत साहित्य के पोषण का श्रेय वैदिक साहित्य को ही है। वेदों में जो बातें बीज-रूप में मिलती हैं वे ही संस्कृत साहित्य में विस्तार पूर्वक; और कहीं कहीं तो विस्तार-प्रवृत्ति ने अतिशयोक्ति का मान भी प्राप्त कर लिया है। ब्राह्मण और सूत्र ग्रंथों में मिलनेवाले गद्य-प्रयोग का प्राधान्य अब लगभग पूर्णतः व्याकरण और दर्शन ग्रंथों में ही देखने को मिलता है; साहित्यिक गद्य केवल कुछ कथाओं, आख्यायिकाओं और नाटकों में मिलता है, परन्तु लम्बे लम्बे समासों के कारण उनकी शैली अधिक रोचक प्रतीत नहीं होती। ब्राह्मणों के साहित्य के अलावा, उत्तर के बौद्धों और कभी कभी जैनों ने भी संस्कृत का प्रयोग किया था"।[1]

संस्कृत साहित्य की विवेचना में यहाँ हम आयुर्वेद, ज्योतिष् आदि उपयोगी विज्ञान सम्मिलित नहीं करेंगे, परन्तु शुद्ध साहित्य के साथ दर्शन का विवेचन अवश्य करना होगा, क्योंकि भारतीय साहित्य से दर्शन को अलग नहीं कर सकते। अतः हमारे अध्ययन-क्षेत्र में दर्शन, स्मृति, पुराण, तंत्र, महाकाव्य,

१—इम्पी० ग० आफ इंडिया, II, पृ० २३३-३४

गीतिकाव्य, नीति और शिक्षा और काव्य शास्त्र रहेंगे। सब से पहले हम दर्शन साहित्य की परीक्षा करते हैं।

दर्शन-साहित्य

भारतीय दर्शन की धाराओं का मूल स्रोत वैदिक साहित्य है। दर्शन हमारे जीवन में इतना घुल-मिल गया है कि इसे पृथक् नहीं किया जा सकता। ध्यानपूर्वक देखा जाय तो हमारी बात बात में दर्शन का दर्शन हो सकता है। दर्शन इसे इस लिए कहते हैं कि इसके द्वारा वस्तु का तात्विक स्वरूप देखा जाता है। हिन्दू ग्रन्थकारों ने भारतीय दर्शन को दो वर्गों में विभक्त किया है: आस्तिक और नास्तिक।

साधारण बोलचाल की भाषा में 'आस्तिक' ईश्वर की सत्ता माननेवाले को तथा 'नास्तिक' न माननेवाले को कहते हैं। यहाँ 'आस्तिक' से अभिप्राय वेद की प्रामाणिकता में विश्वास करने वाले से है। जो वेद की निन्दा करता है या उसका निषेध करता है वह नास्तिक है। इस दृष्टि से न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग मीमांसा तथा वेदान्त आस्तिक दर्शन हैं और चार्वाक, जैन तथा बौद्ध नास्तिक।

नास्तिक दर्शन

उपनिषद् के पीछे की शताब्दियों में अनेक अवैदिक मतवादों को जन्म मिला, जिनके कारण अक्रियावाद, यदृच्छावाद, नियतिवाद आदि अंकुरित हो उठे। अवैदिक दर्शनों में प्राचीनता की दृष्टि से चार्वाक दर्शन सर्वप्रथम माना जाता है। इस दर्शन का सबसे प्राचीन नाम 'लोकायत'[1] है। इसके अनुयायियों का लक्ष्य शुष्क तर्क से वैदिक पक्ष का खण्डन एवं निन्दा करना था। अपने तर्कों के सिवा ये लोग किसी शास्त्र का प्रमाण स्वीकार नहीं करते थे, पर धर्म-विदूषक होने के कारण बौद्ध और जैन धर्माचार्य भी इनके प्रति वैसी ही घृणा करने लगे जैसी ब्राह्मण करते थे। "ऐसे मतवादों को भारतभूमि से निकाल कर वैदिक धर्म की पुनः प्रतिष्ठा के लिए पञ्चमवेद महाभारत का निर्माण किया गया"[2] आसुरी सम्पद् के वर्णन के अवसर पर सोलहवें अध्याय में गीता[3] ने इन्हीं लोगों की प्रवृत्तियों की ओर संकेत किया है। रामायण[4] में भी रामचन्द्र ने भरत से इन लोकायतिकों की निन्दा की है। बौद्ध-धर्म[5] में इस लोकायत-शास्त्र

१—Directed to the world.

२—बलदेव उपा० : भा० द०, पृ० ११४

३—गीता १६ · ८, ११

४—वा० रा०, अयो०, कां०, १०० · ३८, ३९

५—देखिये, बलदेव उपा० : भा० द०, पृ० ११७

को सीखने या सिखाने का स्पष्टतः निषेध किया गया है। जैन धर्म इसे 'मिच्छा-दिट्ठि' (मिथ्यादृष्टि) का एक प्रकार मानता है।

जगत् को आश्रय-रहित और अनीश्वर मानने वाले, स्त्री-पुरुष के संयोग को मानवोत्पत्ति का कारण समझने वाले, तथा काम को परम पुरुषार्थ मानने वाले चार्वाकों के मत का ईश्वर की सत्ता और पुण्य-पाप के फल में विश्वास रखनेवाले हमारे भक्त हिन्दी-कवियों पर विधेयात्मक (समर्थनमूलक) प्रभाव भी पड़ा होगा, ऐसी तो हम कल्पना भी नही कर सकते; हाँ, ऐसे मतवादियों की उन्होंने निन्दा की है, उनकी रचनाओं में इसके अनेक प्रमाण हैं; पर उन पर यह चार्वाकों का निषेधात्मक (विरोधमूलक) प्रभाव है, इसमें सन्देह है। ऐसे मतवादियों की निन्दा पुराणों और संस्कृत के अनेक वैष्णव ग्रंथों में भी मिलती है; इसलिए यह कह देना कि हिन्दी के भक्त कवियों ने उन्ही के स्वर का अनुकरण किया है, कदाचित अनुचित न होगा।

जैन और बौद्ध दर्शनों से हिन्दू-धर्म का निकट सम्बन्ध है। ये दोनों ही आर्य-धर्म हैं। ब्राह्मण धर्म से इनकी मौलिक भिन्नता यह है कि ये वेदों को प्रमाण नही मानते, यद्यपि इनकी अनेक बातें वेद-सम्मत हैं। इसमें सन्देह नही कि पापपुण्य से ग्रथित पुनर्जन्मवाद को जैन और बौद्ध धर्मों में विशेष समर्थन मिला है, परन्तु शीलाचार पर भी जितना जोर इन दोनों धर्मों ने दिया है, उतना अन्यत्र अप्राप्य है। पाप और पुण्य से निर्मित होने वाले बन्धन, और उससे मोक्ष पाने के साधन का हमारे हिन्दी-कवियों ने समानरूप से विवेचन किया है, और शीलाचार के महत्व को सबने एकमत से स्वीकार किया है। यहाँ समस्या यह है कि इन लोगों पर यह प्रभाव कहाँ से आया? हिन्दू धर्म से या जैन और बौद्ध धर्म से? इस प्रभाव का अनुमान दोनों ओर से किया जा सकता है, क्योंकि हिन्दू धर्म में भी इस प्रभाव के डालने के लिए पर्याप्त शक्ति है; और हिन्दुओं का भागवत धर्म तो उपर्युक्त शीलाचार आदि के लिए बहुत ही प्रसिद्ध हो चुका है। भागवत धर्मावलम्बी सगुण कवियों (तुलसीदास, सूरदास आदि) के ऊपर इस प्रभाव के सम्बन्ध में सन्देह की कोई बात ही नही है; पर रामानन्द के सम्पर्क से कबीर और उनके अनुयायियों पर भी उसकी छाप का दर्शन हो रहा है; किन्तु कबीर-पंथ के शून्य का रूप कभी-कभी माध्यमिकों (बौद्धों का एक सम्प्रदाय) के शून्य से मिलता देखकर उस पर बौद्धों के शीलाचार के प्रभाव की कल्पना भी नितान्त निर्मूल न होगी। हो सकता है कि कबीर और उनके मत पर यह प्रभाव किसी तत्कालीन योगप्रधान बौद्ध सम्प्रदाय से आया हो। शीलाचार के मूल्य का उचित अंकन तो ईसाई और इस्लाम धर्मों ने भी किया है। इस आधार पर सूफियों के शीलाचार को

इस्लाम का प्रभाव ही मान लें तो उचित होगा, पर हिन्दू-पंडितों के संसर्ग का प्रभाव भी असंभव नहीं है।

भक्तिकालीन हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव को दृष्टि में रखते हुए आस्तिक दर्शनों में प्रथम स्थान वेदान्त को, द्वितीय योग को और तृतीय सांख्य को दिया जा सकता है। न्याय का प्रभाव तो कहीं कहीं ही देखने को मिलता है। वैशेषिक और मीमांसा दर्शन का स्पष्ट प्रभाव देखने में नहीं आता।

आस्तिक दर्शन

"अनेक संस्कृत ग्रंथों में से, जिन पर सांख्य का प्रभाव अधिक दीखता है, मानव-धर्मशास्त्र, महाभारत और पुराण प्रमुख[1] हैं।" हिन्दी में सांख्य की छाया इन्हीं ग्रन्थों द्वारा आई प्रतीत होती है। इसका सबसे अधिक श्रेय भागवत पुराण को मिलना चाहिये क्योंकि भक्ति-सम्प्रदाय में इसकी कथावार्ता अधिक प्रचलित रहती चली आई है। कृष्ण-भक्ति-शाखा की हिन्दी-रचनाओं में से सूरसागर पर साख्य के छींटे अधिकतर मिलते हैं। सांख्य-प्रभाव के लक्षण संतकाव्य में भी दीख पड़ते हैं, परन्तु उनका स्रोत 'योग-दर्शन भी हो सकता है, जो 'सेश्वर साख्य' कहलाता है। सांख्य का 'त्रिगुण सिद्धान्त' समस्त संस्कृत और हिन्दी-साहित्य का सामान्य धन[2] है।

योग का प्रधान लक्ष्य मनोनिग्रह है। अनेक उपनिषदों[3] ने योग की विवेचना अपने आपने ढंग से की है। "उपनिषत्-साहित्य में २१ उपनिषद् ऐसे हैं जिनमें योग का सर्वांगीण विवेचन है[4]।" उनमें योग के समस्त आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, मुद्रा, नादानुसंधान आदि विषयों का विस्तीर्ण तात्विक निरूपण है। अनेक तंत्रों और पुराणों में योग का प्रकरण आता है। योग-विवेचना होने के कारण श्रीमद्भगवद्गीता को तो कभी-कभी 'योगशास्त्र' ही कह दिया जाता है, परन्तु 'योग-सूत्र' दार्शनिक प्रणाली का सबसे अधिक प्राचीन ग्रंथ है। काल-क्रम से योग-पद्धति का बहुत अधिक विकास हुआ। गोरक्षपद्धति, हठयोगप्रदीपिका और शिवसंहिता में उसका अर्वाचीन रूप ही देखने में आता है। इन ग्रन्थों में वर्णित योग ही हठयोग के नाम से प्रसिद्ध है, परन्तु "गोरक्षनाथ आदि नाथपंथी सिद्धों की योग-प्रक्रिया उपनिषन्मूलक है, बौद्धतन्त्रमूलक[5] नहीं।"

१—इम्पी० ग० आफ इंडिया, II, पृ० २५७
२— ,, वही, पृ० २५७
३—देखिये बलदेव उपा० : भा० द०, पृ० ३४८
४— ,, वही, पृ० ३४८
५— ,, वही, पृ० ३४९

ऊपर बताया जा चुका है कि योग का लक्ष्य मनोनिग्रह है और उपासना में मनोनिग्रह की बड़ी भारी आवश्यकता है; अतः उपासना का योग से घनिष्ठ सबंध रहा है। यही कारण है कि हम हिन्दी के भक्ति-साहित्य में योग को फैला हुआ पाते हैं। सन्त और सूफी काव्य पर तो योग-प्रभाव प्रत्यक्ष है ही, पर सूर आदि भी इससे मुक्त नहीं हैं। योग के दो रूपों में से सगुण कवियों ने प्रायः मानसिक योग का ही पक्ष ग्रहण किया है। कायिक योग के सम्बन्ध में तुलसीदास मौन हैं और सूर आदि भी उसे विशेष महत्व नहीं देते, क्योंकि 'भ्रमरगीत' में योग के कायिक साधनों का सरासर खण्डन है।

हिन्दी के भक्ति-काव्य पर विस्तीर्ण और गंभीरतम प्रभाव वेदान्त दर्शन का है। उपनिषद् और वेदान्त में कोई अन्तर नहीं है। वेदान्त दर्शन उपनिषदों के सिद्धान्तों का एक क्रमबद्ध संग्रह है। बादरायण का 'ब्रह्मसूत्र' ही वेदान्त के सिद्धान्तों का प्रतिनिधित्व करता है। सूत्र-शैली में होने के कारण 'ब्रह्मसूत्र' का अवगमन अति कठिन है। विद्वानों ने अपने-अपने मत के अनुसार इसका भाष्य लिखा है और प्रत्येक भाष्य ने वेदान्त के अन्तर्गत किसी न किसी 'वाद' विशेष को जन्म अवश्य दिया है। उन अनेक वादों में से तीन अधिक विख्यात हैं, क्योंकि शेष का उदय उन्हीं में कुछ परिवर्तन करने से हो गया है। उन तीन में से पहिले का नाम अद्वैतवाद (The School of pure monism) है। इसके प्रचारक शंकराचार्य थे। दूसरा रामानुज का विशिष्टाद्वैतवाद (qualified monism) है और तीसरा मध्व का द्वैतवाद (Dualism) है। इन मतों के परस्पर भेद के मूल बिन्दु निम्न लिखित हैं :—

क—जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध

ख—सृष्टि, या ब्रह्म और जगत् का सम्बन्ध

ग—मोक्ष

(क)—जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध धर्म-चिन्तना की सबसे बड़ी समस्या है, क्योंकि योग, मोक्ष आदि की समस्या का हल इसी समस्या के हल पर निर्भर है। भिन्न-भिन्न मतों ने इस समस्या का जिस प्रकार हल निकाला है उसी प्रकार उनको नाम मिला है। शंकरमत अद्वैत इसलिए कहलाता है कि वह ब्रह्म और आत्मा की अनन्यता और उनकी भिन्नता के व्यावहारिक (phenomenal) एवं अनित्य रूप का प्रतिपादन करता है। और रामानुज मत का नाम विशिष्टाद्वैत इसलिए पड़ा है कि उसमें आत्मा और ब्रह्म की मूल अनन्यता के साथ-साथ नित्य विशिष्टता का प्रचार है। मध्व के मतानुसार जीव और ईश्वर में मौलिक भिन्नता है। दोनों पक्षों का समर्थन होने के कारण उनके मत को द्वैत कहा जाता है।

(ख)—सृष्टि के संबंध में द्वैतवाद और विशिष्टाद्वैतवाद दोनों सहमत हैं कि जगत् ब्रह्म का परिणाम है, किन्तु अद्वैतवाद विवर्तवाद का पक्षपाती है।

(ग)—उपनिषदों के अनुसार मोक्ष की तीन श्रेणियाँ सालोक्य, सार्ष्टित्व, और सायुज्य[1] हैं। निर्वाण इसके बाद की दशा है। इसमें आत्मा और ब्रह्म की अनन्यता सिद्ध होती[2] है। मध्व का द्वैतमत केवल सालोक्य एवं सायुज्य को ही स्वीकार करता है। सारूप्य उसे मान्य नहीं है। विशिष्टाद्वैत मत कुछ और आगे बढ़ा हुआ है। उसने 'सरूपता' को भी मुक्ति की श्रेणियों में सम्मिलित कर लिया[3] है।

अद्वैतमत में मुक्ति के दो भिन्न रूप माने जाते हैं। क्रममुक्ति (gradual liberation) और निर्वाण (absolute liberation)। क्रममुक्ति के अन्तर्गत मुक्ति की उपर्युक्त तीनों श्रेणियाँ सम्मिलित कर ली जाती हैं, किन्तु आध्यात्मिक जीवन का चरम (सर्वोच्च) शिखर निर्वाण है। अद्वैतमत का यह सिद्धान्त औपनिषदिक सिद्धान्त के अनुरूप[4] है।

शंकर के मायावाद मे भक्ति-स्थिति अनिश्चित थी, परन्तु रामानुज ने उसके लिए ठोस भूमि का निर्माण किया। रामानुज और शंकर के मत में भारी अन्तर है। रामानुज जीव और ईश्वर का अभेद स्वीकार नहीं करते। जीव 'दुःखत्रय' से पीड़ित है, फिर ब्रह्म के साथ उसकी अभिन्नता कैसे मानी जा सकती है ? रामानुज के अनुसार जीव ब्रह्म का उसी प्रकार अंश है जिस प्रकार स्फुलिंग अग्नि का। "अतः जीव ब्रह्म में अंशांशीभाव या विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध[5] है।" रामानुज के मत में भक्ति (love of god) मोक्ष-साधन है, ज्ञान नहीं। यहाँ शंकरमत के विरुद्ध जगत् की सत्ता को भी स्वीकार किया गया है। चित् (जीव), अचित् (जड़ जगत्) तथा पुरुषोत्तम, ये तीनों ही सत्य हैं। अनेक जीव और जगत् ईश्वर का शरीर हैं और वह उस शरीर की आत्मा है। इस प्रकार जीव और जगत् ईश्वर के विशेषण हैं।

भारतीय साहित्य पर वेदान्त का गहरा प्रभाव पड़ा है। संस्कृत-साहित्य पर तो उसका अमित ऋण है ही, हिन्दी साहित्य भी उसका परम ऋणी है। जिन अनेक मतों की हिन्दी के भक्ति-काव्य पर छाप लगी हुई है, उनका मूल

१—छां० उप० २. २०. २

२—मुं० उप०, ३. २.८

३—एस, सी, सेन दी मि० फि० आफ दी उप०, पृ० ७६

४— ,, वही, पृ० ७६

५—बलदेव उपा०: भा० द०, पृ ४७१

कारण भी वेदान्त ही है। सन्त और सूफी काव्य में अद्वैत का स्पष्टतः प्रतिपादन किया गया है, किन्तु सगुण-भक्ति-धारा पर अद्वैत के साथ साथ विशिष्टाद्वैत और शुद्धाद्वैत की छाया भी कहीं कहीं पड़ी मिलती है। भक्ति के सिद्धान्तों के विचार से तुलसीदास विशिष्टाद्वैत और सूरदास तथा उनके वर्ग के कवि शुद्धाद्वैत, की ओर झुके हुए दीख पड़ते हैं।

स्मृतिसाहित्य

इस साहित्य का सम्बन्ध प्रथाओं से है। इसमें वे रचनाएँ हैं जो महापुरुषों ने श्रुति-शिक्षा के स्पष्टीकरण के लिए की थीं। स्मृति-ग्रंथों में मनुष्य के लौकिक और आध्यात्मिक कल्याण से सम्बन्धित अनेक विषय हैं। यद्यपि स्मृतियाँ श्रुति-शिक्षा का प्रकाशन करती हैं, उनका स्थान श्रुतियों से नीचा है; क्योंकि उनके लिए श्रुतियाँ प्रमाण हैं। भारतीयों के वर्णाश्रम-धर्म की व्यवस्था करने में उनका बहुत बड़ा हाथ रहा है।

सामान्यतया धर्म-सूत्रों की शिक्षाएँ भी स्मृति-शिक्षाओं के अनुरूप थीं, परन्तु स्मृतियाँ छन्दोबद्ध, और विषय-क्षेत्र की दृष्टि से अधिक विकसित और सम्पन्न हैं। अठारह स्मृतियों में से अधिक प्राचीन और मान्य मनुस्मृति या मानव धर्म-शास्त्र है। यह इतनी लोकप्रिय है कि धर्म और आचरण के संबंध में हिन्दू जनता इसमें से प्रमाण देती है। इसमें २६८४ श्लोक हैं, जिनमें से अधिकांश महाभारत में भी मिलते हैं। प्रभाव की दृष्टि से दूसरा स्थान याज्ञवल्क्य स्मृति का है। इसमें १००६ श्लोक हैं। हिन्दू 'लौ' पर तीसरा बड़ा ग्रंथ है 'नारद स्मृति'। यह पूर्वोक्त दोनों ग्रंथों की अपेक्षा अधिक बड़ी है। इसमें १२००० श्लोक हैं। अधिकांशतः इसका आधार मानव धर्म-शास्त्र है। शेष स्मृतियों का इतना महत्व नहीं है।

स्मृतियों पर अनेक टीकाएँ लिखी गई हैं, उनमें से मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति की टीकाएँ बड़े महत्व की समझी जाती हैं। हिन्दू 'लौ' की तीसरी सीढ़ी 'धर्म-निबन्धों' की है। उनमें विशेष उल्लेखनीय 'चतुवर्ग चिन्तामणि', 'धर्मरत्न' और 'दाय-भाग' (Inheritance)[1] हैं।

वर्णाश्रम-धर्म में विश्वास रखने वाले जिन हिन्दी कवियों की रचनाओं पर स्मृति-प्रभाव की संभावना हो सकती है, उनमे तुलसीदास और केशवदास का नाम प्रमुख है, परन्तु स्मृति-सम्मान-रक्षा का सबसे अधिक श्रेय तुलसी-दास को मिलना चाहिए। रहीम भी इस प्रभाव से वंचित नहीं दीखते। नीति-विषयक कुछ सामग्री उन्होंने स्मृति-साहित्य से भी ली है। कृष्णाश्रयी

१—इम्पी० ग० आफ इंडिया, II, पृ० २६२

शाखा के भक्त कवियों पर भागवत के सामने अन्य ग्रंथों का प्रभाव स्पष्ट नहीं है। सूफी-कवि मुसलमान थे, इसलिए उनके विचारों में हिन्दू-वर्णाश्रम-धर्म की साधना के लिए कोई अवकाश न था। सूफी-विचार-धारा में हिन्दू संस्कृति का स्पष्ट प्रतिबिंब केवल वेदान्त और योग के संबन्ध में मिलता है। संत कवि (कबीर और उनके अनुयायी) धर्म-सुधारक थे। वे अपनी वाणियों द्वारा धर्मों के पारस्परिक विरोध का बहिष्कार करना चाहते थे, इसलिए उनकी वाणियों में कोई ऐसी बात नहीं है जो धर्मसमन्वय के सिद्धात पर आधारित न हो। संत लोग जाति-पाँति को ढकोसला समझते थे; उनके मत में हरि-भजनियों की एक जाति थी। आश्रम-धर्म के प्रति भी उन्होंने कहीं अपना आग्रह व्यक्त नहीं किया। राजनीति से भी वे अलग रहे। ज्ञान की प्यास बुझाने के लिए उनके पास अन्य साधन थे, फिर ज्ञानी, भक्त, और सुधारक संतों के लिए स्मृतियों में क्या आकर्षण था?

पौराणिक साहित्य

पुराण का अर्थ इतिहास है। प्राचीन आख्यान का भी इसी अर्थ में प्रयोग होता है। पुराण स्वभावतः शिक्षामूलक और उद्देश्यतः साम्प्रदायिक हैं। इनमें प्राचीन कथाएँ हैं, जिनका उद्देश्य ब्रह्मा, विष्णु, और शिव की उपासना की प्रशंसा है। इनके अनेक प्रकरण एक से हैं। भागवत में पुराणों के दस लक्षण बतलाए गए हैं: "सर्ग, विसर्ग, वृत्ति; रक्षा, मन्वतर, वंश, वंशानुचरित, संस्था (प्रलय), हेतु (ऊति) और अपाश्रय।" कोई कोई आचार्य पुराणों के पांच ही लक्षण मानते हैं। दोनों ही बाते ठीक हैं क्योंकि महापुराणों में दस लक्षण होते हैं और छोटे पुराणों में पाँच। विस्तार करके दस बतलाए जाते हैं और संक्षेप करके पाँच[1]। ऐसे लक्षणों से युक्त छोटे बड़े अठारह पुराण[2] हैं। उनके नाम ये हैं: ब्रह्म पुराण, पद्म पुराण, विष्णु पुराण, शिव पुराण, लिंग पुराण, गरुड़ पुराण, नारद पुराण, भागवत पुराण, अग्नि पुराण, स्कन्द पुराण, भविष्य पुराण, ब्रह्मवैवर्त पुराण, मार्कंडेय पुराण, वामन पुराण, वराह पुराण, मत्स्य पुराण, कूर्म पुराण और ब्रह्मांड पुराण।

कुछ विद्वान् महाभारत की गणना भी पुराणों में ही करते हैं। इसमें अठारह पर्व हैं। हरिवंश पुराण इसका परिशिष्ट है। इसमें मूलतः कौरव-पांडवों के अठारह दिन तक रहने वाले महायुद्ध का वर्णन है। युद्धोपाख्यान के भीतर सृष्टि-उत्पत्ति का वर्णन और कर्तव्यविषयक तर्क-वितर्क सम्मिलित है। ग्रन्थ के लगभग पाँचवें भाग में आधिकारिक कथा और शेष में प्रासंगिक कथाएँ

१—भागवत १२. ७. ८-९

२—भागवत १२. ७. २२-२४

हैं जिनमें मुख्य शकुन्तलोपाख्यान, मत्स्योपाख्यान, रामकथा, ऋष्यशृंगकथा, उशीनरोपाख्यान, सावित्र्योपाख्यान, तथा नलोपाख्यान हैं।

ऐतिहासिक दृष्टि से महाभारत बहुत प्राचीन और मान्य है। कुछ विपश्चित तो इसे अन्य पुराणों का किसी अंश तक कारण भी मानते हैं, परन्तु भक्ति-क्षेत्र में भागवत ही का अधिक सम्मान रहा है। इस महापुराण में श्रीहरि की लीला-कथाएँ हैं जिनके निर्माण का प्रयोजन मोक्ष है। यहाँ भक्ति के मधुर रस में मिलकर उपनिषदों के सिद्धान्त भी अति मधुर बन गये हैं। इस ग्रंथ की सबसे बड़ी विलक्षणता यह है कि इसका नैष्कर्म्य अर्थात् कर्मों की आत्यन्तिक निवृत्ति भी ज्ञान, वैराग्य एवं भक्ति से युक्त[1] है।

हिन्दी-भक्ति काव्य पर सबसे अधिक प्रभाव भागवत पुराण का है। वल्लभ-सम्प्रदाय का तो यह मान्य ग्रन्थ है ही, पर अन्य भक्त कवियों पर भी इसकी बहुत गहरी छाया पड़ी है। अनेक भावों और वर्णनों के अतिरिक्त तुलसीदास ने तो इसके अनेक उपाख्यानों का उपयोग भी किया है। भागवत के भक्तों की मान्यता संतों ने भी स्वीकार की है जिससे उन पर भागवत के प्रभाव का अनुमान हो सकता है। भागवत की नवधा भक्ति को केशवदास ने भी माना है। हाँ, सूफियों पर भागवत के अतिविरल छींटे दीखते हैं।

प्रभाव की दृष्टि से दूसरा स्थान महाभारत का है, परन्तु भक्तकवियों ने इससे कथाएँ लगभग बिल्कुल नहीं ली है। इसी के अन्तर्गत श्रीमद्‌भगवद्‌गीता है जिसका प्रभाव व्यापक है। मेरी समझ में इसके प्रभाव से कोई भक्त मुक्त न होगा।

भक्ति-काव्य को प्रभावित करने मे अन्य पुराणों को विशेष गौरव नहीं मिल सका है, परन्तु रामचरितमानस के सम्बन्ध मे विशेषरूप से शिव पुराण और सूरसागर के सम्बन्ध में ब्रह्मवैवर्तपुराण को अवश्य याद रखना होगा।

तांत्रिक साहित्य

पुराणों से बहुत कुछ मिलता-जुलता साम्प्रदायिक ग्रन्थों का एक और वर्ग जो, यन्त्रमन्त्रादिसमन्वित एक विशिष्ट साधनमार्ग का उपदेश देता है,[2] 'तंत्र' नाम से प्रसिद्ध है। तंत्रो को आगम भी कहते हैं। "आगम वह शास्त्र है जिसके द्वारा भोग और मोक्ष के उपाय बुद्धि में आते हैं। यह व्युत्पत्ति आगम और निगम के भेद को बतला रही है। कर्म, उपासना और ज्ञान के स्वरूप को निगम (वेद) बतलाता है तथा इनके साधनभूत उपायों को आगम सिखलाता है[3]।"

१—भागवत १२. १३. १७

२—बलदेव उपा० : भारतीय दर्शन पृ० ५११

३—बलदेव उपा० : वही, पृ० ५११

"तंत्रों के तीन प्रधान विभाग हैं: ब्राह्मणतंत्र, बौद्धतत्र और जैनतंत्र। उपास्य देवता की भिन्नता के कारण ब्राह्मणतंत्र भी तीन प्रकार के हैं : १. वैष्णवागम २. शैवागम और ३. शाक्तागम, जिनमें क्रमशः विष्णु, शिव तथा शक्ति की परा देवता रूप से उपासना विहित[1] है।" तंत्रों में परमतत्व मातृरूप से स्वीकार किया गया है । लगभग सभी तंत्रो में शक्ति-पूजा का विधान है। इनके तीन वर्ग हैं: १ विष्णुक्रान्ता, २ रथक्रान्ता और ३ अश्वक्रान्ता।

"तांत्रिक आचार एक नितान्त रहस्यपूर्ण व्यापार है। दीक्षा ग्रहण करने के समय शिष्य को गुरु द्वारा इसका रहस्य समझाया जाता है। वैदिकी तथा तान्त्रिकी पूजा में अन्तर यह है कि जहाँ वैदिक पूजापद्धति सर्वसाधारण के उपयोग के लिए है, वहाँ तान्त्रिकी पूजा केवल चुने हुए कतिपय अधिकारी व्यक्तियों के लिए ही है; अतः वह सर्वथा गोप्य रक्खी जाती है।[2]"

हिन्दी के भक्ति-काव्य पर तंत्रों का व्यापक प्रभाव है। सगुण-भक्ति-काव्य पर वैष्णव तंत्रों का और निर्गुण-काव्य धारा पर शाक्त तंत्रों का प्रभाव दीख पड़ता है। हमारी समझ में वल्लभ सम्प्रदाय में कृष्ण की शक्ति के रूप में राधा की मान्यता का कारण वैष्णव तंत्रों का प्रभाव ही है। तुलसीदास के ग्रन्थो में जिस विधानात्मक आचार का विवरण है वह वैदिक ग्रंथों में निर्दिष्ट 'ज्ञान' का क्रियात्मक रूप एवं आगमों का मुख्य विषय है. परन्तु शाक्तों की निन्दा से संबध रखने वाली कबीर आदि की उक्तियों से कोई साधारण मनुष्य यह कभी विश्वास न कर सकेगा कि उन पर भी तंत्रों का 'अविरोधमूलक' प्रभाव होगा। शाक्तों की निन्दा में विरोधमूलक प्रभाव तो स्पष्ट ही है, परन्तु वह विरोध किसका ? वह विरोध है कौलमार्ग का। कौलाचार के विषय में अनेक धारणाएँ बनी हैं। अनेक लोगों का विश्वास है कि उसमें अनेक घृणित और कुत्सित विधि-विधानों को आश्रय दिया गया है। इस तिरस्कार के भाव का प्रधान कारण इस आचार का अपर्याप्त ज्ञान भी है। स्वयं "लक्ष्मीधर, समयमार्गी तान्त्रिक, ने कौलमार्ग की बड़ी निन्दा की है[3]। कौलों के दो मत हैं। पूर्व कौल तथा उत्तर कौल। "पूर्वकौल 'श्रीचक्र' के भीतर स्थित योनि की पूजा करते हैं; परन्तु उत्तरकौल साक्षात योनि के पूजक हैं तथा अन्य मकारों[4] का भी प्रत्यक्ष

१—बलदेव उपा० : भा० द०, पृ० ५२१
२— ,, वही, पृ० ५१४
३—बलदेव उपा०: वही, पृ० ५१७
४—(क) मद्य (सोम-सुधा) (ख) मैथुन (शिव-शक्ति-मिलन)
(ग) मांस (पापरूपी पशु को ज्ञान-खड्ग से मारकर मन को ब्रह्म में लीन करना मांसाहार है)।

प्रयोग करते हैं। सर्वसाधारण में तांत्रिक विधि-विधानों के निन्दनीय बन जाने का मुख्य कारण उत्तर कौलों का यही वामाचार है। संभव है कौलों के इस आचार पर बाहरी अनार्य, विशेषतः तिब्बती, तंत्रों का प्रभाव पड़ा हो[1]। कबीर इन्हीं वामाचारियों को 'साकत' कहते हैं। कदाचित् वे सब शाक्तों को शाक्त नहीं कहते, अन्यथा वे गोरक्षनाथ की भी निन्दा करते, क्योंकि नाथ-सम्प्रदाय का संबंध शाक्तमत से निःसन्दिग्धरूप से सिद्ध होता है। शाक्त-पूजा-पद्धति नितान्त गोपनीय एवं 'गुरुमुखैकगम्य' मानी जाती है, अतः शाक्त-तंत्रों के प्रभाव का अतिसंभव रूप परंपरागत ही हो सकता है। स्मरण रहे कि गोरक्षनाथ से प्राप्त कबीर आदि के हठयोग का रूप भी शाक्त है।

महाकाव्य

महाकाव्य का इतिहास वाल्मीकि रामायण से प्रारंभ होता है। आजकल उपलब्ध रामायण में सात कांड मिलते हैं, जिनमें २४ सहस्र श्लोक हैं। कुछ कोविदों का कहना है कि मूल में प्रथम और अन्तिम काण्ड नहीं थे। वे क्षेपक हैं। मूल की कथा का प्रारंभ कैकेयी की कुचेष्टाओं से राम के वनगमन के साथ होता है और राम के अयोध्या लौट आने और भरत की सहायता से कीर्तिपूर्वक राज काज चलाने के साथ-साथ अन्त होता है। भरत के अयोध्या लौट आने तक की कथा में ऐतिहासिक परंपरा का आधार है; परन्तु द्वितीय भाग इससे भिन्न है, क्योंकि उसका आधार देवोपाख्यान-प्रधान है और कथानक अनेक अद्भुत एवं अलौकिक घटनाओं से पूर्ण है। मूल में क्षेपक (प्रथम और अंतिम काण्ड) के योग से राम विष्णु के अवतार का पद प्राप्त कर लेते हैं।

महाभारत की तरह रामायण ने भी अनेक संस्कृत काव्यों और नाटकों को जन्म दिया है, किन्तु उनके अलावा कुछ महाकाव्यों की सर्जना अन्य स्रोतों से भी हुई है; अतः आधार के विचार से संस्कृत महाकाव्यों के चार वर्ग दीख पड़ते हैं: महाभारतवर्ग, रामायणवर्ग, मिश्रवर्ग और अवैदिक वर्ग। मिश्रवर्ग का क्षेत्र बहुत सीमित रहा है। इस वर्ग के ग्रन्थों में 'राघव पाण्डवीय' और 'राघव-नैषधीय' प्रमुख हैं, अवैदिक वर्ग के प्रख्यात ग्रन्थ बुद्धचरित, सौन्दरानन्द और यशोधराचरित हैं, परन्तु कतिपय कारणों से शास्त्रीय कसौटी पर ये ग्रन्थ महाकाव्य नहीं उतर पाते। महाभारत वर्ग के प्रमुख महाकाव्यों में किरातार्जुनीय, शिशुपालवध, नैषधचरित और नलोदय उल्लेखनीय हैं। रघुवंश महाकाव्य और

(घ) मत्स्य (इडा-पिंगला में प्रवाहित श्वास-प्रश्वास)।
(ङ) मुद्रा (असत् संग का त्याग)

१—बलदेव उपा०. भा० द०, पृ० ५१६

रावणवध की ख्याति रामायण वर्ग में अधिक है। अन्य पुराणों पर आश्रित संस्कृत-महाकाव्यों की, जो रामायण और महाभारत वर्ग में नहीं आते, संख्या बिल्कुल नहीं के बराबर है। कुमारसंभव (जिसकी प्रेरणा कालिदास को शिव-पुराण से मिली है) जैसा दूसरा उदाहरण कदाचित् ही मिल सकेगा।

उपर्युक्त महाकाव्यों में से थोड़ों का प्रभाव भक्तिकाल की इनी-गिनी रचनाओं पर दीख पड़ता है। उनके प्रभाव को व्यक्त करनेवाली रचनाएँ तुलसीदास और केशवदास की हैं। रामचरित मानस और केशव रामचन्द्रिका का कथासूत्र प्रायः वाल्मीकि रामायण की कथा से प्रभावित है। दोनों ग्रन्थों के बहुत थोड़े स्थलों पर रघुवंश का प्रभाव है। पार्वतीमंगल पर कुमारसंभव की छाया है। कवितावली और गीतावली के भग्न कथासूत्रों में वाल्मीकि रामायण के उपकरण प्रयुक्त हुए हैं। विनयपत्रिका की अनेक वर्णनात्मक स्तुतियों में भी रामायण की कथा का प्रतिबिंब है। बरवै रामायण में रामकथा का आभास मात्र है, जिसमें वाल्मीकि रामायण की गन्ध है। भक्तिकाव्य का शेषांश संस्कृत महाकाव्यो के प्रभाव से शून्य है।

खण्ड काव्य

मेघदूत जैसे स्वतन्त्र खण्डकाव्यों का संस्कृत में अधिक प्रचलन नहीं हुआ दीख पड़ता। संभवतः इसका कारण पुराणों में काव्य के एक देश का अनुसरण करने वाली खण्डकाव्य जैसी अनेक रचनाओं की उपलब्धि रही हो। जो कुछ हो, संस्कृत के स्वतन्त्र खण्डकाव्यों का हिन्दी (१४०० ई० से १६०० ई० तक) पर कोई प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता।

स्फुट काव्य

संस्कृत साहित्य में स्फुट काव्य की रचनाएँ बड़ी उदारता से हुई प्रतीत होती हैं। स्फुट रचनाएं तीन वर्गों में बाँटी जा सकती हैं: धार्मिक काव्य, शृंगारिक काव्य और नीति एवं शिक्षामूलक काव्य। धार्मिक काव्य दो रूपों में दीख पड़ता है: भक्ति काव्य के रूप में और वैराग्यकाव्य के रूप में। स्तुतिकुसुमांजलि, चण्डीशतक, सूर्यशतक, मुकुन्दमाला, सरस्वती स्तोत्र, स्तोत्रावलि, शिवपराधपणस्तोत्र, मंगलाष्टक, देवी-शतक, महिम्नःस्तव, पंचस्तवी, आनन्दलहरी आदि रचनाएँ भक्तिकाव्य के अन्तर्गत हैं। इन रचनाओं में देवविषयक किसी परिस्थिति या भाव द्वारा पारमार्थिक सौन्दर्य एवं दिव्य पवित्रता को प्रस्तुत किया जाता है। वैराग्य-काव्य में भय, निराशा, जुगुप्सादि भाव प्रमुख होते हैं, जिनमें काल की भयंकरता, संसार की असारता, शरीर की क्षणभंगुरता और लोक की स्वार्थपरता आदि के चित्र रहते हैं। संस्कृत साहित्य में वैराग्यशतक जैसे स्वतन्त्र ग्रन्थों की विरलता प्रतीत होती है; परन्तु पुराणों में वैराग्यप्रकरण निर्विशेष रूप से

मिलता है। योगवासिष्ठ जैसे धर्म-ग्रन्थों में वैराग्य-निरूपण ने परंपरागत सम्मान प्राप्त किया है।

स्फुट काव्य का दूसरा वर्ग शृंगारिक काव्य है, इसका विषय प्रेम और सौन्दर्य है। इसमें कवि का लक्ष्य उच्चकला का प्रदर्शन रहता है। इस वर्ग की रचनाओं का प्रधान सौन्दर्य भाव या परिस्थिति के चित्रण में सन्निहित ध्वनि-उन्मेष में रहता है। शृंगारतिलक, शृंगारशतक, अमरुकशतक, गीतगोविन्द, चौर-पचाशिका, ऋतुसंहार, घटकर्पर और आर्यासप्तशती इसी वर्ग के उदाहरण हैं।

तीसरे वर्ग में नीति एवं शिक्षामूलक काव्य है। नीतिशतक, हितोपदेश, पंचतत्र, चारुचर्याशतक, नीतिमजरी, मुग्धोपदेश, उपदेशशतक, नीति रत्न, नीति-सार, नीतिशतक, नीति-प्रदीप, नीतिमंजरी, सुभाषित रत्न सन्दोह, राजनीति-समुच्चय, राजेन्द्रकर्णपूर, चाणक्यराजनीति, चाणक्यनीति आदि रचनाएँ नीति एव शिक्षामूलक साहित्य में परिगणित हैं। इनमें कुछ रचनाएँ राजनीति से संबधित हैं और कुछ सामान्य नीति से। सामान्यनीति की कुछ रचनाओं में राजनीति का प्रकरण भी मिलता है।

हिन्दी पर स्फुट काव्य के प्रभाव की दृष्टि से गीतगोविन्द का स्थान प्रथम होना चाहिए। अष्टछाप के प्रायः सब कवियों की रचनाएँ गीतगोविंद के प्रभाव को व्यक्त करती हैं। राधा का मान, खण्डिता-वर्णन, दूती-उक्ति आदिक प्रसंग सूरदास आदिक की कृतियों में गीतगोविन्द के प्रभाव के साक्षी हैं। विद्यापति के शृंगार के पदों की रचना भी गीतगोविन्द के अनुकरण पर ही हुई दीख पड़ती है। यह भी संभव है कि 'अष्टछाप' की रचनाओं पर विद्यापति-पदावली का ही प्रभाव रहा हो, किन्तु उस दशा में भी 'गीतगोविन्द' का आभार नहीं भुलाया जा सकता। नंददासकृत 'रूपमंजरी' में कालिदास के ऋतुसंहार की झाँई दीख पड़ती है। विनयपत्रिका पर किसी अंश तक स्तुतिकुसुमांजलि की छाया है। भक्तिकाव्य के प्राय. ग्रन्थों में वैराग्य का पुट मिलता है, परन्तु उसे परंपरागत प्रभाव कहना ही समीचीन होगा। उसे वैराग्य-स्फुट-काव्य का असंदिग्ध प्रभाव नहीं कह सकते, क्योंकि वैराग्य के प्रकरण अन्यत्र भी मिलते हैं।

अन्य स्फुट रचनाओं का प्रभाव निश्चितरूप से नहीं बतलाया जा सकता। हाँ, नीति रचनाओं ने रहीम पर अधिक प्रभाव डाला है। नीति का प्रभाव तुलसीदास और केशवदास पर भी दीख पड़ता है।

संस्कृत साहित्य की कथाओं के दो स्थूल रूप देखने में आते हैं। एक तो छोटी कथाएँ जिन्हें 'शार्ट स्टोरीज' कह सकते हैं और दूसरी बड़ी कथाएँ जिन्हें 'नावेल्स नाम देना अनुचित न होगा।

कथा साहित्य

छोटी कथाएँ तीन शैलियों में मिलती हैं: गद्य में, पद्य में और गद्य-पद्य में। वैतालपचविंशति, सिंहासनद्वात्रिंशतिका, और शुकसप्तति गद्य कथाएँ हैं, तथा कथासरित्सागर और बृहत्कथामंजरी पद्य कथाएँ हैं। गद्य-पद्य कथाएँ 'चम्पू' भी कहलाती हैं। हितोपदेश और पंचतंत्र इसी प्रकार की रचनाएँ हैं।

बड़ी कथाएँ गद्य में लिखी हुई हैं। इनमें कथांश गौण और वर्णनांश प्रधान है। शैली अलंकारमयी एवं सामासिक है। इनमें प्रमुख ग्रन्थ दशकुमारचरित, वासवदत्ता, और कादम्बरी हैं। हर्षचरित की गणना ऐतिहासिक 'नावेल्स' में है।

माधवानल कामकन्दला[1] के अतिरिक्त हिन्दी के कथा-साहित्य पर संस्कृत के कथा-साहित्य का प्रभाव लगभग नहीं के बराबर है। हाँ, नीति की उक्तियों पर पंचतंत्र की और एक दो स्थलों पर रामचन्द्रिका तथा रामचरित मानस में कादम्बरी की छाया दीखती है।

नाटकीय साहित्य

संस्कृत साहित्य में नाटकों का बाहुल्य है। उनमें कथोपकथन गद्य में और किसी दृश्य या व्यक्ति का वर्णन या घटनाओं से ध्वनित चिंतन पद्य में मिलता है। पात्रों की भाषा उनकी सामाजिक स्थिति के अनुसार होती है। इन नाटकों की विशेषता इनका सुखान्त होना है। इनकी रोचकता में विदूषक का (जो प्रायः नायक का सखा होता है) स्थान बड़े महत्व का होता है। रंगमंच पर किसी अश्लील आचरण (यथा चुम्बन, आलिंगन, नख-प्रहार, दन्त-प्रहार आदि) या, भोजन, निद्रा अथवा मृत्यु का अभिनय नहीं होता। कथानक प्रायः इतिहास या पुराण से लिया जाता है। नायक धीरोदात्त, प्रतापी, गुणवान् और प्रख्यातवंश होता है। प्रधान रस शृंगार और वीर में से कोई एक होता है। नाटक का आरंभ नान्दी पाठ से होता है। संस्कृत के कुछ प्रसिद्ध नाटकों के ये नाम हैं: अभिज्ञान शाकुन्तल, विक्रमोर्वशी, मालविकाग्निमित्र, मृच्छकटिका, नागानन्द, उत्तररामचरित, महावीरचरितम्, मुद्राराक्षस, वेणीसंहार, रत्नावली, विद्धशालभंजिका, बालरामायण, बालमहाभारत, चण्डकौशिक, हनुमन्नाटक, प्रबोधचन्द्रोदय, प्रसन्नराघव, तथा स्वप्नवासवदत्ता।

हिन्दी साहित्य (१४००-१६०० ई०) पर हनुमन्नाटक, प्रसन्नराघव नाटक और प्रबोध चन्द्रोदय का बहुत आभार है। प्रथम दो का तुलसीदास ने रामचरित मानस में और केशव ने रामचन्द्रिका में बड़ी उदारतापूर्वक प्रयोग किया है। केशव ने विज्ञानगीता में प्रबोध चन्द्रोदय का अनेक स्थलों पर अनुवाद और

---

[1] माधवानल कामकन्दला की कथा का आधार सिंहासनद्वात्रिंशिका की २१ वीं कहानी है।

प्रायः भावानुवाद किया है। तुलसीदास ने अपने कुछ और ग्रन्थों में भी हनुमन्नाटक और प्रसन्नराघव नाटक का प्रयोग किया है जिसका उल्लेख तीसरे अध्याय में किया जायगा।

काव्य शास्त्र

संस्कृत साहित्य में काव्य शास्त्र का इतिहास भरतमुनि के नाट्यशास्त्र से प्रारम्भ होता है। यद्यपि इस ग्रन्थ का प्रधान विषय नाट्यशास्त्र है, पर यह काव्य शास्त्र का भी सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। नाटकीय नियमों के अतिरिक्त इसमें काव्य और संगीत की भी पर्याप्त विवेचना है। काव्यशास्त्र की पिछली रचनाओं के लिए तो यह एक प्रकार से उद्‌गम ही रहा है। अभिनय का आधार रस होने से इसमें रस की समुचित विवेचना है। नाट्यशास्त्र से रस को इतना बल मिला कि भरतमुनि के शताब्दियों बाद तक काव्य और नाट्य ग्रन्थों में इसका बोल बाला रहा।

विक्रम की सातवीं शताब्दी में संस्कृत काव्य-शास्त्र का एक नवीन युग प्रारम्भ हुआ जिसमें अलंकार को प्राधान्य मिलने लगा। यों तो मूल अलकारों का जन्म भी नाट्यशास्त्र में ही हुआ था, परन्तु वहाँ उनका सम्मान रस के समान नहीं था। अलकारयुग में अलंकारों की मान्यता रस से अधिक हो गई। भामाह इस युग के प्रतिनिधि होकर आये। ऐतिहासिक दृष्टि से भामाह के 'काव्यालकार' का बड़ा महत्व है। इसके उपरान्त दण्डी के काव्यादर्श का उद्‌भव हुआ, जिसमें अलकारों के साथ रीति, गुण आदि की भी आवश्यकता स्वीकार की गई; परन्तु दण्डी के अलंकारों का स्वरूप उत्तरवर्ती विपश्चितों को मान्य नहीं हुआ।

आठवीं शताब्दी के आसपास दण्डी के पश्चात् उद्‌भट और वामन के सिद्धान्तों का विकास हुआ। उद्‌भट ने भामाह का अनुगमन किया। वामन ने अन्य काव्यागों की अपेक्षा 'रीति' को विशेष मान प्रदान किया। वामन के मत में रीति को काव्य की आत्मा माना गया, परन्तु यह मत पिछले विद्वानों को अमान्य रहा। रुद्रट अलकारवादी के रूप में साहित्य क्षेत्र में अवतरित हुए। उन्होंने काव्य के आलकारिक रूप पर बहुत जोर दिया।

परन्तु नवीं शताब्दी का पदार्पण अलकारवाद के लिए घातक सिद्ध हुआ। इस समय रस, अलकार, और रीति वाद को पीछे धकेल कर ध्वनिवाद आगे बढ़ गया। इसके प्रवर्तक का नाम अब तक अज्ञात है। आनंदवर्धन ने इसी अज्ञात लेखक के सूत्रों पर ध्वन्यालोक के नाम से टीका लिखी थी। अभिनवगुप्त भी इसी मत के समर्थक थे। ध्वनि सिद्धान्त के विकास से अलकारवाद और रीतिवाद क्षीण हो गये। यहाँ तक कि प्राचीन रसवाद भी इसी में विलीन हो गया।

दशवी शताब्दी में काव्यशास्त्र की दो रचनाओं की सृष्टि हुई: एक राजशेखरकृत 'काव्यमीमासा' और दूसरी धनजयकृत 'दशरूपक'। पहले ग्रन्थ में

काव्य के सब अंगों की आलोचनात्मक शैली में विवेचना की गई है, दूसरे में नाट्यशास्त्र का निरूपण है।

ग्यारहवीं शताब्दी में कुन्तल ने 'वक्रोक्तिजीवित' द्वारा ध्वनि-सिद्धान्त का विरोध किया, परन्तु उसका मत ध्वनिवाद के सामने विजयी न हो सका। इसी समय के आसपास मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश में अनेक सिद्धान्तों का समंजस करने की चेष्टा की।

बारहवीं शताब्दी में अलंकारवाद पुनर्जीवित होने लगा। रुय्यक ने अपने 'अलंकारसर्वस्व में इसी मतवाद का समर्थन किया है। इसी समय के लगभग जयदेव ने चन्द्रालोक लिखा जिसके पाँचवें मयूख में अलंकारों का सविस्तर वर्णन है। चन्द्रालोक का यही मयूख पीछे १६ वीं शताब्दी में अप्पय्य दीक्षित के कुवलयानंद का आधार बना। काव्यशास्त्र की अधिक प्रामाणिक रचना विश्वनाथ (१४वीं शताब्दी) का साहित्य दर्पण है, जिसमें काव्यागों की विस्तीर्ण विवेचना है।

यद्यपि नायिका-भेद का निरूपण भरतमुनि, व्यासदेव (अग्निपुराण में) रुद्रट, धनंजय, भोज, विश्वनाथ, और रुय्यक ने भी किया है, परन्तु उसके आचार्य भानुदत्त ही माने जाते हैं क्योंकि उन्होंने रसमंजरी में उसका विस्तार से वर्णन दिया है। पी० वी० काणे[1] के अनुसार भानुदत्त का समय विश्वनाथ से पहले का है।

काव्यशास्त्र के संबंध में अमरचन्द्रकृत काव्यकल्पलतावृत्ति और केशवमिश्रकृत अलकारशेखर विशेष उल्लेखनीय हैं क्योंकि इनका संबंध रीतिकाव्य के प्रथम आचार्य केशव से रहा है। काव्यकल्पलतावृत्ति का समय[2] तेरहवीं शताब्दी के आसपास ही है।

हमारे हिन्दी कवियों में से काव्यशास्त्र से सम्बन्ध रखनेवाले कृपाराम, नंददास, बलभद्र, रहीम और केशवदास हैं। कृपारामकृत हिततरगिणी, रहीमकृत बरवैनायिका भेद, नंददासकृत रसमंजरी की रचना भानुदत्तकृत रसमजरी के अनुकरण पर हुई है। हिन्दी लेखकों ने कहीं कहीं इच्छानुसार किंचित् परिवर्तन भी कर दिया है। केशव की रसिकप्रिया पर दशरूपक, साहित्यदर्पण और रसमंजरी का प्रभाव है। कहीं कहीं केशव ने मौलिकता का प्रमाण भी दिया है। अलंकारशेखर, काव्यकल्पलतावृत्ति, काव्यादर्श, काव्यप्रकाश, और साहित्यदर्पण ने केशवकृत कविप्रिया को प्रभावित किया है। केशव और बलभद्र के 'नखशिख' वर्णन परंपरागत प्रतीत होते हैं। संभव है अंशतः इन पर भी काव्यकल्पलतावृत्ति का प्रभाव पड़ा हो।

———

१—देखिये: सा० द०—भूमिका

२—देखिये: का० क० वृ०—भूमिका, पृ० १

द्वितीय अध्याय

हिन्दी-साहित्य

[रूप और शाखाएँ]

आधुनिक हिन्दी साहित्य के रूप को देखकर जिस पर अंग्रेजी का संसर्गजन्य प्रभाव है, यह भ्रम हो सकता है कि रूपाकृति के सम्बन्ध में हिन्दी पर संस्कृत साहित्य का विशेष आभार नही है, परन्तु भक्तिकालीन हिन्दी-साहित्य की रूप-सर्जना प्रायः संस्कृत के अनुकरण पर ही हुई है। हाँ, प्रेमकाव्य की आकृति में फारसी की मसनवी शैली का आभास अवश्य मिलता है, पर उपकरण-सज्जा के आदर्श में भारतीयता का रूप अपने ढंग से प्रतिफलित हो रहा है। सूफी-काव्य की प्रचार-पद्धति में विरह में संयोग (Union in Separateness) भले ही रहा हो, परन्तु उससे भारतीय चिन्तन-पथ के समानुक्रम में असहकारी विषमता नहीं आ पाई। पद्मावत में कैलास पर लंका की स्थिति पढ़कर कोई भी भूगोलवेत्ता चौंक सकता है, उससे जायसी के ज्ञान पर शंका उठ सकती है, किन्तु रूपक शैली में स्थिति के तात्विक महत्व पर कोई व्याघात नहीं होता।

यह हो सकता है कि पद्मावत लिखते समय जायसी के मस्तिष्क पर मसनवी शैली का संस्कार बना रहा हो, परन्तु यह भी असम्भव नही है कि भारतीय प्रबन्ध-काव्य की प्रथित शैली के प्रति भी कवि की चेतना रही हो। आभास के आधार पर रूप-स्थिति का निराकरण अनुचित होगा। मसनवियों के कुछ लक्षणों के आभास से सूफी रचनाओं की प्रबन्धता को न मानना न्यायसंगत न होगा। थोड़े से उदार निर्णय के सहारे पद्मावत महाकाव्य माना जा सकता है। इसी प्रकार 'माधवानल कामकन्दला' को 'खण्डकाव्य मानने में कोई आपत्ति नहीं है। आलमकेलि की खण्डकाव्य सम्बन्धी चेतना प्रमाणित है, क्योंकि उसका आधार सिंहासनद्वात्रिंशतिका की इक्कीसवीं कहानी है। भक्तिकाव्य की अन्य शाखाओं का रूप संस्कृत साहित्य की परंपरा के अनुरूप है।

भक्ति साहित्य में गद्य का उदय नहीं दीख पड़ता और न भक्त कवियों का ध्यान दृश्य[1] काव्य की ओर ही गया है। रामायण महानाटक जैसे तथाकथित

१—दृश्यसंज्ञक काव्य वे हैं जिनका अभिनय किया जा सकता हो; इनको रूपक भी कह सकते हैं।

दृश्य काव्य को गद्य के नितान्त अभाव में पद्य काव्य ही कहेंगे। हाँ, कथोपकथन के सन्निवेश से पद्य में भी नाटकीयता आ गई है, किन्तु गद्य एवं अन्य अर्हणीय गुणों के अभाव से पारम्परिक माप पर वह दृश्य काव्य नहीं उतरता; अतः भक्ति काव्य में केवल पद्य-काव्य रह जाता है। उसी के रूप और शाखाओं की संस्कृत के सम्बन्ध से परीक्षा करनी है।

पद्यकाव्य के प्रबन्ध और मुक्तक दो रूप होते हैं। प्रबन्ध में सम्बन्ध निर्वाह, कथा के गम्भीर मार्मिक स्थलों की पहचान और दृश्यों की स्थानगत विशेषता का होना अनिवार्य है[१]। उसमें कोई उद्देश्य सन्निहित रहता है और प्रमुख रस का संचार उसी की ओर होता है। नायक कथा-पट का प्रधान सूत्रधार होता है और रस-निष्पत्ति का मूल दायित्व उसी पर होता है। छन्दों में पूर्वापर सम्बन्ध रहता है और एक से दूसरे में कथा सूत्र का तारतम्य रहता है, किंतु मुक्तक छन्दों में पूर्वापर संबंध की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उनमें कोई कथासूत्र नहीं रहता। मुक्तकों में प्रबन्ध की भाँति रस का विकासमूलक परिपाक नहीं होता, अपितु उसकी निष्पत्ति परिपक्व अवस्था में मिलती है। मुक्तक अपनी छोटी सी दुनिया में रहता है जो उसके लिए पर्याप्त होती है, "परन्तु रसचर्वणा उसमें भी अनिवार्य है।"[२] प्रायः यह देखने में आता है कि मुक्तक में 'व्यजना' शक्ति जितनी उत्तम होती है वह उतना ही उत्कृष्ट समझा जाता है। गागर में सागर भरने के लक्ष्य से मुक्तककार को पद पद पर सचेत रहना पड़ता है, किन्तु मुक्तक का प्रभाव उतना स्थायी नहीं होता जितना प्रबंध का।

भक्तिकाल में पद्य-काव्य के प्रबंध और मुक्तक, दोनों रूप देखने में आते हैं। सूफी-कवियों की सभी प्रेम-कथाएँ प्रबन्ध-रूप में लिखी गई हैं। सन्तकाव्य मुक्तक रूप है। रामभक्ति शाखा के अन्तर्गत तुलसीदास और केशवदास के अतिरिक्त अन्य किसी कवि की रचना प्रबन्ध-रूप में नहीं दीख पड़ती। गोस्वामीजी के अनेक ग्रंथों में से रामचरितमानस, पार्वतीमंगल और जानकीमंगल ही प्रबंध-रूप में विरचित हैं, अन्य मुक्तक हैं।

कुछ लोग गीतावली और कवितावली को भी प्रबन्ध काव्य मानते हैं, क्योंकि उन्हें इन ग्रन्थों की घटनावली में एक क्रम का आभास मिलता है। यद्यपि कुछ मार्मिक स्थलों की अभिव्यंजना ने उनमे उत्तम सुरसता भर दी है, पर कथा-सूत्र के बाधं और पुनरावृत्तियों के सन्निवेश से रचनाओं के मुक्तक होने में

१—रामचन्द्र शुक्ल, हिं० सा० का इतिहास, पृ० २५४

२—देखिये, श्याम सुन्दरदास, स० स०, भूमिका, पृ० १

'पूर्वापर निरपेक्षापि हि येन रसचर्वणा क्रियते तदेन मुक्तकम्'

कोई सन्देह नहीं रह जाता। पुनरावृत्ति से छन्दों के समय-समय पर लिखे जाने की ओर भी संकेत होता है।

कथानक के निर्वाह का आभास काण्डों की व्यवस्था के कारण होता है। यदि यह व्यवस्था स्वयं कवि ने ही की है तो यह अनुमान कर लेना अनुचित न होगा कि 'व्यवस्था-काल' में राम-कथा कवि की चेतना में साद्यन्त आधार-ग्रन्थों के अनुकूल भरी हुई थी, परन्तु इससे उन रचनाओं का अमुक्तक होना सिद्ध नहीं होता। अनुमानतः गीतावली, कवितावली आदि मुक्तक रचनाओं में तुलसीदास ने काण्डों के नाम प्रबन्ध की आवश्यकता से प्रेरित होकर नहीं रक्खे। नामकरण में भावुकता का हाथ दीख पड़ता है, जो श्रद्धारूप में कथा एवं कथाधार दोनों के प्रति उमड़ती हुई प्रतीत होती है। बरवै-रामायण जिसके मुक्तक होने में कोई सन्देह ही नहीं, इसका ज्वलन्त प्रमाण है।

गीतावली और कवितावली दोनों रचनाओं के मुक्तक होते हुए भी उनमें बाह्यार्थ-निरूपण का परित्याग नहीं किया गया। मुक्तकों की प्रवृत्ति के अनुरूप स्वानुभूति-निरूपण का प्राधान्य न होकर, कथा-प्रसंगों के आधार पर फुटकल पद्य की रचना होने के कारण बाह्यार्थ-निरूपण की ही प्रधानता का दर्शन होता है।

केशवदास ने रामचन्द्रिका के अतिरिक्त वीरसिंह-देव-चरित, जहाँगीर-जसचन्द्रिका और रतनबावनी को प्रबन्ध-रूप में लिखा है। कृष्ण-भक्तों में प्रबन्ध कवि होने का श्रेय केवल नन्ददास, पृथ्वीराज राठौर और नरोत्तमदास को मिला है। रूपमंजरी, विरहमंजरी, स्यामसगाई, भंवरगीत, रुक्मिनीमंगल, रासपंचाध्यायी और सुदामाचरित नंदनदास की प्रबन्ध रचनाएँ ही हैं। नन्ददास की विरह मंजरी (कुछ-कुछ बारहमासा के ढंग की) और रासपंचाध्यायी (वर्णन-प्रधान होते हुए भी) में कथा-भाग को बड़े कौशल से निभाया गया है। अष्टछाप के अन्य कवियों के साथ नंददास का नाम बड़े अच्छे मुक्तक रचयिताओं में ही लिया जाता है। बेलि क्रिसन रुक्मिणी री के कारण राठौड़ पृथ्वीराज और सुदामाचरित के कारण नरोत्तमदास का नाम प्रबन्ध कवियों में प्रसिद्ध है।

महाकाव्य[1] और खण्डकाव्य के भेद से प्रबन्ध काव्य दो प्रकार का होता है। उपर्युक्त प्रबन्ध रचनाओं में से रामचरितमानस और पद्मावत की ही गणना

१—जिसमें सर्गों का निबन्धन हो वह महाकाव्य कहलाता है। इसमें एक देवता या सद्वंश क्षत्रिय, जिसमें धीरोदात्तत्वादि गुण हों, नायक होता है। कहीं एक वंश के सत्कुलीन अनेक भूप भी नायक होते हैं। शृंगार, वीर और शान्त में से कोई एक रस अंगी होता है, अन्य रस गौण होते हैं। सब नाटक-सन्धियाँ रहती हैं। कथा ऐतिहासिक या लोक में प्रसिद्ध सज्जनसंबन्धिनी होती है। धर्म, अर्थ,

महाकाव्यों में हो सकती है। रामचन्द्रिका की रचना भी महाकाव्य की दृष्टि से ही हुई है, परन्तु उसमें व्यापार, वातावरण और घटनावली जिस प्रकार प्रस्तुत की गई है वह प्रबन्ध काव्य के अनुकूल नहीं है। इस प्रकार का वातावरण मुक्तक काव्य के अधिक अनुकूल होता है। प्रबन्ध रचना मनोयोग की वस्तु है। उसके लिए अधिक समय की आवश्यकता होती है। कथा-प्रसंगों के पारस्परिक सम्बन्ध और उद्देश्य का निर्वाह मनोयोग बिना सम्भव नहीं है।

रामचन्द्रिका में कथा तो कही गई है, परन्तु कथा के विविध घटना-स्थलों में सम्बन्ध स्थापित करने के लिए जिस योग-सूत्र की आवश्यकता होती है उसका इसमें अभाव है। भग्न कथांशों का परिचय देने के लिए कवि को नाटकों की तरह अलग-अलग नाम सूचित करने पड़े हैं। वाल्मीकि और तुलसीदास को यह आवश्यकता कभी नहीं हुई है। सम्बन्ध के अभाव से यह ग्रंथ वर्णनों का एक संग्रह सा प्रतीत होता है। कवि का ध्यान छंदों और अलंकारों की ओर रहने से कथासूत्र के बीच सम्बन्ध विलुप्त हो जाने से भी उनकी पूर्वापर सापेक्षता नष्ट हो गई है। वर्णनसमानुपात पर कवि का ध्यान न रहने से प्रबन्धत्व की बड़ी क्षति हुई है। अनावश्यक विशालकाय वर्णनों में उलझकर कथांश शीर्ण सा प्रतीत होता है।

कृष्ण, भक्तों में से कोई कवि महाकाव्य की सृष्टि नहीं कर सका है। उन्होंने अधिकांशतः मुक्तकों और बहुत थोड़े खण्डकाव्यों की रचनाएँ की हैं। कृष्णकवियों में सबसे ऊँचा नाम अष्टछाप के कवियों को मिला है, किन्तु

काम, मोक्ष इस चतुर्वर्ग में से एक उसका फल होता है। आरम्भ में आशीर्वाद नमस्कार या वर्ण्य वस्तु का निर्देश होता है। कहीं खलों की निन्दा और सज्जनों का गुणवर्णन होता है। इसमें न बहुत छोटे, न बहुत बड़े आठ से अधिक सर्ग होते हैं। उनमें, प्रत्येक में, एक ही छन्द होता है, किन्तु अन्तिम पद्य (सर्ग का) भिन्न छन्द का होता है। कहीं कहीं सर्ग में अनेक छन्द भी मिलते हैं। सर्ग के अन्त में अगली कथा की सूचना होनी चाहिए। इसमें सन्ध्या, सूर्य, चन्द्रमा, रात्रि, प्रदोष, अन्धकार, दिन, प्रातःकाल, मध्यान्ह, मृगया (शिकार), पर्वत, ऋतु (छहों), वन, समुद्र, सभोग, वियोग, मुनि, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, संग्राम, यात्रा, विवाह, मन्त्र, पुत्र और अभ्युदय आदि का यथासम्भव सांगोपांग वर्णन होता है। इसका नाम कवि के नाम से जैसे, 'माघ' या चरित्र के नाम से जैसे, 'कुमारसम्भव' अथवा चरित्रनायक के नाम से जैसे, 'रघुवंश' होना चाहिए। कहीं इनके अतिरिक्त भी नाम होता है जैसे 'भट्टि'। सर्ग की वर्णनीय कथा से सर्ग का नाम रक्खा जाता है। देखिये, सा० द०, ६.३१५-'२४

महाकाव्य का अभाव अष्टछाप काव्य में भी रहा है। उनका आदर्श, मान्य ग्रन्थ, भागवत रहा है, उसमें कृष्ण के जीवन का ऐसा पूर्ण चित्र नहीं है, जैसा वाल्मीकि और अध्यात्म रामायण में राम के जीवन का है। भागवत स्वयं एक वर्णनों का संग्रह है। उसमें कृष्ण की अनेक लीलाएँ वर्णित हैं जिनमें मुक्तक या खण्डकाव्य के लिए ही उपयुक्त सामग्री दीख पड़ती है, महाकाव्योचित जीवन की पूर्णता नहीं। हाँ, भागवत और महाभारत दोनों से प्रेरणा लेकर महाकाव्य की ओर बढ़ा जा सकता था, किन्तु माधुर्य की लहरों को भक्तकवि राजनीति में न मिला सके। दोनों ग्रंथों में कृष्ण जीवन के दो पृथक्-पृथक् पहलू दीख पड़ते हैं: एक में चपलता दूसरे में गम्भीरता, एक में बाल लीलाएँ दूसरे में राजनीति एक में आकर्षण दूसरे में प्रभाव। इसके अतिरिक्त वल्लभ-सम्प्रदाय में बालकृष्ण की ही मान्यता रहने से सूरादि का ध्यान महाभारत की ओर न जा सका।

कुछ लोगों ने सूरसागर को महाकाव्य माना है। नायक के ऐतिहासिक व्यक्तित्व, कथा-सूत्र, सर्गबद्धता, मंगलाचरण, रस आदि के बल पर वे उसे ऐसा कहते हैं, परन्तु हमें यह नहीं भूल जाना है कि सूरदास कृष्ण की लीलाओं का वर्णन कर रहे हैं जिनके बीच कोई एक कथा-सूत्र नहीं है। एक ही पद का भाव अनेकों में मिलने से कोई भी यह कहने का साहस कर सकता है कि कवि की प्रवृत्ति कथा की ओर नहीं है क्योंकि प्रबन्ध काव्य में एक घटना का अनेक बार वर्णन नही किया जाता।

दूसरी बात जो सूरसागर को प्रबन्ध नहीं मानने देती वह है इसकी गीतात्मकता। गीत केवल मुक्तक होने का अधिकारी है, प्रबन्ध काव्य होने का नहीं। प्रबन्ध पद में गीत होने की क्षमता नहीं होती। प्रबन्ध में विस्तार के कारण स्वानुभूति-निरूपण के तारतम्य का निरन्तर निर्वाह नहीं हो सकता, और न उसमें भाव तीव्रता का सहसा उदय ही हो सकता है जिसकी गीत में बड़ी आवश्यकता होती है। उसमें भावों का क्रमिक विकास होता है। जिसकी चरमावस्था में ही रस परमास्वाद्य एवं ब्रह्मानंद सहोदर होता है। प्रबन्ध काव्य में विकास काल में रस के केवल संस्कार बनते चलते हैं, परन्तु गीत संस्कारों के अविलम्ब निर्माण में अमोघ शक्ति रखता है। वह गायक या श्रोता को सहसा रस की चर्व्यमाणता में ले पहुँचता है और आनंदविभोर कर देता है; परन्तु इस अवस्था को ठहराया नही जा सकता। गीत अपनी जिस स्थिति में प्रारंभ होता है उसी में समाप्त भी। उसमें जादू के समान अर्थ और प्रभाव की सत्वर प्रेषणीयता रहती है। उसी के बल पर वह रस को चर्व्यमाणता में ले पहुँचता है।

रसकी कसौटी पर भी सूरसागर महाकाव्य नही उतरता। उसमें गौणतया सभी रस हैं, किन्तु प्रधानता वात्सल्य और शृंगार की ही है। उसमें इन दोनों

का क्षेत्र भिन्न है, दोनों स्वतन्त्र हैं, कोई किसी को सहयोग नहीं देता। साथ ही ग्रन्थ का प्रत्येक पद अपना-अपना रस-संचय रखता है। प्रबन्ध काव्य का सा एक से दूसरे पद में रस-प्रवाह नहीं मिलता।

सूरसागर में सर्गबद्धता का कारण बिल्कुल वैसा ही प्रतीत होता है जैसा 'गीतावली', 'कवितावली' और 'बरवै रामायण' में काण्डबद्धता का है। इसका कारण भागवत के प्रति भक्त कवि की श्रद्धा समझ पड़ती है।

"काव्य के एक अंश का अनुसरण करने वाला खण्डकाव्य होता है"[1] उससे जीवन की पूर्णता अभिव्यक्त नहीं होती। उसकी रचना के लिए कोई एक घटना अथवा संवेदनामात्र पर्याप्त होती है। भक्तिकाव्य में ऐसी अनेक रचनाएँ हुई हैं। आलमकेलिकृत 'माधवानल कामकन्दला,' तुलसीकृत 'जानकीमंगल' और 'पार्वतीमंगल', केशवकृत 'वीरसिंहदेवचरित,' 'जहाँगीरजसचन्द्रिका' और 'रतनबावनी,' नंददासकृत 'रूपमंजरी,' 'सुदामा चरित,' 'विरह मंजरी,' 'स्याम-सगाई,' 'भंवरगीत,' 'रुक्मिनी मंगल' एवं 'रासपंचाध्यायी,' पृथ्वीराज राठौरकृत वेलिक्रिसन रुक्मिणीरी तथा नरोत्तमदासकृत सुदामाचरित—ये ग्रंथ खण्डकाव्य के उदाहरण हैं।

इस काल की हमें अन्य प्रकार की रचनाएँ भी मिलती हैं, जिनमें वर्णनक्रम रहता है। उन्हें प्रबन्ध काव्य नहीं कहा जा सकता, वे सविशेष मुक्तकमात्र हैं। उन्हें वर्णनात्मक मुक्तक कहना ही समीचीन होगा। 'दानलीला', 'मानलीला', 'जलविहार', ' वन विहार', 'मृगया', 'झूला', 'होली' वर्णन', जन्मोत्सव वर्णन', 'मंगल वर्णन', 'रामकलेवा' आदि इसी प्रकार की रचनाएँ हैं। ऐसी रचनाएँ कृष्णकाव्य में बहुत हैं। विनयपत्रिका में भी कुछ वर्णन-मुक्तकों का समावेश है। हिन्दी में भक्ति-काव्य के साथ साथ ये वर्णन अपनी स्वतन्त्र सत्ता उसी प्रकार रखने लगे हैं जिस प्रकार 'नख-शिख' और 'षडतु'-वर्णन प्रबन्ध से अलग।

यहाँ तक काव्य के रूपों की परीक्षा की गई है। पहले अध्याय के साथ इसकी तुलना करने से यह पता लग जायगा कि हिन्दी साहित्य ने इन रूपों का नया आविष्कार नहीं किया। 'दान-लीला', 'मान-लीला' आदि वर्णनात्मक मुक्तकों को छोड़कर शेष सभी रूप संस्कृत साहित्य में मिलते हैं। अब प्रबन्ध और मुक्तक काव्य का विषय के अनुसार वर्गीकरण किया जायगा।

विषय भेद से प्रबन्ध काव्य के तीन वर्ग दीख पड़ते हैं। पहले वर्ग में लौकिक प्रबन्ध रक्खे जा सकते हैं जिनकी कथाएँ लौकिक हैं, जैसे पद्मावत, माधवानल

१—सा० द०, ६.३२९

कामकन्दला, ढोलामारूरा दूहा; दूसरे धार्मिक प्रबन्ध हैं, जिनमें भगवान् विष्णु के अवतार, राम या कृष्ण का नायकत्व या पात्रत्त्व है, जैसे रामचरितमानस, जानकी मंगल, 'वेलि', रुक्मिनीमंगल आदि। इनमें केवल पार्वतीमंगल ही ऐसा प्रबन्ध काव्य है जिसमें नायकत्व राम या कृष्ण से स्थान पर शिव को मिला है; और तीसरे प्रबन्ध काव्य वे हैं जिनमें भाववाचक संज्ञाओं को पात्रता दी गई है, उनका विषय दार्शनिक है, अतः उन्हें 'दार्शनिक प्रबन्ध' कह सकते हैं; विज्ञान-गीता इसी प्रकार की रचना है।

गेयता की दृष्टि से मुक्तकों को दो वर्गों में रक्खा जा सकता है: १—गेय मुक्तक एवं २—अगेय मुक्तक। गेय मुक्तक वे हैं, जिनमें कवि की प्रवृत्ति उन्हें गीत बनाने की रही है। विद्यापति के पद, अष्टछाप के पद गीतावली और कृष्णगीतावली के पद, विनयपत्रिका के वे पद जिनमें वर्णनप्राधान्य नहीं है, मीराँ के पद, तथा हितहरिवंश, गदाधर भट्ट, स्वामी हरिदास, सूरजदास मदनमोहन, श्रीभट्ट और व्यास के पद गेयमुक्तकों के उदाहरण हैं। कबीर आदि के पदों को भी गेय मुक्तकों में परिगणित किया जाता है। इनके अतिरिक्त सब मुक्तकों को अगेय समझना चाहिये। कबीर की रमैणी, साखी, रहीम के दोहे, तुलसी सतसई, बरवै रामायण, रसखान के कवित्त आदि रचनाएँ अगेय मुक्तकों के ही उदाहरण हैं।

विषय के अनुसार मुक्तकों के भी दो वर्ग हो सकते हैं: १. लौकिक मुक्तक तथा २. धार्मिक मुक्तक। लौकिक मुक्तकों के पुनः तीन भेद, शृंगार मुक्तक, नीति मुक्तक तथा सामाजिक मुक्तक, हो सकते हैं। रहीम के शृंगार के दोहे, या केशव और बल-भद्र के नखशिख वर्णन आदि शृंगार की स्फुट रचनाएँ हैं। रहीम, तुलसी और कबीर के अनेक दोहे नीति-मुक्तकों का उदाहरण बनते हैं। कबीर आदि की कुछ रचनाएँ ऐसी हैं, जिनका सम्बन्ध सामाजिक व्यवस्था से है। उन्हें नीति एवं धर्म मुक्तकों से इतर नाम देना ही उपयुक्त होगा। उन्हें सामाजिक मुक्तक कहा जा सकता है। योग, ज्ञान, भक्ति और वैराग्य से संबंधित मुक्तकों को 'धार्मिकमुक्तक' के अन्तर्गत रक्खा जा सकता है।

संग्रह की दृष्टि से मुक्तकों के दो अन्य वर्ग हो सकते हैं: एक संग्रहीत मुक्तक और दूसरे असंग्रहीत मुक्तक। संग्रहीत मुक्तक वे रचनाएँ हैं, जिनमें रचयिता की चेष्टा किसी संग्रह विशेष की ओर रही है और जिनका नामकरण कवि ने संग्रह के आधार पर ही किया है, जैसे तुलसी सतसई, गीतावली, कवितावली, विनय-पत्रिका, वैराग्यसंदीपनी, सूरसागर, रहीम सतसई आदि; किन्तु असंग्रहीत मुक्तकों में न तो कवियों ने किसी संग्रह के लिए चेष्टा की है और न उन्होंने उनको कोई नाम ही दिया है। मीराँ के पद, अष्टछाप के पद, गंग की कविता, रसखान के कवित्त,

कबीर आदि की रचनाएँ तथा अन्य ऐसी ही रचनाएँ असंग्रहीत मुक्तकों में रक्खी जा सकती हैं।

यहाँ तक हमने काव्य के रूपों, वर्गों और शाखाओं को शुद्ध काव्य की दृष्टि से देखा है। इनमें से कोई बात ऐसी नहीं है, जिस पर संस्कृत साहित्य की परंपरा की छाया न हो। प्रबन्ध और मुक्तक काव्य अनेक दशाओं में जिस प्रकार संस्कृत साहित्य में मिलते हैं उसी प्रकार हिन्दी में भी। काव्य के नामकरण की प्रथा भी हिन्दी में संस्कृत के समान ही मिलती है। प्रबन्ध काव्यों का नामकरण प्रायः नायक या नायिका के नाम पर हुआ है। मुक्तकों में विषय को सूचित करने वाले नाम प्रायः संस्कृत के अनुकरण पर ही रक्खे गये हैं, जैसे स्तुतिकुसुमांजलि के अनुकरण पर विनयपत्रिका। सतसई आदि संख्यासूचक नाम भी संस्कृत का प्रभाव व्यक्त करते हैं। रहीमसतसई, तुलसीसतसई आदि नाम संस्कृत के आर्या सप्तशती और दुर्गासप्तशती के अनुकरण पर रक्खे गये हैं, परन्तु गीतावली, पदावली, कवितावली आदि नामों में थोड़ी सी नवीनता दीख पड़ती है: यहाँ छन्द या पद नाम का कारण बना है।

भक्ति-काव्य में गीतों को बड़ा महत्त्व मिला है। हिन्दी में गीतों का जैसा विकास इस काल में हुआ है, वैसा संस्कृत साहित्य में नहीं दीख पड़ता, परन्तु गीतों का बीजपात संस्कृत में ही हुआ था और हिन्दी ने गीतविषयक प्रेरणा वहीं से प्राप्त की है। गीतगोविंद से विद्यापति, सूर, मीराँ आदि ने जो प्रेरणा ली है वह सर्वमान्य है।

शुद्ध काव्य के साथ साथ मुक्तक काव्य का एक भिन्न रूप और भी देखने में आता है, जिसका सम्बन्ध काव्य-रीति से है। उसे काव्य-शास्त्र या रीति-मुक्तक कह सकते हैं। उसमें लक्षणों और उदाहरणों का समावेश है। रस, अलंकार नायक-नायिका-भेद, नख-शिखादि विषयों की इन रचनाओं में प्रधानता है। हिततरंगिणी, रसमंजरी, नख-शिख (बलभद्र और केशव के), कविप्रिया, रसिकप्रिया, बरवै-नायिका-भेद आदि इसी प्रकार की रचनाएँ हैं। इन पर संस्कृत के अनेक रीति-ग्रंथों की छाया है, जैसे काव्यादर्श, काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, रसमंजरी, अलंकार-शेखर, काव्यकल्पलतावृत्ति आदि।

तृतीय अध्याय

कथावस्तु और आधार

पिछले अध्यायो में संस्कृत और हिन्दी-साहित्य के रूप और शाखाओं की विवेचना से दोनों के रूपसम्बन्ध को स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है। इस अध्याय में हिन्दी-प्रबन्धकाव्य के कथावस्तु का निरीक्षण करते हुए संस्कृत-साहित्य में उसके आधार की खोज की गई है। प्रबन्ध काव्य के अतिरिक्त वे मुक्तक रचनाएँ भी, जिनमें किसी प्रकार के कथानक का आभास मिलता है, प्रस्तुत विवेचना में सम्मिलित कर ली गई हैं; किन्तु जिनके कथानक स्वतंत्र हैं अथवा जिनका संस्कृत-साहित्य से कोई सम्बन्ध नहीं है उन र॰नाओं की इस अध्याय में परीक्षा नही की गई है। उपर्युक्त दृष्टि से विवेचनीय रचनाएँ ये हैं: (क' रामचरित मानस, रामचन्द्रिका, (ख) जानकी मंगल, पार्वती मगल, माधवानल कामकन्दला, 'वेलि क्रिसन रुकमिणी री', भँवरगीत, रुक्मिनी मंगल, सुदामा चरित्र (नंददासकृत), रासपचाध्यायी, रूपमजरी, विरहमजरी, सुदामा चरित (नरोत्तमदासकृत), विज्ञान गीता, (ग) गीतावली, कवितावली, विनयपत्रिका, सूरसागर और दशमस्कंध।

(क)

रामचरितमानस

इसका मूल उद्गम वाल्मीकि रामायण है। कथाश प्रायः उसी की भाँति चलता है, किन्तु विस्तारों में अन्य ग्रन्थों की सहायता भी ली गई है। आदर्श में अध्यात्म रामायण का प्रभाव अभिव्यक्त होता है। कितने ही स्थलों पर गोस्वामीजी ने अपनी मौलिक सृजन शक्ति का भी परिचय दिया है।

बालकांड

मानस का आरंभ मंगलाचरण के साथ साथ सज्जनो और असज्जनों की वन्दना के साथ होता है। तुलसीदास अपने पूर्वज कवियों और देवों को प्रणति-प्रदान करके रामकथा की महिमा वर्णन करते हैं। ग्रन्थ का प्रारंभ संस्कृत-साहित्य मे प्रचलित काव्य-परपरा के अनुकूल हुआ है। कथा का कारण बताते हुए गोस्वामीजी ने लिखा है कि कथा का प्रथम वर्णन शिवजी के मुख से पार्वती के प्रति हुआ था। मानस में शिवद्वारा वर्णित राम-कथा का मूल कारण सतीमोह है।

यह उपाख्यान शिवपुराण[1] के आधार पर लिखा गया है। दोनों कथाओं में इतना साम्य है कि छोटे छोटे विस्तार भी मिलते हैं।

पहले शिवजी पार्वती को भगवान् के अवतार का सामान्य कारण[2] गीता[3] के अनुकूल वर्णन करते हैं। फिर मानसकार ने भगवान् विष्णु के पार्षद जय-विजय के सनकादि द्वारा शापित होने तथा उनकी मुक्ति के लिए भगवान् के अवतार लेने का वर्णन[4] भागवत के आधार पर किया है। पुनः दशरथ के घर में भगवान् का अवतार कश्यप को दिये हुए अपने वर की पूर्ति के लिए होता है। यह उपाख्यान अध्यात्म[5] रामायण के आधार पर लिखा गया है। जलन्धरोपाख्यान में भगवान् के अवतार का एक और कारण मिलता है। यह उपाख्यान शिवपुराण और पद्म पुराण दोनों में विस्तारपूर्वक लिखा गया है, किन्तु मानस में यह कथा शिवपुराण से ही ली गई प्रतीत होती है, क्योंकि पद्मपुराण में इस कथा के विस्तार मानस से कुछ भिन्न हैं और शिवपुराण[6] से मिलते हैं। हाँ, मानस में वृन्दा द्वारा विष्णु के शापित होने का विवरण कुछ अधिक संक्षिप्त कर दिया गया है। नारद-मोह की उपकथा गोस्वामीजी ने शिवपुराण[7] के सदृश विस्तार-पूर्वक लिखी है। इसमें कहीं तो शिवपुराण का भावानुवादमात्र है और कहीं शब्दानुवाद। कहीं कहीं सौन्दर्य-सन्निवेश के लिए विस्तारों को न्यूनाधिक भी कर दिया गया है। शिवपुराण में जो पद शिव को मिला है मानस में वही हरि को। ध्यान रहे कि नारद का शाप भी भगवान के अवतार का एक कारण है।

स्वायंभुव मनु और शतरूपा को भगवान् का वरदान भी उनके अवतार का एक कारण था। यह कथा भागवत अष्टम स्कन्ध के पहले अध्याय में मिलती है, परन्तु विस्तारों में मानस और भागवत का ऐक्य नहीं है। भागवत के अनुसार मनु शतरूपा रानी के साथ सौ वर्ष तक एक पैर से खड़े होकर घोर तपस्या करते हैं और परिणामस्वरूप भगवान् यज्ञपुरुष अपने पुत्र याम नामक

१—शिवपुराण पूर्वार्द्ध, द्वितीय खंड, अध्याय २४-२६

२—जब जब होइ धरम कै हानी : बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी।
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी : सीदहिं विप्र धेनु सुर धरनी।
तब ·· ... × ......सरीरा : ... ·· × ...सज्जन पीरा।
रा० च० मा० : पृ० १२२

३—गीता ४ । ७८

४—भागवत ७ । १ । ४३-४६

५—अध्यात्म रामा०, बा० कां० २, २५-२८।

६—शिवपुराण, द्वितीय रुद्र संहिता, पंचम युद्धखंड, अध्याय २३

७—शिवपुराण, द्वितीय रुद्र संहिता, प्रथम खंड, अध्याय २५

देवों के साथ प्रकट होकर मारक राक्षसों और दैत्यों से उनकी रक्षा करके और उन्हें स्वर्ग-शासन देकर इन्द्र-पद पर स्थापित कर देते हैं, परन्तु मानस में मनु की तपस्या का समय तेईस सहस्र वर्ष है। यहाँ वे स्वर्ग का शासन नहीं लेते, अपितु भगवान् से अपने यहाँ पुत्र रूप से उत्पन्न होने का वर लेते हैं। मानस के विवरण से बहुत कुछ मिलता जुलता कर्दमजी का उपाख्यान है। वहाँ कर्दमजी अपनी पत्नी देवहूति के साथ दस सहस्र वर्ष तक भारी तप करके अन्त में भगवान् से वर प्राप्त करते हैं: "मैं भी अपने अंश कलारूप से तुम्हारे वीर्य द्वारा तुम्हारी पत्नी देवहूति के गर्भ से अवतीर्ण होकर सांख्यशास्त्र की रचना करूँगा।[1]" अतः यह सम्भव हो सकता है कि गोस्वामीजी ने दोनों की सहायता से इस उपाख्यान की रचना की हो।

राजा भानुप्रताप की कथा का आधार निश्चित करने में भी कुछ ऐसी ही कठिनता प्रतीत होती है। यह कथा भागवत में वर्णित सौदास के उपाख्यान[2] से बहुत कुछ मिलती है। वहाँ राक्षस रसोइये का कपट-रूप धारण करके राजा सौदास के घर रहता है और भोजन के लिए आए हुए वसिष्ठजी को मनुष्य का मांस राँध कर परस देता है। मुनि ध्यानबल से ताड़ जाते हैं और राजा को 'राक्षस हो' ऐसा शाप देते हैं। यह शाप बारह वर्ष के लिए लागू होता है। मानस में कपटी मुनि अपना बदला लेने के लिए रसोइये के वेष में राजा भानुप्रताप के घर रहता है और भोजन के लिये आए हुए ब्राह्मणों को ब्राह्मण का मांस परस देता है, किन्तु आकाशवाणी द्वारा उन्हें अभक्ष्य की सूचना मिल जाती है और वे राजा को 'राक्षस हो' ऐसा शाप देते हैं। राजा के नाम के सिवा विस्तारों में विशेष अन्तर नहीं दीख पड़ता। मानस के इस उपाख्यान पर भागवत का कितना ऋण हो सकता है, उपर्युक्त तुलना से स्पष्ट है।

इसके अनन्तर मूल कथा अध्यात्म रामायण के समान चल पड़ती है। रावणादि के पाप भार से व्याकुल वसुंधरा देव और मुनियों के साथ ब्रह्मलोक में जाकर अपना दुःख निवेदन करती है। पुनः सब मिलकर भगवान् विष्णु का ध्यान करते हैं। इसी समय भगवान् आकाशवाणी द्वारा सूचना देते हैं कि पूर्वजन्म में कश्यप और अदिति के महातप से प्रसन्न होकर मैंने उन्हें वर दिया था। वे कौसलपुरी में राजा दशरथ और कौसल्या के रूप में प्रकट हुए हैं। मैं उनके घर में अवतार लूँगा।[3] यहाँ तुलसी के भाव-सौन्दर्य की मौलिकता अध्ययन

१—भागवत ३ । २२ । ३१

२—भागवत ६ । ६ । १

३—रा० च० मा०, पृ० १७८

तु० की०: अ० रा०, बा० कां०, २ । २५-२८

की वस्तु है। मानस में धरा अपनी वेदना लेकर सुरों के निकट जाती है। वे सब भगवान के खोजने के सम्बन्ध में असमंजस में पड़ जाते हैं, किन्तु भगवान् शिव उन्हें यह परामर्श देते हैं:

हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना।
देश काल दिसि बिदिसहु माँहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं।
अग जग मय सब रहित बिरागी। प्रेम ते प्रभु प्रगटइ जिमि आगी।

रा० च० मा०, पृ० १७६-१७७

अध्यात्म रामायण[1] में पृथ्वी और देवों को क्षीरसागर पर जाने की आवश्यकता होती है। इससे भगवान् की व्यापकता का महत्व प्रत्यक्ष नहीं होता। मानस में भगवान् द्वारा भू-भार-हरण की सूचना देवों को आकाशवाणी द्वारा मिलती है, किन्तु अध्यात्म रामायण में भगवान् ब्रह्मादि के समक्ष प्रकट होकर उन्हें सान्त्वना प्रदान करते हैं।

मानस में राजा दशरथ वसिष्ठजी के आदेश से शृंग ऋष्य के निरीक्षण में पुत्रेष्टि यज्ञ करते हैं। हव्यवाहन भगवान् अग्नि एक स्वर्णपात्र में पायस लेकर प्रकट होते हैं और राजा को उसे रानियों में बाँटने के लिए आदेश देते हैं। कौसल्या और कैकेयी को राजा स्वयं हव्य प्रदान करते हैं, किन्तु सुमित्रा को वह कौसल्या और कैकेयी के हाथों से दिलाया जाता है। रघुवंश और अध्यात्म रामायण में भी सुमित्रा को अन्य रानियों द्वारा ही पायस दिलाया जाता है, किन्तु वाल्मीकि रामायण में तीनों रानियों को स्वयं राजा ही पायस बाँटते हैं। पायस-विभाजन के सम्बन्ध में आधार-ग्रन्थों में मतभेद है। अध्यात्म रामायण[2] में राजा पायस को कौसल्या और कैकेयी में आधा-आधा बाँट देते हैं। उसी समय सुमित्रा भी आ पहुँचती है और दोनों रानियाँ अपने-अपने भागों में से आधा-आधा सुमित्रा को दे देती हैं। वाल्मीकि रामायण[3] के अनुसार पायसार्द्ध कौसल्या को, शेषार्द्ध सुमित्रा को, शेषार्द्ध कैकेयी को, और शेष अष्टमांश पुनः सुमित्रा को दिया जाता है। मानस[4]

१—"तस्मात्क्षीरसमुद्रतीरमगमत्" अ० रा०, बा० कां०, २.७

२—अ० रा०, बा० कां०, ३.१०-१२

३—वा० रा०, बा० कां० १६.२७-२८

४—अरध भाग कौसल्यहि दीन्हा। उभय भाग आधे कर कीन्हा।
कैकेयी कहं नृप सो दयऊ। रहेउ सो उभय भाग पुनि भयऊ।
कौसल्या कैकेयी हाथ धरि। दीन्ह सुमित्रहि मन प्रसन्न करि।

रा० च० मा०, पृ० १८१

का विभाजन रामायण[१] तिलक के अनुसार बतलाया गया है जिसमें चरु-विभाग सम्बन्धी श्लोक इस प्रकार है :—

"इत्युक्त्वा प्रददौ तस्यै हविषोऽर्द्धं नराधिपः।
स्वयमेव समंकृत्वा भागं भागवतां वरः॥
अर्द्धादर्द्धं ददौ चापि कैकेय्यै स नराधिपः।
चतुर्भागं द्विधा कृत्वा सुमित्रायै ददौ तदौ॥"

कालान्तर में रानियाँ गर्भ धारण करती हैं और यथाकाल रामादि का जन्म होता है। अवतार से पूर्व ब्रह्मादि द्वारा भगवान विष्णु की स्तुति का वर्णन भागवत[२] से प्रभावित होकर किया गया है। सायुध चतुर्भुजरूप में जन्म लेकर माता को दर्शन देने का वितरण अध्यात्म[३] रामायण और भागवत[४] दोनों में मिलता है।

एक दिन कौसल्या राम को एक ही समय दो स्थानों पर देखती हैं, पालने में सोता हुआ और पाकशाला में भोजन करता हुआ। इससे माता को विस्मय होता है। यह तुलसी की मौलिक उद्भावना है। किन्तु 'विस्मित माता को हँसकर अपने विराट् रूप के दर्शन कराने' का भाव भागवत[५] के अनुरूप मिलता है। श्री कृष्ण भगवान् ने भी यशोदा को ऐसे ही विराट् रूप के दर्शन कराये हैं।

कुछ काल पश्चात् महर्षि विश्वामित्र राजा के पास आते हैं और उनसे सानुज राम को माँगते हैं। ऋषि की यह माँग अध्यात्म[६] रामायण के अनुसार है। वाल्मीकि रामायण[७] में तो केवल राम को ही माँगा गया है। अध्यात्म रामायण में राम-लक्ष्मण को देने के विषय में राजा विश्वामित्र के साथ कोई तर्क नहीं करते, कुछ चिन्ताकुल अवश्य हो जाते हैं, किन्तु गुरु वशिष्ठ के कहने से वे अपने दोनों पुत्रों को ऋषिराज के साथ भेज देते हैं। वाल्मीकि रामायण[८] में राजा राम को देने में कुछ संकोच करते हैं। राजा की आनाकानी तर्कगर्भित है।

१—देखिये, वा० रा० (तिलक), पृ० ३६
२—भागवत १० । २ । २५-४१
३—अ० रा०, बा० कां०, ३ । १६-१७
४—भागवत १० । ३ । ८-९
५—भाग० १० । ८ । ३७-३८
६—अ० रा०, बा० कां०, ४ । ७
७—वा० रा०, बा० कां० १९ । ९,
८—वा० रा०, बा० कां०, सर्ग २०

वे पुत्रों के बदले ससेन स्वयं जाने को तैयार हो जाते हैं। इसी का अनुकरण गोस्वामी जी ने मानस में किया है; किन्तु वाल्मीकि रामायण में राजा की बात सुनकर ऋषि अति कुपित[1] हो जाते हैं और सम्पूर्ण धरा प्रकंपित हो उठती है। इसे मानसकार ने छोड़ दिया है। यहाँ 'राजा की बात सुनकर महर्षि परम हर्ष मानते हैं[2], और इसी में है गोस्वामीजी की सौन्दर्य-भावना का सन्निवेश।

अहिल्योद्धार का घटनास्थल मानस मे अध्यात्म रामायण[3] के अनुरूप गंगा का दक्षिण तट है, किन्तु वाल्मीकि रामायण[4] में यह घटना गंगा पार मिथिला में पहुँचने पर घटती है। अहिल्या की शाप-मुक्ति का विवरण अध्यात्म रामायण[5] के अनुसार है। वाल्मीकि रामायण[6] में राम के दर्शनमात्र से अहिल्या शाप-मुक्त हो जाती है; राम-दर्शन से पूर्व वह अदृश्य थी; राम लक्ष्मण दोनों बड़ी प्रसन्नता से उसके चरणों का स्पर्श करते हैं। यह बात रामचरितमानस में नहीं मिलती। गौतम के शाप से अहिल्या के शिला होने और राम के पाद-स्पर्श से उद्धार होने की बात मानसकार ने अध्यात्म रामायण से ली है; परन्तु यहाँ (मानस में) वाल्मीकि रामायण और अध्यात्म रामायण के समान, राम अहिल्या के चरणों को स्पर्श[7] या प्रणाम[8] नहीं करते।

वाटिका की उपकथा वाल्मीकि और अध्यात्म रामायण में नहीं है। इस वर्णन में मानसकार ने प्रसन्नराघव नाटक का अनुकरण किया है। अन्तर केवल इतना है कि रामचरित मानस में तो राम-लक्ष्मण निशांत में गुरु से पूर्व ही उठ बैठते हैं और शौचादि से निवृत्त होकर, गुरु की आज्ञा लेकर सुमनावचय के लिये मिथिलेश के उद्यान में पहुँचते हैं, किन्तु प्रसन्न राघव[9] मे 'सायतनदेवतार्चनोचितानि कुसुमानि' का उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि प्रसन्नराघव नाटक में

१—वा० रा०, बा० का०, ५१ । ४

२—सुनि नृप गिरा प्रेम रस सानी। हृदय हरप माना मुनि ग्यानी।
रा० च० मा०, पृ० १६८

३—अ० रा०, बा० कां०, ५ । १४-१५

४—देखिये, वा० रा०, बा० कां०, ४५ । ६, तथा सर्ग ४६

५—अ० रा०, बा० कां०, ५ । ३६

६—वा० रा०, बा० का०, ४६ । १६-१७

७—वा० रा०, बा० कां, ४६ । १७

८—अ० रा०, बा० कां०, ५ । ३७

९—प्र० रा० ना०, पृ० ३४

वाटिका-गमन का समय मानस से भिन्न है। मानस में समय प्रातःकाल तथा नाटक में संध्या काल है।

इस घटना से मानस में नाटक की भाँति पूर्वराग की सुन्दर सृष्टि हो जाती है और प्रबन्ध का महत्व बहुत बढ़ जाता है। मानसकार ने नाटकीय घटना का तो अनुवर्तन किया है, पर भावों में आदर्शमूलक अन्तर है। नाटक में सीता के शृंगार और राम के सौन्दर्य का रति-निष्पादक वर्णन है, किन्तु मानस में सीता के लावण्य का शृंगारिक वर्णन नहीं है। तुलसी ने अपनी भक्ति-निर्वाहिणी प्रकृति के अनुकूल सीता की शोभा के वर्णन में श्रद्धा का पुट देकर प्रायः राम के शील एव सौन्दर्य का ही चित्रण किया है। नाटक का वर्णन-चित्र शृंगार-प्रधान और उत्तेजक है और मानस का भक्तिप्रधान एव शमोपेत।

जयदेव ने शृगार की उत्पत्ति के लिए सीता के अनेक अगो का वर्णन किया है, पर गोस्वामीजी ने सीता के सौन्दर्य को इतने में ही प्रस्तुत कर दिया है:।

सुन्दरता कहँ सुन्दर करई। छबि गृह दीप सिखा जनु बरई।
सब उपमा कवि रहे जुठारी। केहि पटतरउँ बिदेह कुमारी।

रा० च० मा०, पृ० २२०

जनक के प्रण की घोषणा प्रसन्नराघव[1] नाटक और हनुमन्नाटक[2] दोनों में समान रूप से मिलती है। इसी को तुलसीदास ने मानस में ले लिया है, किन्तु अपमानसूचक निराशोक्ति से लक्ष्मण के उत्तेजित हो जाने का प्रकरण मानसकार ने हनुमन्नाटक से लिया है। प्रसन्नराघव नाटक एवं अन्य आधार ग्रन्थों में लक्ष्मण की उत्तेजना की बात बिल्कुल नहीं मिलती।

धनुष यज्ञ के रंगस्थल में "राम के रूप को दर्शकों ने अपनी अपनी भावना के अनुरूप देखा है।[3]" कंस के अखाड़े में कृष्ण के संबन्ध में भी दर्शकों की

१—प्र० रा० ना,० पृ० १४ : देखिये, मजीरक की उक्ति

२—हनुमन्नाटक, अंक १ श्लोक ३४

३—जिन्ह कै रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी।
देखहिं भूप महा रनधीरा। मनहुँ बीर रस धरे सरीरा।
डरे कुटिल नृप प्रभुहि निहारी। मनहुँ भयानक मूरति भारी।
रहे असुर छल छोनिप बेखा। तिन्ह प्रभु प्रगट काल सम देखा।
× × × ×
हरिभगतन देखे दोउ भ्राता। इष्टदेव इव सब सुख दाता।
रामहिं चितव भाव जेहि सीया। सो सनेहु नहिं सुख कथनीया।

रा० च० मा,० पृ० २३२-३३

ऐसी ही भावना दीख पड़ती है। अतः स्पष्टतया मानसकार ने भागवत[1] का अनुकरण किया है।

प्रसन्नराघव नाटक[2] के अनुकरण पर मानस में परशुराम आगमन धनुर्भंग के पश्चात्, किन्तु विवाह से पूर्व ही, हो जाता है। परशुराम संवाद में कुछ उक्तियों का समावेश. हनुमन्नाटक के आधार पर भी किया गया है, किन्तु घटना का समय मानस से मेल नहीं खाता। हनुमन्नाटक में वाल्मीकि और अध्यात्म रामायण के समान परशुराम आगमन विवाहोपरान्त मार्ग में होता है।

वाल्मीकि रामायण और अध्यात्म रामायण में परशुराम का संवाद केवल राम के साथ होता है, लक्ष्मण के साथ नहीं। परशुराम के प्रति लक्ष्मण की कोपोक्तियों का समावेश प्रसन्नराघव नाटक और हनुमन्नाटक दोनों में मिलता है। हनुमन्नाटक के द्वितीय अंक में, दूसरे से सातवें श्लोक तक, लक्ष्मण राम को परशुरामजी का स्मरण दिलाकर उनके वेश और कृत्यों का वर्णन करते हैं, २२ से २४ श्लोक तक, परशुराम के प्रति लक्ष्मण की कोपोक्तियाँ हैं। प्रसन्नराघव के चौथे अंक के १४ वें श्लोक में लक्ष्मण सकुतूहल होकर राम से परशुराम का परिचय प्राप्त करते हैं। इसी अंक में आगे पृ० ८१, ८३ और ८४ पर लक्ष्मण की परशुराम के प्रति वक्रोक्तियाँ है। यद्यपि मानस में लक्ष्मण की उक्तियों ने अधिक विस्तार ग्रहण कर लिया है जिनमें मानसकार की प्रतिभा झलक रही है, परन्तु इस संवाद में वक्रोक्ति-शैली का प्रणयन प्रसन्नराघव नाटक के आधार पर हुआ है। राम-परशुराम की अनेक उक्तियाँ प्रसन्नराघव और हनुमन्नाटक दोनों के प्रभाव का साक्ष्य देती हैं। नाटको के राम के वाक्य ही कुछ स्थलों पर मानस में लक्ष्मण की उक्तियाँ बन गये हैं। नाटकों की अपेक्षा मानस में भार्गव के प्रति राम की उक्तियों को सीमित और गंभीर रखकर राम के गांभीर्य-गौरव की रक्षा की गई है।

अध्यात्म रामायण में राम की माताएँ भी बारात में मिथिला जाती हैं। वाल्मीकि रामायण में रानियाँ बारात के साथ नहीं जातीं; मानस में वाल्मीकि रामायण का ही अनुकरण किया गया है।

रघुवंश[3] के समान मानस में भी 'स्रवन समीप भए सित केसा'[4] से राजा दशरथ को जरागमन की सूचना मिलती है और वे शीघ्र

अयोध्या काण्ड

ही गुरु वशिष्ठ की सम्मति से रामचन्द्रजी को युवराजपद पर

१—भाग० १० । ४३ । १७ ।

२—प्र० रा० ना०, पृ० ७५

३—रघुवंश, सर्ग १२, श्लोक २

४—रा० च० मा०, पृ० ३५३

नियुक्त करने की घोषणा कर देते हैं और तिलकोत्सव की तैयारी होने लगती है। इसी समय अभिषेक में विघ्न डालने के लिए देव-प्रेषित सरस्वती मंथरा की बुद्धि[1] को विपरीत कर जाती है। सरस्वती का प्रसंग अध्यात्म[2] रामायण से लिया गया है, किन्तु राम के निकट नारद का आगमन मानस में छोड़ दिया गया है। यह प्रकरण वाल्मीकि रामायण में भी नहीं मिलता।

मंथरा और कैकेयी का संवाद वाल्मीकि और अध्यात्म रामायण दोनों में है, पर मानस में यह वाल्मीकि रामायण के अनुकरण पर प्रतीत होता है।

राम के निर्वासन की सूचना से लक्ष्मण के रोष करने का प्रकरण वाल्मीकि और अध्यात्म रामायण दोनों में मिलता है। लक्ष्मण के कटु वचन उनके वंश को शोभा नहीं देते। दोनों ग्रन्थों से प्रमाणित होता है कि लक्ष्मण को अपने अग्रज के प्रति अमित प्रेम है, किन्तु माता पिता को वे कुछ अधिक खरी-खोटी सुना डालते हैं। तुलसीदास ने इसे छोड़ दिया है। मानस में लक्ष्मण राम के वन-गमन की सूचना से रुष्ट और क्रुद्ध नहीं होते, अपितु उन्हें दुःख होता है। वे सकंप, सपुलक, साश्रु और उदास होकर व्याकुलता से भागे हुए आते हैं और प्रेमाधीर होकर राम के चरण पकड़ लेते हैं[3], और सोचने लगते हैं कि न जाने रघुनाथ की मेरे लिए क्या आज्ञा हो! मुझे घर ही छोड़ देंगे या साथ ले चलेंगे[4]।

राम के साथ वन गमन के लिए आज्ञा माँगने पर सुमित्रा द्वारा लक्ष्मण के प्रति उपदेश का प्रकरण न तो अध्यात्म रामायण में है और न वाल्मीकि रामायण में। मानस[5] में यह प्रकरण हनुमन्नाटक[6] से लिया गया है।

केवट की प्रेम लपेटी अटपटी वाणी का वाल्मीकि रामायण में कोई उल्लेख नहीं है। हाँ, अध्यात्म रामायण[7] में राम से केवट की अटपटी विनय का प्रसंग अवश्य आया है, किन्तु ऋषि विश्वामित्र के साथ मिथिला जाते समय गंगा तट पर। हनुमन्नाटक[8] में यह प्रकरण वन मार्ग में आता है ... [illegible] ...ंचवटी

१—रा० च० मा०, पृ० ३६२, दो० १३
२—अ० रा०; अयो० का०, २। ४४-४५
३—रा० च० मा०, पृ० ४१३
४—रा० च० मा०, पृ० ४१४
५—रा० च० मा०, पृ० ४१७
६—हनुमन्नाटक, अक ३, श्लोक १०
७—अ० रा०, बा० कां०, ६। ३४
८—ह० ना०, ३। ४८-४९

ऐसी ही भावना दीख पड़ती है। अतः स्पष्टतया मानसकार ने भागवत[1] का अनुकरण किया है।

प्रसन्नराघव नाटक[2] के अनुकरण पर मानस में परशुराम आगमन धनुर्भंग के पश्चात्, किन्तु विवाह से पूर्व ही, हो जाता है। परशुराम संवाद में कुछ उक्तियों का समावेश. हनुमन्नाटक के आधार पर भी किया गया है, किन्तु घटना का समय मानस से मेल नहीं खाता। हनुमन्नाटक में वाल्मीकि और अध्यात्म रामायण के समान परशुराम आगमन विवाहोपरान्त मार्ग में होता है।

वाल्मीकि रामायण और अध्यात्म रामायण में परशुराम का संवाद केवल राम के साथ होता है, लक्ष्मण के साथ नहीं। परशुराम के प्रति लक्ष्मण की कोपोक्तियों का समावेश प्रसन्नराघव नाटक और हनुमन्नाटक दोनों में मिलता है। हनुमन्नाटक के द्वितीय अंक में, दूसरे से सातवें श्लोक तक, लक्ष्मण राम को परशुरामजी का स्मरण दिलाकर उनके वेश और कृत्यों का वर्णन करते हैं, २२ से २४ श्लोक तक, परशुराम के प्रति लक्ष्मण की कोपोक्तियाँ हैं। प्रसन्नराघव के चौथे अंक के १४ वें श्लोक में लक्ष्मण सकुतूहल होकर राम से परशुराम का परिचय प्राप्त करते हैं। इसी अंक में आगे पृ० ८१, ८३ और ८४ पर लक्ष्मण की परशुराम के प्रति वक्रोक्तियाँ है। यद्यपि मानस में लक्ष्मण की उक्तियों ने अधिक विस्तार ग्रहण कर लिया है जिनमें मानसकार की प्रतिभा झलक रही है, परन्तु इस संवाद में वक्रोक्ति-शैली का प्रणयन प्रसन्नराघव नाटक के आधार पर हुआ है। राम-परशुराम की अनेक उक्तियाँ प्रसन्नराघव और हनुमन्नाटक दोनों के प्रभाव का साक्ष्य देती हैं। नाटको के राम के वाक्य ही कुछ स्थलों पर मानस में लक्ष्मण की उक्तियाँ बन गये हैं। नाटकों की अपेक्षा मानस में भार्गव के प्रति राम की उक्तियों को सीमित और गंभीर रखकर राम के गाम्भीर्य-गौरव की रक्षा की गई है।

अध्यात्म रामायण में राम की माताएँ भी बारात में मिथिला जाती हैं। वाल्मीकि रामायण में रानियाँ बारात के साथ नहीं जातीं; मानस में वाल्मीकि रामायण का ही अनुकरण किया गया है।

रघुवंश[3] के समान मानस में भी 'स्रवन समीप भए सित केसा'[4] से राजा दशरथ को जरागमन की सूचना मिलती है और वे शीघ्र

अयोध्या काण्ड ही गुरु वशिष्ठ की सम्मति से रामचन्द्रजी को युवराजपद पर

१—भाग० १०। ४३। १७। २—प्र० रा० ना०, पृ० ७५

३—रघुवंश, सर्ग १२, श्लोक २ ४—रा० च० मा०, पृ० ३५३

नियुक्त करने की घोषणा कर देते हैं और तिलकोत्सव की तैयारी होने लगती है। इसी समय अभिषेक में विघ्न डालने के लिए देव-प्रेषित सरस्वती मंथरा की बुद्धि[1] को विपरीत कर जाती है। सरस्वती का प्रसंग अध्यात्म[2] रामायण से लिया गया है, किन्तु राम के निकट नारद का आगमन मानस में छोड़ दिया गया है। यह प्रकरण वाल्मीकि रामायण में भी नहीं मिलता।

मंथरा और कैकेयी का संवाद वाल्मीकि और अध्यात्म रामायण दोनों में है, पर मानस में यह वाल्मीकि रामायण के अनुकरण पर प्रतीत होता है।

राम के निर्वासन की सूचना से लक्ष्मण के रोष करने का प्रकरण वाल्मीकि और अध्यात्म रामायण दोनों में मिलता है। लक्ष्मण के कटु वचन उनके वंश को शोभा नहीं देते। दोनों ग्रन्थों से प्रमाणित होता है कि लक्ष्मण को अपने अग्रज के प्रति अमित प्रेम है, किन्तु माता पिता को वे कुछ अधिक खरी-खोटी सुना डालते हैं। तुलसीदास ने इसे छोड़ दिया है। मानस में लक्ष्मण राम के वन-गमन की सूचना से रुष्ट और क्रुद्ध नहीं होते, अपितु उन्हें दुःख होता है। वे सकंप, सपुलक, साश्रु और उदास होकर व्याकुलता से भागे हुए आते हैं और प्रेमाधीर होकर राम के चरण पकड़ लेते हैं[3], और सोचने लगते हैं कि न जाने रघुनाथ की मेरे लिए क्या आज्ञा हो ! मुझे घर ही छोड़ देंगे या साथ ले चलेंगे[4]।

राम के साथ वन गमन के लिए आज्ञा माँगने पर सुमित्रा द्वारा लक्ष्मण के प्रति उपदेश का प्रकरण न तो अध्यात्म रामायण में है और न वाल्मीकि रामायण में। मानस[5] में यह प्रकरण हनुमन्नाटक[6] से लिया गया है।

केवट की प्रेम लपेटी अटपटी वाणी का वाल्मीकि रामायण में कोई उल्लेख नहीं है। हाँ, अध्यात्म रामायण[7] में राम से केवट की अटपटी विनय का प्रसंग अवश्य आया है, किन्तु ऋषि विश्वामित्र के साथ मिथिला जाते समय गंगा तट पर। हनुमन्नाटक[8] में यह प्रकरण वन मार्ग में आता है। वहाँ भी पंचवटी

१—रा० च० मा०, पृ० ३६२, दो० १३
२—अ० रा०; अयो० कां०, २। ४४-४५
३—रा० च० मा०, पृ० ४१३
४—रा० च० मा०, पृ० ४१४
५—रा० च० मा०, पृ० ४१७
६—हनुमन्नाटक, अंक ३, श्लोक १०
७—अ० रा०, बा० कां०, ६। ३४
८—ह० ना०, ३। ४८-४६

मार्ग में गोदावरी के तट पर। मानस[1] में नाटक के आधार पर वन मार्ग ही में केवट राम के चरण धोता है, परन्तु गोदावरी तट पर नही, कवि की इच्छा के साथ गंगा-तट पर।

प्रयाग से आगे वन-मार्ग में ग्रामवासियों की प्रीति की चर्चा रामायणों में नहीं है। इस प्रसंग का श्रेय कवि की मौलिक कल्पना को है। हाँ, प्रेरणा हनुमन्नाटक[2] के 'पथि पथिकवधूभिः सादर पृच्छ्यमाना' आदि श्लोकों से अवश्य मिली दीख पड़ती है।

राम के सविनय पूछने पर सस्मित वाल्मीकि द्वारा उनके रहने योग्य स्थान का निरूपण मानस[3] में अध्यात्म रामायण[4] के आधार पर किया गया है। अन्य किसी ग्रंथ में इसका उल्लेख नही मिलता, परन्तु मानस का यह प्रसंग आधार की अपेक्षा कहीं अधिक कवित्वपूर्ण एवं सुन्दर है।

इन्द्र-भय, सीता स्वप्न, तथा भरतकूप—ये प्रकरण कवि-कल्पना-जन्य हैं। भरत का मार्ग रोकने के लिए निषादराज की तैतारी का प्रसंग कवि की नितान्त मौलिक उद्भावना है। गगन में छाई हुई धूलि आदि से भरतागमन का अनुमान करके लक्ष्मण के कुपित होने का वर्णन वाल्मीकि[5] रामायण के अनुरूप किया गया है। अध्यात्म रामायण में यह प्रसंग नहीं आया।

वनवास-काल में राम और सीता को देखने के लिए जनक का चित्रकूट जाना प्रबन्ध काव्य की दृष्टि से बड़े महत्व का प्रकरण है। यह कवि की मौलिक उद्भावना है। यहाँ कवि की मनोवैज्ञानिक दृष्टि का सौन्दर्य देखने योग्य है।

अरण्य काण्ड

जयंत के नेत्र-भंग का प्रकरण मानस[6] में अरण्य काण्ड के आदि में आता है, किन्तु वाल्मीकि[7] और अध्यात्म[8] रामायण में यह उपाख्यान सुन्दर काण्ड में हनुमान को चूडामणि देते समय सीता के मुख से कहा गया है। वाल्मीकि रामायण में जयन्त

१—रा० च० मा०, पृ० ४३६
२—ह० ना०, ३ । १६, २०, २१
३—रा० च० मा०, पृ० ४६५-६६
४—अ० रा०, अयो० कां०, ६ । ५४-६३
५—वा० रा०, अयो० कां०, ६६ । ३ ३०
६—रा० च० मा०, पृ० ६४६
७—वा० रा०, सु० कां०, सर्ग ३८
८—अ० रा०, सु० कां०, ३ । ५३-६०

द्वारा सीता के उरोज पर चोंच मारने का उल्लेख है, परन्तु मानस में अध्यात्म रामायण के आधार पर चंचु-प्रहार चरण पर किया गया है।

राम द्वारा लक्ष्मण के प्रति धर्म-तत्व का निरूपण मानस[1] में अध्यात्म[2] रामायण से मिलता जुलता है। यह वर्णन वाल्मीकि रामायण में नहीं है।

सीता के अग्नि-प्रवेश तथा लक्ष्मण के रेखा खींचने की बातें वाल्मीकि रामायण में नहीं हैं। गोस्वामी जी ने पहला प्रसंग अध्यात्म रामायण[3] के आधार पर और दूसरा हनुमन्नाटक[4] के आधार पर लिखा है।

सीता की खोज में इधर-उधर फिरते हुए राम से मिलने के लिए नारद के आगमन[5] का प्रकरण कवि कल्पना-प्रसूत है। आधार रामायणों में यह प्रसंग नहीं आता। इसे गोस्वामीजी ने 'नारद-मोह'[6] के परिशिष्ट के रूप में लिखा है। जो नारद उस समय यह नहीं समझ सके थे कि 'सुरूप' माँगने पर भगवान् ने उन्हें 'कुरूप' क्यों दिया, वे यहाँ भली भाँति समझ जाते हैं कि भगवान् का वह कार्य उनके कल्याण के लिए ही था; अब उन्हें अपने दिये हुए शाप के ऊपर पश्चात्ताप भी होता है।

किष्किन्धा काण्ड

बालि-वध की घटना रामचरितमानस में वाल्मीकि रामायण के अनुसार ही है। अन्तर केवल इतना है कि वाल्मीकि और अध्यात्म रामायण में राम से बाली की बातें पहले कुछ अधिक व्यंग्यपूर्ण तथा कठोर रही हैं। रामचरित मानस में पहले कुछ उपालंभ अवश्य है किन्तु आद्योपान्त विनय से युक्त है। मानस में अध्यात्म रामायण के अनुकरण पर अंगद को बाली ने राम को सौंपा है, किन्तु वाल्मीकि रामायण में अंगद सुग्रीव को सौंपा जाता है।

वर्षा और शरद् का वर्णन मानसकार ने वाल्मीकि के अनुकरण पर किया है, किन्तु वाल्मीकि के प्रकृति चित्रण में मानव हृदय का स्फुरण नहीं है। मानस में भागवत के अनुरूप प्रकृति-चित्रण में मानव-जीवन का प्रतिबिम्ब दीख पड़ता है। कुछ उदाहरणों में तो मानसकार भागवत से भी बाजी ले गया है। हाँ, कुछ श्लोकों का मानस में अनुवाद भी मिलता है, पर कुछ वर्णन तो निस्सन्देह मानसकार की मौलिकता के प्रतीक हैं।

वानरों के कंदरा-प्रवेश का प्रसंग वाल्मीकि रामायण और अध्यात्म रामायण दोनों में समान रूप से मिलता है, किन्तु हेमा की सखी स्वयंप्रभा के राम के पास

१—रा० च० मा०, पृ० ६६७-६६ २—अ० रा०, अर० का०, ४। १६-५५
३—अ० रा० अर० का०, ७। २३ ४—ह० ना०, ३। ६५
५—रा० च० मा०, पृ० ७०५ ६—देखिये, रा० च० मा०, पृ० ७३१

जाने, स्तुति करने और वहाँ से बदरिकाश्रम जाने की वार्ता वाल्मीकि रामायण में नहीं है। इस दिशा में मानस ने अध्यात्म[1] रामायण से प्रेरणा ली है।

सुन्दर काण्ड

मानस में सीता के अशोकवाटिका में रहने का पता हनुमान को विभीषण से मिला है, वाल्मीकि रामायण[2] में खोजते-खोजते हनुमान स्वयं सीता के निकट अशोक वन में पहुँच जाते हैं। अध्यात्म रामायण[3] में सीता के अशोकवाटिका में होने का पता हनुमान को लंकिनी से मिलता है। विभीषण से हनुमान की इस विषय में भेंट होने की बात दोनों रामायणों में से किसी में नही है।

रावण-सीता-संवाद में मानसकार ने विशेषतः प्रसन्नराघव[4] नाटक से सहायता ली है, यद्यपि वाल्मीकि और अध्यात्म रामायण में भी यह प्रकरण विशद रूप में मिलता है। सीता और त्रिजटा की बातचीत, जिसे हनुमान वृक्ष पर छिपे छिपे सुनते हैं, प्रसन्नराघव[5] के ही आधार पर लिखी गई है।

मानस में रावण के चले जाने पर सीता, वाल्मीकि और अध्यात्म रामायण के अनुकरण पर, अपनी वेणी से फाँसी लगा कर प्राण विसर्जन करने का निश्चय नहीं करतीं। वे प्रसन्नराघव नाटक के आधार पर चिता रचकर, त्रिजटा द्वारा अग्नि मँगाकर, भस्म हो जाने का निश्चय करती हैं और अग्नि न मिलने पर अशोक से अग्नि-कणिका के लिए याचना करती हैं। इसी समय हनुमान मुद्रिका गिरा देते हैं। मुद्रिका के गिराने का प्रकरण वाल्मीकि और अध्यात्म रामायण में नहीं है। वहाँ यह मुद्रिका गिराई नहीं जाती, वरन् अपने परिचय के उपरान्त हनुमान सीता को उनके विश्वास के लिए उसे हाथों-हाथ देते हैं। सीता को हनुमान द्वारा राम का विरह सन्देश भी प्रसन्नराघव नाटक के अनुकरण पर ही दिया जाता है। इस विषय में कुछ सहायता हनुमन्नाटक से भी ली गई है।

लछिमन देखु मोरगन, नाचत बारिद पेखि।
गृही बिरतिरत हरष जस, बिष्णुभगत कहँ देखि।

तुलना कीजिए, भागवतः १० । २० । २०

मेघागमोत्सवा हृष्टाः प्रत्यनन्दञ्छिखण्डिनः।
गृहेषु तप्ता निर्विण्णा यथाच्युतजनागमे।

१—अ० रा०, कि० कां०, सर्ग ६, ७।
२—वा० रा०, सुं० का०, १५। १
३—अ० रा० सुं० कां०, १। ५६
४—प्रसन्नराघव, अंक ६
५—प्रसन्नराघव, अंक ६
६—प्रसन्नराघव, पृ० १२६
७—प्रसन्नराघव, पृ०१३२, ३३

सेतुबंध के पश्चात् रामेश्वर स्थापना का प्रकरण वाल्मीकि रामायण में स्पष्ट नहीं है। लंका से लौटते समय राम सीता को अनेक स्थल और वस्तुये दिखाते हुए वह स्थान भी दिखाते हैं जहाँ उन्होंने महादेवजी की स्थापना की थी। महादेवजी की स्थापना का संकेत रघुवंश में भी मिलता है, किन्तु यह प्रकरण अध्यात्म[1] रामायण में स्पष्ट है। उसी का अनुकरण मानस में किया गया है।

लंका काण्ड

चन्द्रोदय के विषय में सुवेल पर्वत पर बैठे हुए राम सुग्रीव आदि के प्रश्नोत्तर प्रसन्नराघव नाटक के आधार पर लिखे गये हैं। यद्यपि यह प्रसंग वाल्मीकि रामायण में भी आता है, परन्तु उससे मानस में कोई सहायता नहीं ली गई दीख पड़ती। अध्यात्म रामायण में यह प्रकरण बिल्कुल नहीं है।

मानस में लक्ष्मण मेघनाद की शक्ति से आहत होकर मूर्छित होते हैं किन्तु वाल्मीकि और अध्यात्म रामायण के अनुसार वे रावण की शक्ति के प्रहार से अचेत होते हैं।

वाल्मीकि रामायण के अनुसार मेघनाद लक्ष्मण से तीन बार लड़ता है। प्रथम[2] बार वह राम लक्ष्मण दोनों को नागपाश में बाँध लेता है जिससे उन्हें गरुड़ द्वारा मुक्ति मिलती है। दूसरी[3] बार वह हनुमान, विभीषण और जाम्बवन्त को छोड़कर सम्पूर्ण सेना सहित राम-लक्ष्मण को बाण-बिद्ध कर देता है। उस समय जाम्बवन्त के बताने पर हनुमान हिमालय से संजीवनी बूटी लाकर सबको जीवित कर लेते हैं। तीसरी[4] बार सबको मोहित कर मेघनाद निकुंभिला में यज्ञ करता है और विभीषण की सम्मति पाकर लक्ष्मण वानर-दल की सहायता से उसे विध्वंस करते हैं। तीन दिन तक भीषण सग्राम होता है और अन्त में वह लक्ष्मण के हाथ से मारा जाता है। इसके बाद रावण युद्ध के लिए आता है और रावण की शक्ति से लक्ष्मण घायल होते हैं।

उस समय लक्ष्मण के लिए विलाप करते हुए राम से सुषेण कहते हैं। "अभी लक्ष्मण मरे नहीं है, जिस औषध को जाम्बवन्त ने हनुमान को बतलाया है, यदि वह आये तो लक्ष्मण पुनर्जीवित हो सकते हैं।"

मानसकार ने इस घटनाक्रम में स्वेच्छया परिवर्तन किया है। मानस में मेघनाद पहली लड़ाई में हनुमान से पराजित होकर रणभूमि से चला जाता है, फिर दूसरी बार वह शक्ति से लक्ष्मण पर प्रहार करता है। इसी अवसर पर लक्ष्मण के मूर्च्छित हो जाने पर राम उनके लिए विलाप करते हैं। सुषेण के

१—अ० रा०, ल० का०, सर्ग ४,५ २—वा० रा०, यु० कां०, सर्ग ४५

३—वा० रा०, यु० का०, सर्ग ७३ ४—वा० रा०, यु० कां, सर्ग ६०

आदेश से हनुमानजी सञ्जीवनी बूटी लेने के लिए द्रोणगिरि पर जाते हैं। मार्ग में कालनेमि मिलता है। वे उसे मारकर उसकी माया से मुक्त होते हैं। औषधि लेकर लौटते समय हनुमान भरत से भी मिलकर आते हैं। तीसरी लड़ाई में मेघनाद ने राम-लक्ष्मण को नागपाश में बाँधा है और इसी में वह लक्ष्मण द्वारा मारा गया है। इसके बाद रावण लड़ने आता है किन्तु पराभूत होकर भाग जाता है और शक्ति-संवर्धन के लिए यज्ञ करता है। विभीषण के कहने पर वानर-दल यज्ञ को विध्वंस कर देता है।

अध्यात्म रामायण में नागपाश का कोई जिक्र नहीं है। वहाँ एक बार मेघनाद ब्रह्मास्त्र से वानर सेना को धराशायी कर देता है। इस अवसर पर राम की आज्ञा से हनुमान क्षीरसागर से द्रोणाचल लाते हैं और वानर-सैनिकों को सचेत करते हैं। दूसरी बार विभीषण पर छोड़ी हुई शक्ति से उसकी रक्षा के लिए लक्ष्मण धनुष लेकर उसके सामने आ जाते हैं और अमोघ शक्ति उनके शरीर में घुस कर उन्हें अचेत कर देती है। इस अवसर पर भी हनुमान द्रोणाचल ले आते हैं और औषधोपचार से लक्ष्मण स्वस्थ हो जाते हैं। इस समय राम के विलाप का केवल इतना उल्लेख है कि "मानुषत्वमुपाश्रित्य लीलयानुशुशोच ह।[1]" इसके उपरान्त लक्ष्मण मेघनाद का युद्ध होता है और मेघनाद मारा जाता है। वाल्मीकि रामायण के समान मानस में भी राम का लक्ष्मण के मूर्च्छित होने पर विलाप विशद रूप में वर्णित मिलता है।

द्रोणगिरि से लौटते समय हनुमान का भरत से मिलने का प्रसंग वाल्मीकि और अध्यात्म रामायण में नहीं है।

वाल्मीकि रामायण[2] में रावण द्वारा विभीषण के विसर्जन करने मात्र का ही उल्लेख है, चरण-प्रहार का कोई जिक्र नहीं है। अध्यात्म रामायण[3] में विभीषण रावण के समझाने का निषेध करता हुआ कुंभकर्ण से चरण-प्रहार का जिक्र कर देता है, किन्तु हनुमन्नाटक[4] में यह वर्णन स्पष्ट है। मानस में भी यह वर्णन उसी प्रकार स्पष्ट मिलता है।

अंगद-रावण-संवाद अध्यात्म रामायण में नहीं है। वाल्मीकि रामायण और हनुमन्नाटक में यह संवाद विशद रूप में मिलता है, किन्तु दोनों के भावों में बहुत अन्तर है। मानस का यह प्रसंग हनुमन्नाटक से प्रभावित दीख पड़ता है।

१—अ० रा०, यु० कां, सर्ग ६ श्लोक ३२

२—वा० रा०, यु० कां०, सर्ग १०, श्लोक २६

३—अ० रा०, यु० का०, ८। १२ ४—ह० ना०, ६। ४७

मन्दोदरी द्वारा रावण को समझाने का प्रसग मानस में चार स्थानों पर मिलता है। पहली बार[1] वह समुद्र-तट पर राम-सेना के आगमन की सूचना पाकर एकान्त में उसे समझाती है; दूसरी[2] बार वह समुद्र पर सेतु बाँध कर राम का ससेन लंका मे आना सुनकर उसे हाथ पकड़ कर भवन में ले जाती है और समझाती है; तीसरी[3] बार वह उसे उस समय समझाती है जब कि उसके कर्णपूर भूमि पर गिर जाते हैं और रावण के छत्र, मुकुट और कुण्डल राम-वाण द्वारा नष्ट हो जाते हैं। चौथी[4] बार वह रावण का अभिमान विचूर्ण करके अगद के राम के निकट लौट जाने पर व्याकुल पति को समझाती है। वाल्मीकि रामायण मे यह प्रकरण नही है। अध्यात्म रामायण[5] में यह प्रकरण एक बार आता है। वह उस समय जब कि अगद मन्दोदरी की चोटी पकड़ कर खींचता है, वह बहुत विलाप करती है, रावण की गर्वोक्तियाँ उसे पसन्द नही आतीं; तब वह उसे समझाती है और राम से संधि करने के लिए कहती है। हनुमन्नाटक मे यह अवसर तीन बार आता है: पहली[6] बार, राम सेना द्वारा समुद्र पार कर लेने पर, दूसरी[7] बार कुंभकर्ण-वध के उपरान्त, और तीसरी[8] बार रावण के सब पुत्रों के वध के पश्चात्।

कुंभकर्ण के वध के उपरान्त नारद के आने और राम की स्तुति करने का वाल्मीकि रामायण में कोई वर्णन नहीं है, मानस में यह प्रसंग अध्यात्म रामायण के अनुकरण पर लिखा गया है।

युद्धावसान पर अमृत वर्षा से इन्द्र द्वारा वानर-सेना को पुनर्जीवित करने का प्रसंग मानसकार[9] ने अध्यात्म रामायण[10] से प्रभावित होकर लिखा है। वाल्मीकि रामायण[11] में अमृत-वर्षा का विवरण नही है। वहाँ इन्द्र की इच्छामात्र से मृतक सजीव हो उठते हैं।

उत्तरकाड

मानस का उत्तरकाण्ड कथा की दृष्टि से इतना उपयोगी नही है जितना सिद्धान्तों की दृष्टि से। भक्ति, ज्ञान आदि का जो वर्णन उत्तरकाण्ड मे मिलता है वह दार्शनिक दृष्टि से बड़े महत्व का है। भुशुंडि और गरुड़ का प्रसंग किसी आधार

१—रा० च० मा०, पृ० ७६१

२—रा० च० मा०, पृ० ८२४

३— ,, पृ० ८३३

४— ,, पृ० ८५८

५—अ० रा०, यु० कां०, सर्ग १०

६—ह० ना०, ६ । ४७

७—ह० ना०, ६ । ४८

८—ह० ना०, ६ । ५७

९—रा० च० मा०, पृ० ६५५

१०—अ० रा०, यु० कां०, १३ । ३६

११—वा० रा०, लं० कां०

विशेष की ओर संकेत करता है। लेखक ने अयोध्या में भुशुंडि रामायण के नाम से एक भग्न ग्रन्थ देखा था। संभवतः तुलसीदास ने यह उपाख्यान उसी ग्रन्थ से लिया हो। गर्ग संहिता[1] में भी काकभुशुंडि नामक एक परम तपस्वी का उल्लेख है जो नील पर्वत पर रहते थे। वे बड़े भक्त और शास्त्रज्ञ थे। उन्होंने गरुड़ को रामकथा सुनाई थी।

'कलियुग-वर्णन'[2] तथा 'ज्ञान-दीप'[3] पर भागवत का प्रभाव दीख पड़ता है।

रामचन्द्रिका

रामचन्द्रिका की कथावस्तु प्रायः वाल्मीकि रामायण के अनुरूप चलती है, किन्तु विस्तारो में अध्यात्म रामायण, हनुमन्नाटक, और प्रसन्न राघव नाटक से भी सहायता ली गई है। ग्रन्थ के विस्तारों को प्रभावित करने में नाटकों का बहुत हाथ रहा है। इनकी सबसे अधिक छाया संवादों में है। शैली में संस्कृत के कुछ अन्य ग्रन्थों ने भी पथ-प्रदर्शन किया है, परन्तु उनकी गणना हम रामचन्द्रिका के आधारों में इसलिए नहीं करते कि कथावस्तु पर उनका कोई प्रभाव नहीं है।

रामचन्द्रिका का श्रीगणेश कवि-वंश-परिचय और रचना हेतु से होता है। इसका कारण प्रचलित कवि परिपाटी दीख पड़ती है जिसका सस्कृत में बहुत मान रहा है। मूल कथा का उदय, हनुमन्नाटक[4] के अनुकरण पर, राजा दशरथ के चार पुत्रों के जन्म-परिचय से होता है।

'अवतार कारण,' 'पुत्रेष्टि यज्ञ,' और रानियों मे हव्य-वितरण के प्रसंगों का यहाँ लोप है। एक ही छन्द मे अवध का परिचय देकर कवि ने ऋषि विश्वामित्र के आगमन की चर्चा कर दी है। इसी के साथ सरयू, राजा दशरथ के हाथियों, तथा बाग और नगर की शोभा का वर्णन किया गया है। ये वर्णन मौलिक हैं।

दूसरे प्रकाश का आरम्भ राज-सभा के वर्णन से होता है। राजा द्वारा ऋषि के स्वागत, उनकी राम विषयक मांग और दशरथ के आना-कानी करने पर उनके कोप एव वसिष्ठ के समझाने पर राम को ऋषि के साथ भेजने के लिए राजा के उद्यत हो जाने का वर्णन वाल्मीकि रामायण के आधार पर किया गया है।

राम और लक्ष्मण को अपने साथ लेकर विश्वामित्र तपोवन को चल देते हैं। उसी समय वे अभिमन्त्रित आयुध राम को देते हैं। वाल्मीकि रामायण में ये आयुध तारका-वध के उपरान्त दिये जाते हैं। सहसा राम के लोभ,

१—गर्ग संहिता, वृन्दावन खंड, अध्याय १०, श्लोक १५-१६

२—भाग० १२। २,३

३—भाग० ११। २०

४—ह० ना०, पृ० ११, श्लोक १५, पृ० १२, श्लोक १६

५—रा० चं० १। २२

क्षोभ, मोह, गर्व, काम-कामना, नींद, भूख, प्यास, त्रास और वासना का विनाश हो जाता है।[1] यह सब कैसे हुआ, रामचन्द्रिका में इसका कोई उल्लेख नहीं है।

तीसरे प्रकाश में वन-वर्णन के पश्चात् आश्रम-वर्णन आता है। दोनों में कादंबरी की अलंकार शैली का आग्रह दीख पड़ता है। केशव ने ताटका-वध का वर्णन विश्वामित्र के आश्रम मे पहुँच जाने पर किया है। वाल्मीकि ने यह घटना मार्ग में ही दिखलाई है; इसी के अनन्तर राम को दिव्यास्त्र दिये जाते हैं। ऋषि-मख पूर्ण होते न-होते राजा जनक के धनुष-यज्ञ की वार्ताएँ आश्रम में आने लगती हैं। यज्ञ स्थल को देखकर लौटा हुआ एक ब्राह्मण आश्रम के निकट से जाता है। उसे बुलाकर ऋषि उससे यज्ञ का समाचार पूछते हैं। ब्राह्मण का जन्म कवि-कल्पना से हुआ है, परन्तु उसकी उक्तियों पर 'प्रसन्न-राघव' नाटक के मंजीरक और 'नूपुरक' के कथोपकथन की छाया है। यह ब्राह्मण जनक के यज्ञस्थल में 'सुमति' और 'विमति' नामक दो बन्दी सुतों का होना बतलाता है। वे वहाँ आये हुए राजाओं का परिचय देते हैं। राजाओं के वर्णन के लिए सुमति-विमति की सृष्टि प्रसन्नराघव नाटक के अनुकरण पर हुई है। नाटक के विष्कभक के दो पात्र मजीरक और नूपुरक ही रामचन्द्रिका में सुमति और विमति का नाम प्राप्त कर लेते हैं। दोनों ग्रन्थों के उक्त पात्रों के सवादों में बहुत कुछ साम्य है।

दोनों पात्रो की उक्तियों में केशव ने कुछ मौलिक उद्भावनाएँ भी प्रस्तुत की हैं। जहाँ नाटक में मजीरक ने 'किमधुना'[2] 'निर्वीरसुर्वीतलम्' से अपना विषाद प्रकट किया है, वहाँ रामचन्द्रिका में विमति ने 'चाप चढ्योनहिं आप चढे खर'[3] 'तथा 'आये ह्वै बीर चले बनिता ह्वै'[4] से आमंत्रित राजाओं का उपहास किया है।

चौथे प्रकाश में बाण-रावण संवाद है। वह प्रसन्नराघव नाटक के बाण-रावण-संवाद का अनुकरण है। केशव ने नाटक के भावानुवाद में जहाँ तहाँ केशवता का परिचय भी दिया है। बाण[5] तो धनुष और सीता के प्रति श्रद्धा रखकर वहाँ से चला जाता है, परन्तु रावण उसी समय कठिन प्रतिज्ञा करता है कि जब तक उसके कानों में किसी सेवक की आर्त पुकार न आएगी, वह वहाँ से सीता-बिना न टलेगा।[6] इधर तो रावण यह व्रत लेता है, उधर आकाश में किसी नाराच-पीड़ित व्यक्ति का आक्रन्द सुनाई पड़ता है। उसे सुनते ही रावण

१—रा० चं० २। २८
२—प्र० रा० ना०, पृ० १५
३—रा० चं० ३। ३३
४—रा० च० ३। ३४
५—रा० च० ४। २८
६—रा० चं० ४। २९

वहाँ से चल देता है।[1] इस प्रसंग का सन्निवेश प्रसन्नराघव[2] नाटक के अनुकरण पर किया गया है।

पाँचवें प्रकाश का आरंभ यज्ञस्थल में आई हुई चित्रहस्ता ऋषि पत्नी के वर्णन के साथ होता है। यह वर्णन भी विप्र द्वारा किया जाता है। महर्षि विश्वामित्र ब्राह्मण के मुख से यह सुनकर कि वह चित्र सीता के भावी वर का है और राम के रूप से मिलता है, बहुत प्रसन्न होते हैं। यह प्रसंग कवि की स्वतंत्र कल्पना पर अवलंबित है।

तदनन्तर महर्षि राम लक्ष्मण के साथ मिथिला को चल देते हैं। मार्ग में राम द्वारा अहिल्या का उद्धार होता है। अध्यात्म रामायण की तरह यहाँ अहिल्या शिलारूप में स्थित है। प्रसन्नराघव[3] का अनुकरण करते हुए केशव[4] रामादि का मिथिला-प्रवेश सूर्योदय के समय ही बतलाते हैं। रामचन्द्रिका के पाँचवे प्रकाश में ६ से १४ छन्द तक सूर्योदय का वर्णन है। नाटक और चन्द्रिका दोनों के सूर्योदय वर्णन में भाव-साम्य होते हुए भी दूसरे ग्रन्थ का वर्णन विचित्रोक्तिगर्भित है। जिस प्रकार जयदेव[5] ने सूर्योदय का वर्णन राम, लक्ष्मण और विश्वामित्र द्वारा कराया है, उसी प्रकार केशव[6] ने भी।

इसके उपरान्त विश्वामित्र और जनक का मिलन, पारस्परिक शिष्टाचार, विश्वामित्र द्वारा जनक को राम लक्ष्मण का परिचय, राम की शक्ति के विषय में जनक की शंका और विस्मय, राम द्वारा धनुभंग, सीता का राम को जयमाल पहिनाना—ये वर्णन केशव ने जयदेव[7] से प्रभावित होकर लिखे हैं।

छठे प्रकाश में राजा जनक दशरथ को लग्नपत्रिका भेजते हैं। वे बारात सजाकर आते हैं और रामादि का विवाह हो जाता है। ये प्रकरण बहुत संक्षेप में लिखे गये हैं। इसके अनन्तर शिष्टाचार, ज्योनार, पलकाचार तथा राम और सीता के रूप-वर्णन की योजना केशव ने अपने मौलिक ढंग से की है।

सातवें प्रकाश में परशुराम आगमन, परशुराम और वामदेव की बातचीत, परशुराम का क्रोध, उनके साथ रामादि चारों भाइयों का संवाद, और दोनों पक्षों का झगड़ा बढ़ता हुआ देखकर महादेव के आगमन एवं मध्यस्थ होने का वर्णन है।

१—रा० च० ४।३०

२—प्र० रा० ना०, पृ० २६, पं० ८

३—प्र० रा० ना०, पृ० ५५ देखिये 'एतत् तर्कय... विद्योतते।'

४—रा० चं० ५।८। देखिये, 'पुर पैठत श्रीराम के भयो मित्र उद्दोत'

५—प्र० रा० ना०, पृ० ५५

६—रा० च० ५।६, १०, ११, १२, १३, १४।

७—प्र० रा० ना०, पृ० ५७-७२

परशुराम आगमन में कवि ने प्रसन्नराघव का अनुकरण न करते हुए, वाल्मीकि रामायण का अनुकरण किया है। रामचन्द्रिका में वे विवाह के पश्चात् बारात के विदा होने पर मार्ग में मिलते हैं।

प्रसन्नराघव नाटक में धनुर्भंग के सम्बन्ध में परशुराम की बातचीत पहले सतानन्द के शिष्य ताण्ड्यायन से होती है, किन्तु रामचन्द्रिका में परशुराम का धनुष विषयक प्रथम वार्तालाप वामदेव ऋषि के साथ होता है। जिस प्रकार नाटक में ताण्ड्यायन की बात पूरी होते-न होते, अधूरी बातों के प्रसंग से ही, परशुराम यह अनुमान लगा लेते हैं कि शिव-कोदण्ड रावण ने तोड़ा है, उसी प्रकार रामचन्द्रिका में भी वामदेव के मुख से 'रा'[1] निकलते ही वे 'रावण' समझ बैठते हैं और कोप से अपना परशु उठा लेते हैं।

अभी वामदेव से बातें हो ही रही हैं कि राम अपने भाइयों सहित आकर ऋषि को प्रणाम करते हैं और उनके साथ संवाद छिड़ जाता है। रामचन्द्रिका में रामचरितमानस या प्रसन्नराघव की तरह परशुराम-संवाद केवल राम-लक्ष्मण के साथ ही नहीं, अपितु चारों भाइयों के साथ होता है। राम के सिवा अन्य तीनों भाइयों का रोष तो इस सीमा पर पहुँच जाता है कि अपने अपने धनुषों पर बाण संधानित कर लेते हैं, किन्तु राम उन्हें समझा बुझाकर रोक देते हैं।[2]

शिव की मध्यस्थता से राम और परशुराम का कलह शान्त हो जाता है और परशुराम की आँखे खुल जाती हैं कि रामावतार हो गया है और उनका (परशुराम का) युग समाप्त हो चुका है। शिवागमन केशव की मौलिक उद्भावना का परिणाम है। किसी आधार ग्रंथ में इसका संकेत नहीं मिलता।

इसके अनन्तर परशुराम के भय से मूर्च्छित हुए दशरथ को सचेत करके राम गाजे-बाजे के साथ अयोध्या को चल देते हैं।

आठवे प्रकाश में बारात के अवध पहुँच जाने पर नगर के अलंकरण और नागरिकों के हर्ष-समारोह का वर्णन है। इसकी प्रेरणा आधारों से मिलने पर भी कवि की निजी मौलिकता स्पष्ट है।

नवें प्रकाश में राजा दशरथ भरत और शत्रुघ्न को उनके मामा के घर भेज देते हैं और राम के राज्याभिषेक के सम्बन्ध में वसिष्ठजी से परामर्श लेते है। भरत की माँ इसकी सूचना पाकर राम के निर्वासन का प्रण ठान लेती है। मंथरा के प्रसंग को यहाँ बिल्कुल छोड़ दिया गया है। छोड़ने का मूल कारण कवि द्वारा प्रसन्नराघव[3] नाटक और हनुमन्नाटक[4] का अनुकरण है। इन दोनों

१—रा० चं० ७४
२—रा० चं० ७-२४
३—देखिये, प्र० रा० ना०, पृ० ६४-६५ हि० सा० सं० प्र०—७
४—देखिये, ह० ना०, पृ० ८६-८७

ही नाटकों में राजतिलक की तैयारियों को देखकर कैकेयी दशरथ से अपने दो वरों को माँग लेती है। एक से भरत को राज्य और दूसरे से राम को १४ वर्ष का वनवास।

राजा से कैकेयी के वर माँगने की बात राम के कानों में पहुँचती है और राम उठकर विपिन[1] को चल देते हैं। यहाँ राम द्वारा राजा से आज्ञा माँगने की बात का कोई उल्लेख नहीं है। इस अवसर पर सभी आधार ग्रंथों में राजा के प्रति राम की प्रणति का उल्लेख है। प्रसन्नराघव[2] और हनुमन्नाटक[3] जैसे दृश्य-काव्यों में भी इसका समावेश कर दिया गया है। यह अवहेलना केशव से क्यों हुई समझ में नहीं आता।

एक और विशेष बात यहाँ यह मिलती है कि राम अपने निर्वासन का संदेश किसी व्यक्ति विशेष से नही पाते। वाल्मीकि रामायण और अध्यात्म रामायण में यह संदेश राम को कैकेयी के मुख से ही मिल जाता है और हनुमन्नाटक में इसकी सूचना सुमंत्र द्वारा दी जाती है। हाँ, प्रसन्न राघव में संदेश देने वाले किसी व्यक्ति विशेष का नाम नही आता, वहाँ राम को कैकेयी के अभिप्राय की सूचना किसी भी प्रकार मिल जाती है। इसी का अनुकरण केशव ने किया है।

राम द्वारा पुत्र-धर्म और नारी-धर्म का निरूपण तो वाल्मीकि रामायण में भी मिलता है, किन्तु विधवा-धर्म के वर्णन में कवि की मौलिक योजना दीख पड़ती है।

राम-सीता और राम-लक्ष्मण के संवादों मे केशव ने वाल्मीकि के भावों को अति संक्षेप में ग्रहण किया है। रामचन्द्रिका में सीता के प्रति वन के संकटों का वर्णन लक्ष्मण करते हैं। राम तो इतना भर कहते हैं: 'हे प्रिये मैं पिताजी की आज्ञा से वन जा रहा हूँ। तुम माताजी की सेवा के लिए घर पर ही रहो या आज ही अपने पिता के घर चली जाओ।[4]" वाल्मीकि रामायण में सीता को राम और कौसल्या दोनों ही वन के संकटो का वर्णन करके उन्हें घर पर रहने के लिए फुसलाते हैं। वन-गमन के प्रकरण में केशव ने प्रसन्नराघव नाटक के भावों का समावेश किया है।

दशवें प्रकाश में भरत का आगमन, भरत-कैकेयी-सवाद, भरत का कौसल्या के समक्ष अपनी निर्दोषता प्रकट करना, उनका राम के पास जाना, लक्ष्मण का कोप, भरत का राम से लौटने का आग्रह, गंगा के समझाने पर राम की

१—रा० चं० ९-५ २—प्र० रा० ना०, पृ० ९५

३—ह० ना०, पृ० ६० ४—रा० चं० ९-२२, २३

पादुका लेकर भरत का लौट आना और नन्दिग्राम में निवास करना वर्णित है। गंग के भरत को समझाने के प्रकरण को छोड़कर, जो कि कवि की मौलिक कल्पना है, शेष सब प्रकरणों में कथा सूत्र वाल्मीकि रामायण के अनुरूप चलता है। भरत और कैकेयी के संवाद पर हनुमन्नाटक[1] की छाप है।

ग्यारहवे प्रकाश की मूलकथा अधिकांशतः वाल्मीकि रामायण के अनुरूप चलती है। केवल सीताजी के गान-वाद्य के प्रभाव के वर्णन को कवि ने अपनी ओर से जोड़ा है। राम के पूछने पर भरद्वाज द्वारा उनके अनुकूल निवास का वर्णन अध्यात्म[2] रामायण के आधार पर किया गया है। ऐसा ही वर्णन मानस में भी मिलता है। अन्तर केवल इतना है कि अध्यात्म रामायण और मानस में भरद्वाज के स्थान पर वाल्मीकि का नाम है। पंचवटी का वर्णन हनुमन्नाटक[3] के अनुसार हुआ है।

विराध-वध में केशव ने राम को अन्यायी का सा रूप दे दिया है, क्योंकि वे सीता के डर[4] जाने पर ही बलवान् विराध को मार डालते हैं। किस अपराध में उसे मारा जाता है, यह अस्पष्ट है। इसके आगे सूर्पणखा के नाक कान काटे जाने का उल्लेख है।

बारहवें प्रकाश में खर, दूषण और त्रिशिरा का वध, सूर्पणखा का रावण को उत्तेजित करना, मारीच की सहायता से रावण का सीता-हरण करना, राम द्वारा कपट मृग का वध, सीता का विलाप, रावण से जटायु का युद्ध, राम का सीता को पर्णकुटी में न पाना, विरह-व्याकुल होकर उन्मत्त की भाँति राम का आचरण, कबन्ध-वध, राम-लक्ष्मण का ऋष्यमूक पर्वत पर पहुँचना, हनुमान से परिचय, सुग्रीव से मैत्री, उससे सीता के पट और नूपुरों का मिलना और राम का एक ही बाण से ताल वेध कर वाली को मार देना—ये प्रकरण वाल्मीकि रामायण के अनुरूप चलते हैं। मारीच के निश्चय, सीता के विलाप, पर्णकुटी के सम्बन्ध में विरहोन्मत्त राम का भ्रम, उनकी विरह ज्वाला, और सीता के उत्तरीय को पाकर उनकी अनेक आशंकाएँ—इन प्रसगों में हनुमन्नाटक की भाव-छाया है। चकोर के प्रति राम की उक्तियों पर 'प्रसन्नराघव' का प्रभाव है। सीता के अग पर जयन्त की चंचु के प्रहार का यहाँ कोई उल्लेख नही है।

तेरहवें प्रकाश के प्रायः सब प्रकरणों की कथावस्तु वाल्मीकि रामायण के अनुसार है। केवल मुद्रिका-प्रसंग प्रसन्नराघव के अनुकरण पर लिखा गया है। सीता यहाँ भी अशोक तरु से अग्नि-याचना करती हैं। उसी समय हनुमान् मुद्रिका

१—ह० ना०, पृ०, १००-१०२ २—अ० रा०, अयो० कां० ६। ५४-६३
३—ह० ना०, ३-५१ ४—रा० चं० ११-८

डाल देते हैं। वाल्मीकि रामायण की तरह हनुमान् यहाँ वृक्ष पर बैठे-बैठे ही राम-गुण वर्णन नहीं करने लगते और न मुद्रिका हाथों-हाथ ही दी जाती है। मुद्रिका के प्रति सीता की उक्तियों में हनुमन्नाटक[1] की भाव छाया है, किन्तु केशव ने नाटक में वर्णित मुद्रिका की उक्तियों को छोड़ दिया है।

चौदहवे और पन्द्रहवें प्रकाश का कथानक भी वाल्मीकि रामायण के समानान्तर चलता है। रावण-हनुमान के संवाद में केशव ने हनुमन्नाटक से भी सहायता ली है। लंकादहन में प्रायः मौलिकता है; अंशतः हनुमन्नाटक के भावों को ग्रहण कर लिया गया है। विभीषण पर रावण के पाद-प्रहार का उल्लेख हनुमन्नाटक[2] के समान है।

सोलहवे प्रकाश में अंगद-संवाद है। इसका प्रारंभ प्रतीहार द्वारा रावण के विभव-वर्णन से होता है जो हनुमन्नाटक[3] की भावोल्था है। केशव के हाथों में रावण का चरित्र कूटनीतिज्ञ का सा बन गया है। अंगद के वैराग्य वर्णन में कवि-कल्पना की मौलिकता दीख पड़ती है। अंगद द्वारा रावण के मुकुट फेंके जाने की वार्ता भी आधारों में नहीं है।

सत्रहवे प्रकाश की कथावस्तु में कवि ने वाल्मीकि रामायण से कुछ अन्तर कर दिया है। इन्द्रजित् द्वारा राम लक्ष्मण का नाग-पाश में बाँधा जाना, विमान में बिठाकर सीता को उन्हें दिखाना, और गरुड़ द्वारा नाग-पाश का काटा जाना— ये प्रकरण वाल्मीकि रामायण के आधार पर लिखे गये हैं। लक्ष्मण पर रावण के शक्ति-प्रहार के प्रकरण में कवि ने अध्यात्म रामायण का अनुकरण किया है। अध्यात्म रामायण की तरह यहाँ भी कुंभकर्ण और मेघनाद के वध से पूर्व ही रावण शक्ति से लक्ष्मण को मूर्च्छित कर देता है। वाल्मीकि रामायण और हनुमन्नाटक में रावण की शक्ति के कारण लक्ष्मण की मूर्च्छा का प्रसंग कुंभकर्ण और मेघनाद के वध के उपरान्त आता है। हनुमन्नाटक की तरह रामचन्द्रिका में भी रावण शक्ति का प्रहार विभीषण पर करता है, किन्तु उसकी रक्षा के लिए बीच में आये हुए लक्ष्मण उससे आहत होकर मूर्च्छित हो जाते हैं।

१—ह ना॰ ५.६१, ६२ २—ह॰ ना॰ ६.४७

३—रा॰ चं॰ १६-२ तुल॰ ह॰ ना ७.५३

रा॰ चं॰ १६.४ तुल॰ ह॰ ना॰ ७८

रा॰ चं॰ १६ ६ तुल॰ ना॰ ७.७,१६

रा॰ चं १६.८ तुल॰ ह॰ ना॰ ६.४४

रा॰ चं॰ १६ ११ तुल॰ ह॰ ना॰ ७ २१, १२

रा॰ चं॰ १६.२२-२३ तुल॰ ह॰ ना॰ ७ ६०

अठारहवें प्रकाश की घटनावली में कोई विशेष परिवर्तन नहीं दीख पड़ता। इसमें कुंभकर्ण और मेघनाद के वध का वर्णन है। कुंभकर्ण और मन्दोदरी द्वारा रावण के समझाये जाने के प्रकरणों में कुछ सहायता हनुमन्नाटक से भी ले ली गई है।

उन्नीसवे प्रकाश मे रावण का राम को सन्धि संदेश भेजना केशव की मौलिक उद्भावना है। इस प्रसग में केशव ने बड़ी चतुरता से हनुमन्नाटक की सामग्री का उपयोग किया है। हनुमन्नाटक[1] में जो उक्ति रावण के प्रति शुकसारण की है उसी को केशव[2] ने दूत के मुख में रख दिया है। मन्दोदरी का केशपाश पकड़ कर अंगद द्वारा उसके घसीटे जाने के प्रसंग की प्रेरणा केशव को अध्यात्म[3] रामायण से मिली है। वहाँ तो उसके केवल नग्न होने का उल्लेख है और यहाँ उसके उरोजों के शृंगारिक वर्णन द्वारा कवि ने रामायण से भी आगे बढ़ने की चेष्टा की है।

रामचन्द्रिका के उत्तरार्द्ध में दो प्रकार के प्रकरण हैं: एक तो वे जिनका सम्बन्ध मूलकथा से है, दूसरे वे जो कथावस्तु से नितान्त असंबद्ध हैं। यहाँ दूसरे प्रकार के प्रकरणो का बाहुल्य है। राम-भरत-मिलाप, रामकृत कपिदल प्रशसा, नन्दिग्राम में राम-गमन, अवध-प्रवेश, ऋषिगण आगमन, तिलकोत्सव, देव-स्तुति, राम-राज्य वर्णन, ब्रह्मागमन, ब्रह्मा-विनय, शंबूक-वध, राम-सीता-सवाद, सीता-वनवास, कुश-लव जन्म, सनाढ्य द्विज आगमन, लवणासुर-वध, रामाश्वमेध, लव-लक्ष्मण-युद्ध, लव-कटुबैन, लव-अगद युद्ध, सीताकृत शोक, रण समुद्र रूपक, राम-सीता-मिलन, राज्य-वितरण, रामकृत राजनीति-उपदेश, राज्य-रक्षा-यत्न—ये प्रकरण मूलकथा से सम्बन्ध रखते हैं; अतः प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत हैं।

इनमें से देव-स्तुति और राम राज्य-वर्णन की प्रेरणा कवि को अध्यात्म रामायण से मिली है। ब्रह्मागमन, ब्रह्मा-विनय, लव-लक्ष्मण युद्ध, लव-कटुबैन लव-अंगद-युद्ध, सीताकृत शोक और रण-समुद्र-रूपक कवि की मौलिक सृष्टि है। राम-सीता-संवाद[4] में वाल्मीकि रामायण[5] की छाया है किन्तु वहाँ राम के पूछने पर गर्भिणी सीता अपनी भिन्न इच्छा व्यक्त करती हैं। सीता के निर्वासन में भी कवि ने कल्पना से ही अधिक काम लिया है। सीता-निर्वासन के सम्बन्ध में राम की आज्ञा को सुनकर भरत की राम के प्रति उक्तियों को कवि ने मौलिक

१—ह० ना० ६.१०४ — २—रा० चं० १६.२०

३—अ० रा०, यु० कां०, १०.२४. — ४—रा० चं० ३३.१०-२४

५—वा० रा०, उ० कां०, ४२। ३३-३४

ढग से लिखा है। वाल्मीकि और अध्यात्म रामायण में इस अवसर पर राम लक्ष्मण में ही बाते हुई हैं। सनाढ्यद्विजागमन के स्थान पर वाल्मीकि रामायण में ऋषियों के आगमन का उल्लेख है। संभवतः यहाँ कवि की जातीय भावना ने काम किया है। लव-कुश के साथ राम-सेना के युद्ध के वर्णन की प्रेरणा हनुमन्नाटक[1] से प्राप्त की गई है। वाल्मीकि रामायण, अध्यात्म रामायण और हनुमन्नाटक में अन्त में सीता का रसातल-प्रवेश वर्णित है, किन्तु रामचन्द्रिका में वे पृथ्वी में प्रवेश न करके राम के साथ अवध आ जाती हैं। संभवतः कवि की यह चेष्टा भारतीय काव्य-परंपरा के अनुकूल ग्रंथ को सुखान्त बनाने के लिए हुई हो।

दूसरे प्रकार के वे प्रकरण हैं जिनका मूलकथा से कोई सम्बन्ध नहीं है और जिनको कवि ने केवल विषय वैविध्य के अभिप्राय से सन्निविष्ट कर लिया हैं। रामचंद्रिका के उत्तरार्द्ध में ऐसे विषयों का प्राचुर्य है। इनमें से कुछ जैसे, 'संगीत-प्रशंसा,' 'सेज,' 'प्रातःकृत्य,' 'स्वान-सन्यासी-अभियोग,' 'मठधारी निंदा,' 'सत्यकेतु का आख्यान,' 'सनोढ्यत्पत्ति,' 'छप्पन प्रकार के भोजन,' 'सौन्दर्य-प्रशंसा,' 'रनिवास की वापसी,' 'शयनागार,' चौगान,' 'अयोध्या की रोशनी' आदि तो केशव ने अपनी कल्पना के आधार पर लिखे हैं; और कुछ प्रकरण जैसे, 'राम नाम माहात्म्य,' 'राम-विरक्ति-वर्णन,' 'जीवोद्धारण-यत्न,' 'मथुरा-महात्म्य' आदि पुराणादि की सामान्य छाया मे लिखे गये हैं; परन्तु 'राज्यश्री-निंदा,' 'बचपन के व्यवहार जनित दुःख,' 'जवानी के व्यवहार जनित दुःख,' तथा 'वृद्धावस्था जनित दुखों का वर्णन' योगवासिष्ठ के वैराग्यप्रकरण[2] की छाया में लिखा गया दीख पड़ता है। इनके अतिरिक्त 'वसंत,' 'चन्द्र,' 'प्रभात,' 'कृत्रिम पर्वत,' 'कृत्रिम सरिता,' 'जलाशय,' 'जल-क्रीडा' आदि वर्णन लिखने की प्रेरणा कवि को काव्यकल्पलतावृत्ति[3] तथा अलंकारशेखर[4] से अधिक मिली है। रामचन्द्रिका-माहात्म्य-वर्णन संस्कृत की काव्य-परपरा से प्रेरित होकर ही लिखा गया है।

{ख}

इसमें मगलाचरण के अनन्तर तिरहुत, जनकपुर, जनक और जानकी का सक्षिप्त परिचय है। फिर जनक के प्रण और देश-देश के राजाओं को

१—ह० ना० ६. १३६

२—देखिये, यो० वा०, वैराग्य प्रकरण, सर्ग १३, १६, २०, २२

३—का० क० वृ० (काव्यकल्पलतावृत्ति) प्रतान १

४—अलंकारशेखर, मरीचि १६

जानकीमंगल निमंत्रण भेजने तथा उनके साज सजाकर आने का सूक्ष्म वर्णन है।

इसी समय अयोध्या में गाधि-पुत्र महर्षि विश्वामित्र आ पहुँचते हैं। राजा दशरथ महर्षि की अगवानी कर राजसभा में ले जाते हैं और सम्मानपूर्वक आतिथ्य सत्कार करके मुनि आगमन के लिए अपने भाग्य की भूरि-भूरि सराहना करते हैं। फिर नम्रतापूर्वक राजा मुनि के आगमन का कारण पूछते हैं और कारण सुनकर अधीर एवं मूक हो जाते हैं। कारण क्या था, इसका स्पष्ट वर्णन नहीं मिलता। वसिष्ठ के समझाने पर राजा विनयपूर्वक राम-लक्ष्मण को मुनि के साथ कर देते हैं। इस स्थल पर अध्यात्म रामायण का ही अनुकरण है। वाल्मीकि रामायण में राजा की आनाकानी से ऋषि इतने कुपित हो जाते हैं कि पृथ्वी तक कांपने लगती है। इन बातों का यहाँ कोई उल्लेख नहीं है।

रामलक्ष्मण माता, पिता, गुरु आदि से विदा लेकर ऋषि का अनुगमन करते हैं। मार्ग में अनेक दृश्य देखते हुए और बाल-क्रीडा करते हुए वे मुनिराज के साथ चले जाते हैं। मार्ग मे ही ताटका-वध करने पर विश्वामित्र प्रसन्न होकर राम को नाना प्रकार के अस्त्र देते हैं। मुनि का मख पूर्ण कराके दोनों भाई उनके साथ धनुष-यज्ञ में मिथिला को चल देते हैं। अध्यात्म रामायण के अनुकरण पर अहिल्योद्धार मार्ग में ही हो जाता है। तदनन्तर वे सब मिथिलापुरी में पहुँचते हैं। वाल्मीकि रामायण के समान यहाँ मिथिलेश के उपवन में अहिल्योद्धार नहीं होता है, किन्तु अध्यात्म रामायण के समान गंगा-तट का भी कोई उल्लेख नहीं है। संभवतः कवि ने इसे संक्षेप के कारण छोड़ दिया है।

कुमारों के साथ मुनि मिथिला पहुँचते हैं और राजा जनक उनकी अगवानी करके बहुत सम्मान करते हैं। राम-लक्ष्मण को देख कर वे ब्रह्म-सुख का अनुभव करते हैं। ऋषि से राजकुमारों के वंश और पराक्रम का परिचय पाकर वे अपने प्रण की दुरूहता और पिनाक की कठोरता के अनुमान से चिंतित हो जाते हैं। इसके बाद उन्हें रंग-भूमि दिखाई जाती है जिसकी रुचिरता की कौशिक बड़ी प्रशंसा करते हैं। फिर वे राम-लक्ष्मण सहित राजा के दिये हुए कनक-सिंहासन पर बैठ जाते हैं।

इसके उपरान्त कवि राम लक्ष्मण की रूप-माधुरी का, जिसे देख कर पुरजन मोहित हो जाते हैं, वर्णन करता है। धनुष की कठोरता और राजकुमार राम की सुकुमारता का विचार करके सब लोग धनुर्भंग के सम्बन्ध में चिंतित हो जाते हैं। इस स्थल पर कवि ने हनुमन्नाटक[1] की उक्तियों का आश्रय लिया है।

१—ह० ना० १. ३६-३७

पुरवासियों के तर्क-वितर्क और अनुमानों में कवि की मौलिकता है। स्त्रियों के झरोखों से झाँकने का प्रसग अध्यात्म रामायण[1] के अनुकरण पर लिखा गया है, किन्तु वहाँ धनुष तोड़ देने पर स्त्रियों का झाँकना लिखा है, यहाँ धनुष के टूटने के पूर्व ही।

रंगभूमि में सीता और राम प्रथम बार एक दूसरे को देखते हैं। इस अवसर पर प्रसन्नराघव[2] नाटक के अनुसार वन्दीजन राजा के प्रण की घोषणा करते हैं। कथा-संक्षेप के कारण प्रण का वर्णन नहीं किया गया। प्रसन्नराघव[3] ही के अनुकरण पर राम के धनुष तोड़ने के सम्बन्ध में राजा जनक शंका करते हैं। अतः राम को धनुष दिखाने मे भी वे कुछ निराशामय संकोच का आभास देते हैं। जनक की इस हिचकिचाहट का रामायणों में कोई उल्लेख नहीं है। यहाँ राजसभा के प्रति जनक के न्यक्कार शब्दों को सुनकर लक्ष्मण के उत्तेजित हो उठने का प्रसंग छोड़ दिया गया है।

हनुमन्नाटक[4] की छाया में यहाँ राम के धनुष तोड़ने के लिए बद्धपरिकर होने पर लक्ष्मण भू-भूधरादि को चेतावनी देते हैं। उसी[5] के आधार पर यहाँ भी सीता धनुष और राम दोनो का विचार करके चिंतित हो जाती हैं, पर साथ ही नेत्रादि के स्पंदन से शुभ शकुन[6] होता है।

राम धनुष तोड़ देते हैं। देवजन दुंदुभि बजाकर सुमन-वृष्टि करते हैं। सीता राम को जयमाला पहनाती हैं। राजा रानियों के सहित पौरों को अमित हर्ष होता है। अवध को पत्र लेकर मंत्री भेजे जाते हैं और राजा दशरथ बारात लेकर मिथिला में आते हैं। अगवानी, सम्मान, विवाह, जेवनार, गाली, लहकौर, आरती और जुआ आदिक वर्णन कवि-कल्पनाजन्य हैं। वाल्मीकि और अध्यात्म रामायण के अनुसार मार्ग में परशुराम मिलते हैं। उनके संवाद का यहाँ लोप है।

बारात अयोध्या लौट आती है। वहाँ उत्सव मनाया जाता है और राजा एवं रानियाँ नाना प्रकार के दान देती हैं। 'मंगल गान' के माहात्म्य के साथ ही ग्रंथ समाप्त हो जाता है।

मानस में राम विवाह का अति विशद रूप होने के अतिरिक्त 'जानकी मंगल' से उसमें निम्नलिखित अन्तर है :

१—अ० रा०, बा० का०, ६.३१-३२
२—प्र० रा०, पृ० १४, पं० ६-१२
३—प्र० रा०, पृ० ६७, पं० १०-१३
४—ह० ना० १.४०
५—ह० ना० १.३७
६—तु० की० ह० ना० १.३६

१—जानकी मंगल में 'फुलवारी' में राम-सीता का परस्पर दर्शन नहीं होता और न फुलवारी का ही कोई वर्णन है। यहाँ वे एक दूसरे को प्रथम बार रंगभूमि मे ही देखते हैं।

२—राजसभा को जनक के धिक्कारने पर लक्ष्मण के कोप का वर्णन भी यहाँ छोड़ दिया गया है।

३—परशुराम से भेट विवाह के पश्चात् अवध को लौटते समय मार्ग में होती है। उनके साथ राम लक्ष्मण के संवाद की यहाँ अवहेलना कर दी गई है।

पार्वती मंगल

इसकी रचना प्रधानतया कुमारसंभव[1] के आधार पर हुई है, किन्तु कुछ विस्तारों में शिवपुराण से भी सहायता ले ली गई है। इसके अतिरिक्त कवि ने कुछ मौलिक परिवर्तन भी कर दिये हैं।

शिवपुराण के अनुकरण पर यहाँ मेना द्वारा उमा के भावी वर के संबन्ध में पूछने पर नारद मुनि गूढ़ शब्दों में उत्तर देते हैं :—

विधि लोक चरचा चलति राउरि चतुर चतुरानन कही।
हिमवानु कन्या जोगु बरु बाउर बिबुध बदित सही[2]।

किन्तु कुमारसभव में नारद ने स्पष्ट बतला दिया है कि "यह कन्या प्रेम के कारण शिव की एक मात्र अर्द्धांगिनी बधू होगी।[3]" जिस प्रकार शिवपुराण में उसी प्रकार यहाँ भी नारद की गूढ़ गिरा सुनकर दंपति को दुःख होता है।

अनन्तर शैलजा पार्वती माता-पिता से आज्ञा लेकर शिवाराधना में लग जाती है। तारकासुर का यहाँ कोई प्रसंग नही है किन्तु शिवपुराण और कुमार-संभव दोनों में सुरों का उक्त असुर से संत्रस्त होना पाया जाता है। 'आधारों में संत्रस्त देव ब्रह्मा से विनय करते हैं और ब्रह्मा उन्हें युक्ति बतलाते हैं जिसे कार्यान्वित करने के लिए इन्द्र काम को बुलाकर, उसकी प्रशंसा करके, उसे समाधिस्थ शिव के मन को क्षुब्ध करने के लिए भेजता है। 'पार्वतीमंगल में' सब देव मिलकर मनोज को बुलाते हैं।[4]"

काम-दाह और रति-विलाप के लिए क्रमशः दो और एक पंक्ति ही दी गई है।

'मंगल' में, कुमारसंभव का अनुकरण करते हुए शिव ही वटु-वेश धर कर उमा की प्रेम परीक्षा लेने जाते हैं। शिव और पार्वती सम्भाषण का आधार

१—देखिये कु० सं०, सर्ग ५. ६। २—तु० र०, पृ० ४१२, पं० २१-२२

३—कु० सं० १। ५० ४—तु० र०, पृ० ४१३, पं० २१

भी कुमारसंभव ही है। इस प्रसंग में तुलसीदास ने कालिदास का निकटतम अनुकरण किया है। पार्वती के अविचल प्रेम से मुग्ध होकर शिव प्रकट होते हैं और 'तवास्मि दासः क्रीतस्तपोभिः'[१] के अनुवादस्वरूप 'मंगल' में शिव को कहना पड़ता है: "पार्वती ! तप प्रेम मोल मोहि लीन्हेउ"[२]।

पार्वती का सखीमुख से शिव के पास अपनी विनय भेजना, विवाह के निश्चित करने के लिए शिव का सप्तर्षियों को बुलाकर हिमवान् के पास भेजना, हिमवान् द्वारा उनका स्वागत, तथा वैवाहिक तिथि निश्चित करके उनका लौट आना—ये प्रकरण कुमारसंभव पर आधारित हैं। कुमारसभव में लग्नपत्रिका का कोई उल्लेख नहीं है। पार्वतीमगल में लग्नपत्रिका का विवरण शिवपुराण के अनुरूप मिलता है। इसके अनन्तर पार्वतीमंगल के वर्णन शिव की बारात, वर को देखना, मेना का मोह, दिव्यरूप में प्रकट होकर शिव द्वारा मेना के मोह का निवारण; द्वार पर मेना द्वारा शिव की नीराजना, पाणिग्रहण आदिक शिवपुराण से प्रभावित हैं।

पार्वतीमगल में कुमारसभव और पुराण दोनों ही के वर्णन सक्षिप्त संस्करणों के रूप में मिलते हैं। कहो कहीं घटनाएँ भी छोड़ दी गई हैं। इस कतरछाँट में ही कवि की मौलिकता है। प्रधानतया पार्वतीमगल की कथा का आधार कुमारसंभव है, किन्तु तुलसी और कालिदास के आदर्शों में विभिन्नता है। एक का उद्देश्य भक्ति को पूर्ण रूप में प्रकट करने का है और दूसरे का काव्य को। नख-शिख, विरह-विलाप, स्तुति, सवाद आदि के बल पर ही एक छोटे से कथावस्तु को लेकर कालिदास ने कुमारसंभव जैसे ग्रन्थ की रचना की है। मंगल का कथा-प्रवाह, जितना शैथिल्य से मुक्त है उतना ही भक्तिभावना से प्रेरित भी है। मगलकार ने कुमारसभव के ऐसे वर्णन, जिनसे श्रद्धा और भक्ति पर आघात होने की संभावना है, बिल्कुल निकाल दिये हैं।

यद्यपि इस श्लोक में

"रोमोद्गमः प्रादुरभूदुमायाः स्विन्नाङ्गुलिः पुंगवकेतुरासीत्
वृत्तिस्तपोः पाणिसमागमेन समं विभक्तेव मनोभवस्य।
कु० सं० ७-७७

मनोवैज्ञानिकता के आधार पर स्वाभाविकता की रक्षा की गई है, किन्तु गोस्वामीजी ने इसे मर्यादा का बाधक समझ कर छोड़ दिया है। वे अपने पाठकों या श्रोताओं के लिए श्रद्धा और भक्ति की सीढ़ी तैयार कर उस पर चढ़ा ले चलने की चेष्टा करते हैं। "उमा को आता हुआ देखकर देवता लोग भी

१—कु० सं० ५। ८६ २—तु० र०, पृ० ४१६, पं० ६

पूज्य भाव से प्रणाम करते हैं तथा अपने जन्म को सफल समझकर सुखी होते हैं''।[1] ऐसी उमा के प्रति मनुष्य की श्रद्धा भला क्यों न होगी ?

आधारों के साथ पार्वतीमंगल की कथा पर विचार करते हुए यह ध्यान रखने की बात है कि गोस्वामीजी ने पार्वतीमंगल और जानकीमंगल की रचना निष्प्रयोजन नहीं की। 'मंगलों' का पृथक् उद्भव उपनयन, विवाह आदि उत्सवों पर 'मंगल गान' का शिष्ट पद पाने के लिए हुआ है। उत्सवोपयोगी छोटा रूप देने के लिए तथा भय और कोप जैसे उद्वेजक प्रसंगों को निकालने के लिए कवि ने 'तारक-वर्णन' जैसे विस्तारों को भी छोड़ दिया है।

माधवानल कामकन्दला

पुण्यवती नामक नगर में माधव नामक एक वैरागी ब्राह्मण रहता है। वह एक बार अपने नगर से निर्वासित होकर 'कामावती' नगरी में पहुँचता है। वहाँ उसका कामकन्दला नामक वारांगना से प्रेम हो जाता है। दोनों ही कला-निपुण हैं। कामकन्दला के प्राणों की रक्षा करने के लिए माधव को उससे वियुक्त होना पड़ता है। वह विरह की दशा में ही राजा विक्रम के नगर में पहुँचता है और अपनी कला का परिचय देकर राजा को अपनी सहायता के लिए उद्यत कर लेता है। राजा कामकन्दला के प्रेम की परीक्षा करने आता है और "माधव मर गया" इन शब्दों को राजा के मुख से सुनकर कामकन्दला प्राण त्याग देती है। इसके उपरान्त राजा से कामकन्दला का निधन सुनकर माधव भी अपने प्राण छोड़ देता है। दोनों के मरण का कारण अपने को समझ कर राजा प्रायश्चित-रूप में स्वयं मरना चाहता है।

राजा के मरणोद्यत होने की सूचना पाकर वैताल आता है और स्वर्ग से अमृत लाकर माधव को जीवित करता है। उधर राजा वैद्य के वेश में कामकन्दला के पास जाता है और अमृत से उसे भी जीवित कर देता है। कामकन्दला राजा द्वारा माधव को सन्देश भेजती है।

राजा विक्रम अपना सदेश लेकर कामसेन के पास भेजता है कि या तो कामकन्दला को दो या युद्ध करो। कामसेन युद्ध स्वीकार कर लेता है। घोर युद्ध के पश्चात् कामसेन पराजित हो जाता है और वह कामकन्दला को विक्रम को समर्पित कर देता है। इस प्रकार माधव और कामकन्दला मिलकर नित्यप्रति बढ़ती हुई प्रीति के साथ आनन्द से जीवन बिताते हैं।

यह कथावस्तु सिंहासन द्वात्रिंशतिका की इक्कीसवीं कहानी, जिसे अनुरोधवती पुतली सुनाती है, के आधार पर प्रस्तुत की गई है, परन्तु आलम की कृति को

१—तु० र०, पृ० ४२५, पं० ५-६

उल्था नहीं कह सकते। कवि ने इसे अपनी आवश्यकतानुसार कुछ घटा बढ़ा लिया है। इस बात को स्वयं कवि ने स्वीकार भी किया है।

कुछ अपनो कुछ परकृति चोरों।
यथासकति करि अच्छर जोरों।

नख-शिख, विरह, युद्ध और राग-रागिनियों के वर्णन में कवि ने मौलिक प्रतिभा का परिचय दिया है। जो प्रसंग आधार में सकेत रूप में मिलता है वही आलम की कृति में विस्तीर्ण रूप में लिखा गया है। दोनों का यही विशेष अन्तर है।

कवि ने प्रथम आठ छदों में रघुवंश के अनुरूप भगवान् के गुण वर्णन करने में अपनी असमर्थता प्रकट की है। रघुवंश के प्रारंभ में महाकवि कालिदास विषय की दुरूहता के सम्बन्ध मे अपनी दीनता प्रकट करते हुए इतना ही कहते हैं कि "कहाँ तो सूर्यप्रभव महान् रघुवश का वर्णन और कहाँ अल्पबुद्धि मैं। निःसन्देह मैं मूर्खतावश डोंगी से सागर पार करना चाहता हूँ।"[1] किन्तु पृथ्वीराज राठौड़ इससे कुछ और आगे चले जाने का प्रयास करते हैं। वे विषय की गहनता के सम्बन्ध में अपनी असमर्थता इस प्रकार दिखाते हैं: "हे कमलेश, ऐसी किस की प्रखर बुद्धि है जो आपके गुणों का वर्णन कर सके? भला ऐसा कौनसा तैरनेवाला है जो समुद्र को पार करले[2]"।

वेलि किसन रुक्मिणी री

रुक्मिणी की छवि का वर्णन प्रारभ करने से पूर्व कवि ने ग्रथ में से नायक से पूर्व नायिका के वर्णन के समर्थन में महाकवियों की परपरागत प्रथा का प्रमाण दिया है। इसके लिए व्यास और जयदेव का नाम लिया गया है। जयदेव ने गीतगोविंद के प्रथम श्लोक[3] को राधा के नाम से ही प्रारभ किया है। काव्य-शास्त्र[4] भी इस मत का समर्थन करता है।

इसके अनन्तर ११ से २४ छद तक रुक्मिणी का, शैशव से तारुण्य-प्रकाश तक का, वर्णन किया गया है। इस वर्णन मे कवि कुमारसंभव के पार्वती वर्णन से प्रभावित हुआ है। २४ से २७ छंद तक कुमारसंभव[5] की छाया में ही रुक्मिणी के अवयवों का आलकारिक शैली में चित्रण किया गया है। भागवत (१०.५३. ५१-५२) मे भी रुक्मिणी की छवि का वर्णन है, किन्तु 'वेलि' के उक्त वर्णन से इसकी कोई अनुरूपता नहीं है।

१—रघुवश १.२ २—वेलि ६ ३—गी० गो० १.१

४—सा० द० ३.२१६. "आदौ वाच्यः स्त्रियाः राग पुंसः पश्चात् तदिङ्गितैः"

५—कु० स० १.३४-४८

यहाँ[1] कृष्ण के प्रति रुक्मिणी के प्रेम का प्रादुर्भाव हरि के शास्त्रोक्त गुणों के परिशीलन से होता है और उसी की सफलता के लिए वह गिरिजा-शंकर की पूजा करती है, किन्तु भागवत[2] में अतिथियों से कृष्ण के रूप गुण की प्रशंसा सुन कर रुक्मिणी के हृदय में प्रेम का उदय होता है।

भागवत के समान वेलि में ब्राह्मण रुक्मणी का मौखिक संदेश लेकर द्वारका नहीं जाता, यहाँ उसे पत्र सहित भेजा जाता है। 'पत्र' और 'संदेश' के भावों में समता है, किन्तु 'पत्र' 'सदेश' की अपेक्षा सक्षिप्त है। वेलिकार ने शैली की मौलिकता के साथ-साथ कुछ नवीन भावों की संयोजना भी कर दी है। रुक्मिणी लिखती है: "हे हरि, आपने वराह रूप धर कर, हिरण्याक्ष को मारकर पृथ्वी रूप में मेरा उद्धार किया, समुद्र-मंथन के समय असुरों का संहार करके लक्ष्मी-रूप में मुझे ग्रहण किया, एवं रामावतार में रावण का वध करके सीता-रूप में मेरा उद्धार किया। तीन बार तो इस प्रकार आपने स्वतः ही मेरी रक्षा की, अब चौथी बार भी आप ही शरण हैं। इस बार भी मेरी रक्षा कीजिए।"[3] यह प्रसग भागवत में नहीं है।

"सन्ध्या के समय ब्राह्मण का कुन्दनपुर से प्रस्थान करना, निशागम होने से समीप ही कहीं ठहर जाना, तिथि के निकट होने से ब्राह्मण का रात को निश्चिन्त होकर सोना और प्रातःकाल द्वारका में जागना तथा द्वारका की शोभा देखकर द्विज का विस्मित हो जाना"[4] ये प्रकरण कविकल्पनाजन्य हैं।

ब्राह्मण के प्रति दिखलाये हुए शिष्टाचार का 'मूल' और 'वेलि' दोनों में वर्णन है, किन्तु यहाँ, आधार के समान, भगवान् ने ब्राह्मण के प्रति धर्म का निरूपण नही किया है। परिचय सम्बन्धी प्रश्नोत्तरों के पश्चात् ही द्विज श्री कृष्ण को पत्र समर्पित कर देता है। आनंदातिरेक से रोमाचित, गद्‌गद कंठ, और सजल लोचन हो जाने के कारण भगवान् पत्र नहीं पढ़ सकते हैं; उनकी आज्ञा से ब्राह्मण ही पत्र बाँचता है। भागवत[5] के समान यहाँ[6] भी रुक्मिणी ने अपने पत्र मे अपने हरण का उपाय बतला दिया है। भागवत में यह उपाय स्पष्ट रूप से कहा गया है, किन्तु यहाँ वह सकेत-रूप में है जो अधिक उचित प्रतीत होता है।

'वेलि' और भागवत दोनों में समानरूप से कृष्णागमन के विषय में रुक्मिणी

१—वेलि, २६ | २—भागवत, १०.५२.२३
३—वेलि ६१-६४ | ४—वेलि ४६, ४७
५—भाग० १०.५२.४२ | ६—वेलि, ६६

की चिन्ता का वर्णन है। इसी समय छींक[1] होने से रुक्मिणी को कुछ धैर्य होता है, भागवत[2] में इस समय वाम भुजा, जघा और नेत्र का स्पन्दन उन्हें धैर्य देता है।

लौटे हुए ब्राह्मण को देखकर रुक्मिणी के चित्त के अव्यवस्थित[3] होने का कवि ने मौलिक ढंग से वर्णन किया है। पुराण में ब्राह्मण की मुखमुद्रा[4] से ही रुक्मिणी को कृष्णागमन की सूचना मिल जाती है। वहाँ व्याकुलता और आतुरता का जिक्र नहीं है। वेलि में द्विज के लौटकर आने के समय रुक्मिणी को सखियों और गुरुजनों के साथ में कहा गया है, अतएव इस अवसर पर ब्राह्मण[5] के कहने का ढंग भी कवि की मौलिकता का परिचायक है। संभव है कि कवि ने नायक-नायिका भेद के किसी ग्रथ में किसी दूती के संदेश देने की शैली से यह प्रेरणा प्राप्त की हो।

कृष्ण के कुंदनपुर पहुँच जाने पर दर्शकों को कृष्ण का स्वरूप उनकी वैयक्तिक भावना के अनुरूप दिखाई पड़ता है। "उन्हें कामिनियाँ कामदेव बतलाती हैं, दुर्जन काल कहते हैं, भक्त नारायण-रूप में देखते हैं, वेदज्ञ वेदार्थ-रूप में देखते हैं और योगीश्वर उन्हें योगतत्व कहते हैं[6]"। भागवत मे इस अवसर पर इन भावों का उल्लेख नही है; हाँ, कृष्ण-बलराम के कंस के अखाड़े[7] में पहुँचने पर दर्शकों के मन में इस प्रकार के भावों का उदय अवश्य हुआ है।

विवाह के सबध में राजा भीष्मक की तैयारियाँ और चेदिराज के सजधज कर आने का 'वेलि' में लोप है। यहाँ रुक्मिणी की सिखाई हुई सखी रानी से अम्बिका-मन्दिर मे जाने की आज्ञा लेती हैं। यहाँ यह कृष्ण से मिलने का बहाना है, किन्तु भागवत में विवाह से पहले दिन अम्बिकालय मे जाना प्रथा[8] बतलाई गई है। अम्बिकालय में जाने के लिए रुक्मिणी की शृंगार-रचना का वर्णन मौलिक है। यहाँ वह, राजकुमारी की तरह, पालकी[10] में बैठकर गिरिजा-मंदिर में जाती है, भागवत मे पैदल ही। साथ मे शरीर रक्षकों के जाने का वर्णन दोनों ग्रन्थों में है।

वेलि में कृष्ण का रथ आकाश मार्ग से उतरता है और सब राजाओं के देखते-देखते वे रुक्मिणी को रथ मे बैठा कर चल देते हैं। इसके अनंतर दोनों

१—वेलि, ७०
२—भाग० १० ५३-२७
३—वेलि, ७१
४—भाग० १०.५३.२६
५—वेलि, ७२
६—वेलि ७६
७—भागवत १० । ४३ । १७
८—वेलि ७६
९—भागवत १० । ५२ । ४२
१०—वेलि, १०३

ग्रन्थों में युद्ध का वर्णन है, किन्तु पृथ्वीराज का युद्ध वर्णन विशद और स्वानुभूतिमय है। भागवत में शिशुपाल के साथ कृष्ण-राम के युद्ध का वर्णन नहीं है। वह जरासंध के समझाने से अपनी राजधानी को लौट जाता है। किन्तु 'वेलि' में शिशुपाल और रुक्मि दोनों के दलों से युद्ध होता है और बलराम शिशुपाल को ससेन मार भगाते हैं।

रुक्मिणी को रोती देखकर रुक्मि के प्रति श्रीकृष्ण का रोष शान्त हो जाता है और वे उसके केश काटकर छोड़ देते हैं, किन्तु इसी बीच में वहाँ बलराम आ पहुँचते हैं और साले के प्रति कृष्ण के इस व्यवहार की निंदा करते हैं। यह प्रसग 'वेलि' में भागवत के अनुरूप ही चलता है, केवल वेलिकार ने कुछ विस्तार और बढ़ा दिये हैं। परिवर्धन इस प्रकार हैं :

"प्रथम तो बड़े भाई की आज्ञा पालने के लिए और दूसरे मृगाक्षी रुक्मिणी का मन रखने के लिए कुछ-कुछ मुसकराते हुए एवं लज्जा से मुख नीचा किये हुए कमलाक्ष श्रीकृष्ण प्रसन्न हो गये और असभव को सभव तथा कृत को अकृत करने वाले, सर्वसामर्थ्यवान् भगवान् कृष्ण ने जिन हाथों से साले के शिर के बालों को लिया था उन्हीं से, शिर पर हाथ फिराकर, उन्हें फिर जमा दिया"[1]। भागवत की तरह बलराम द्वारा रुक्मिणी के समझाये जाने का यहाँ कोई विवरण नहीं है।

इस प्रकार रण में विजय प्राप्त करके राम कृष्ण यादव सेना सहित द्वारका को चल देते हैं। द्वारकावासियों की संचित उत्कंठा में कवि की मौलिकता है। यहाँ द्वारका की सजावट, नागरिकों द्वारा भगवान् का स्वागत और उत्सवादि वर्णन भागवत के अनुरूप ही मिलते हैं, किन्तु वैवाहिक कृत्यों और मागलिक विधियों के विस्तारों में कवि के मौलिक अनुभव का परिचय मिलता है।

कृष्ण और रुक्मिणी के प्रथम मिलन, रतिकेलि, और सुरतान्त में गीतगोविंद की झलक आगई है। हनुमन्नाटक[2] में राम और सीता के प्रथम मिलन में भी ऐसा ही चित्र अकित किया गया है। अलंकार योजना और विषय-प्रतिपादन की नवीनता में कवि की प्रतिभा ने मौलिकता को भारी सफलता दी है। रति-केलि के अन्त में प्रभात वर्णन है जो अभिज्ञान शाकुन्तल[3] के प्रभात-वर्णन का स्मरण दिलाता है। इन प्रकरणों का भागवत में कोई उल्लेख नहीं है।

१—वेलि १३७

२—देखिये, ह० ना० द्वितीयाक-उत्तरा९

३—अभिज्ञान शाकुन्तल, अंक ४

ग्रन्थ के द्वितीयार्द्ध में कवि ने षड्ऋतु-वर्णन दिया है जिसकी प्रेरणा उस को संभवतः ऋतुसंहार से मिली है। कालिदास की तरह पृथ्वीराज ने भी ऋतुवर्णन ग्रीष्म ऋतु से प्रारंभ किया है, किन्तु वेलि के ऋतुवर्णन में मौलिकता की छाप है। वर्षा-वर्णन पर राजस्थान की मुद्रा लगी हुई है।

प्रद्युम्न-जन्म के अतिरिक्त, ऋतुवर्णन और उसके आगे के विषयों में मूल की कोई छाया नहीं है। ग्रन्थ का अन्तिम भाग भक्ति-परक है।

भँवरगीत

नन्ददास के भँवरगीत की कथावस्तु का मूलाधार श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध का सैंतालीसवाँ अध्याय है। इसमें नित्यकर्म से निवृत होकर आये हुए उद्धव के साथ गोपियों का परिचय होता है। शिष्टाचार के उपरान्त गोपियो के उलाहने प्रारंभ होते हैं। फिर कृष्ण की लीलाओं का स्मरण करके वे रोने लगती हैं। इसी समय भ्रमर आ जाता है और श्लोक १२ से २१ तक इसी भ्रमर को लक्ष्य करके गोपियाँ अपने हृदय का गुबार निकालती हैं। वे भगवान् कृष्ण के दर्शन के लिए अति व्यग्र हो उठती हैं। उद्धव गोपियों के प्रेम की सराहना करते हैं और उन्हें उनके प्रियतम का सन्देश देकर सान्त्वना देते हैं। सन्देश को सुनकर गोपियों को बड़ा आनन्द होता है। अब उन्हें श्रीकृष्ण के स्वरूप और एक-एक लीला की याद आने लगती है। इसके अनन्तर वे इन्द्रियातीत भगवान् श्रीकृष्ण को आत्मा के रूप में सर्वत्र स्थित समझने लगती हैं और उनके परम प्रेममय, दिव्य महाभाव में स्थित हो जाती हैं। प्रेम की यह सर्वोच्च स्थिति है जो मुमुक्षुओं के लिए ही नहीं, अपितु बड़े बड़े मुनियों और भक्तों के लिए भी वांछनीय है। अन्त में उद्धव यह अभिलाषा लेकर लौटते हैं: "क्या अच्छा हो कि मैं इस वृन्दावन धाम में कोई लता बन जाऊँ। अहा, यदि मैं ऐसा बन जाऊँ तो मुझे व्रज वनिताओं की चरण धूलि निरन्तर सेवन करने के लिए मिलती रहेगी। इनकी चरण रज में मैं स्नान करके धन्य हो जाऊँगा।"[३]

उद्धव के विचारों में एक दो भाव ४६वें अध्याय के भी आगये हैं, किन्तु भँवरगीत की कथावस्तु का भागवत के इस अध्याय से कोई सम्बन्ध नहीं है।

भँवरगीत मे कृष्ण द्वारा उद्धव को व्रज में भेजे जाने, व्रजभूमि की सुषमा, नन्द बाबा और उद्धव की भेंट और सलाप का बिल्कुल नाम नहीं है। भागवत में गोपियाँ उद्धव से मिलने पर कृष्ण की स्वार्थ-मैत्री पर थोड़ा आक्षेप करती हैं और शीघ्र ही भ्रमर का प्रवेश हो जाता है। भँवरगीत में कुशल प्रश्न के

१—भाग० १०·४७·२८ २—भाग० १०·४७·५३

३—भाग० १०·४७·६१

पश्चात् निर्गुण सगुण का विवाद प्रारंभ हो जाता है जो ७ से २८ छन्द तक चलता है। भागवत में यह तर्क-वितर्क नहीं है। भ्रमर को लक्ष्य बनाकर भागवत में गोपियों ने जो उपालंभ दिये हैं उन्हें नन्ददास ने प्रचुर मात्रा में ग्रहण किया है, किन्तु क्रम में कुछ परिवर्तन कर दिया गया है। 'भँवरगीत' में ज्ञान और भक्ति की बात समाप्त होने पर अकस्मात् गोपियों के सम्मुख कृष्ण का स्वरूप आ जाता है और वे उनकी कुटिलता पर अनेक प्रेम पूर्ण आक्षेप[1] करने लगती हैं। इसके बाद कवि ने ४५वें छन्द में भ्रमर का प्रवेश कराया है और उसको, लक्ष्य करते हुए उपालंभ कराये हैं। भागवत की गोपियाँ विष्णु के अवतारों (राम, कृष्ण और वामन) की क्रूरता पर आक्षेप करती हैं, किन्तु यह प्रकरण भ्रमरोपालंभ के अन्त में आता है और वह भी सूक्ष्मरूप में। 'भँवरगीत' में ये आक्षेप भ्रमरागमन से पूर्व ही किये जाते हैं। अवतारों में नृसिंह और परशुराम के नाम और बढ़ा दिये गये हैं और आक्षेप कुछ अधिक विस्तीर्ण कर दिये गये हैं।

भागवत के अध्ययन से विदित होता है कि उद्धव को व्रज भेजने में कृष्ण के दो उद्देश्य थे—पिता-माता (नन्द-यशोदा) को आनन्दित कराना, और विरह-व्याधि से पीड़ित गोपियों को वेदना से मुक्त कराना। इन दोनों उद्देश्यों की पूर्ति के लिए एक-एक अध्याय अलग-अलग दिया गया है। दोनों ही उद्देश्यों की पूर्ति उद्धव द्वारा की जाती है। ४६वें अध्याय में नन्द-यशोदा आनन्दित हो जाते हैं और ४७वें अध्याय में गोपियाँ विरह-ज्वर से मुक्त होकर श्रीकृष्ण को आत्मा के रूप में सर्वत्र स्थित देखने लगती हैं।

'भँवरगीत' में नन्द-यशोदा को बिलकुल भुला दिया गया है मानों कृष्ण का उनसे कोई सम्बन्ध ही न रहा हो और उद्धव उन्हें जानते भी न हों। नन्ददास ने कृष्ण के संदेश का नाममात्र लिया है। संदेश क्या है! भगवान् जाने। यह संदेश[2] ही भ्रमरगीत (भागवत) का प्राण है। 'भँवरगीत' में इसका अभाव बहुत खलती है।

'भँवरगीत' के उद्धव ज्ञान के प्रतिनिधि बनकर आये हैं और सगुण भक्ति का प्रतिनिधित्व गोपियाँ करती हैं। इसमें दो मतों का विवाद है। ज्ञान, कर्म और योग के ऊपर गोपी-प्रेम (प्रेमलक्षणा भक्ति) की प्रतिष्ठा की गई है। इस खंडन-मंडन को भागवत में कोई स्थान नहीं मिला। 'भँवरगीत' में व्रज से लौटते हुए उद्धव की अभिलाषा का स्वरूप भागवत से प्रभावित है।

१—देखिये, भँवरगीत, छन्द २६-४२

२—भाग० १०. ४७. २६-३७

भँवरगीत में उद्धव द्वारा आनीत कृष्ण के संदेश से गोपियों को कोई सान्त्वना नहीं मिलती। उनकी विरह व्यथा और भी बढ़ जाती है और उद्धव उनको व्याकुल ही छोड़ जाते हैं।[1] किन्तु उन्हें, ज्ञान को भुलाकर, गोपियों के प्रेम को सिर झुकाना पड़ता है।[2] इसके विपरीत भागवत में उद्धव के उपदेश से गोपियों को बहुत सन्तोष होता है।

रुक्मिनी-मंगल

इसकी रचना नंददास ने भागवत दशम स्कन्ध में वर्णित 'रुक्मिणी-हरण' और 'रुक्मिणी-उद्धार' के आधार पर की है। यद्यपि 'रुक्मिनी-मंगल' की मूल कथा भागवत के अनुसार चलती है, तथापि विस्तारों में मौलिक परिवर्तन मिलते हैं।

रुक्मिणी के विरह का जो मार्मिक वर्णन 'मंगल' में मिलता है, वह भागवत में अप्राप्य है। भागवत में ब्राह्मण के द्वारा कृष्ण के पास रुक्मिणी संदेश तो भेजती है, किन्तु 'मंगल' के से पत्र का उल्लेख उसमें नहीं मिलता। यद्यपि पत्र का समाचार बहुत कुछ संदेश से मिलता है, तो भी पत्र संबंधी विस्तार जैसे, वस्त्र के छोर से खोलकर पत्र को श्रीकृष्ण के हाथ में देना, मुद्रा खोल कर कृष्ण का उसे बांचने की चेष्टा करना, प्रेमावेश से उसे न बाँच सकना, कृष्ण का पत्र को बार बार छाती से लगाना, विरहिणी के हाथों से लिखा होने के कारण उसे (पत्र को) तप्त अनुभव करना, कृष्ण के अश्रुजल से उसका भीग जाना—नितान्त मौलिक है। 'पत्र' और 'संदेश' में प्रधान अन्तर यह है कि 'संदेश'-द्वारा रुक्मिणी कृष्ण को अपने हरण का उपाय बतला देती है, किन्तु 'पत्र' में ऐसा नहीं किया गया। हरण-उपाय कृष्ण की सूझ के लिए छोड़ दिया है।

भागवत में द्वारपाल ब्राह्मण को सीधा कृष्ण के पास ले जाता है जो राज-भवन में विराजमान हैं, किन्तु रुक्मिणीमंगल में ब्राह्मण यादव-सभा में बैठे हुए द्वारकानाथ के पास पहुँचता है। ब्राह्मण के चरणों की वंदना करके, उसका हाथ अपने हाथ में लेकर भगवान् उसे राजभवन में ले जाते हैं। ब्राह्मण के प्रति कृष्ण के शिष्टाचार का भागवत में भी वर्णन है।

'मंगल' में भोजन के पश्चात् ताम्बूल आदि देकर भगवान् विप्र से पूछने लगते हैं: "हे ब्राह्मण, अपनी सुन्दर वाणी द्वारा कहिये कि आप कहाँ से पधारे हैं"[3] भागवत में भोजनादि के पश्चात् भगवान् उसके प्रति द्विजधर्म का निरूपण करते हैं कि "ब्राह्मणों के लिए सन्तोष, त्याग, सब जीवों के प्रति परम हितैषिता, निरहंकारता और शान्ति की परम आवश्यकता है।"[4] तत्पश्चात्

१—भँवरगीत पं० २९६-३००   २—भँवरगीत पं० ३१६-२०

३—रुक्मिनी मंगल, पं० १०२   ४—भाग० १०-५२-३३

वे पूछते हैं : "हे ब्राह्मण राजा की ओर से आपको धर्म पालन में कुछ असुविधाएँ तो नहीं हैं?"[१] "हे ब्राह्मण देवता, आप कहाँ से, किस हेतु और अभिलाषा से इतना कठिन मार्ग तय करके यहाँ पधारें हैं! यदि कोई बात विशेष गोपनीय न हो तो हमसे कहिये। हम आपकी क्या सेवा करें![२]" ये विस्तार मंगल में लुप्त हैं।

ब्राह्मण को देखकर रुक्मिणी की जो दशा होती है वह भागवत से 'मंगल' की विशेषता की द्योतक है। भागवत में रुक्मिणी ब्राह्मण के मुख की प्रफुल्लता, अव्यग्रता आदि से ही ताड़ जाती हैं कि "श्रीकृष्ण आ गये।[३]" 'मंगल'[४] में उन्हें ब्राह्मण को देखकर कुछ धैर्य तो अवश्य होता है, किन्तु उनका हृदय धड़कता जाता है। वे पूछने का साहस नहीं कर पातीं। उन्हें शंका रहती है कि न जाने वह क्या कहें! कुछ सोच विचार के बाद साहस करने पर उनके मुख से शब्द निकलते हैं।

'मंगल'[५] में श्रीकृष्ण के शिख-नख का सुन्दर वर्णन है। सौन्दर्य-गरिमा से उनका प्रत्येक अंग दर्शकों को प्रभावित एवं आकृष्ट कर रहा है। यह प्रकरण भागवत में नहीं है। इसके विपरीत गिरजामंदिर से बाहर निकलती हुई रुक्मिणी के 'शिख-नख' का जो सुन्दर एवं विशद वर्णन भागवत[६] में है वह मंगल में लुप्त है। इसके अतिरिक्त राजा भीष्मक द्वारा किये हुए वैवाहिक प्रबन्धों की नंददास ने अवहेलना कर दी है। भागवत में यह प्रसंग बहुत अनूठा है।

रुक्मिणी-हरण के समय अनेक राजाओं के विरुद्ध यादव सेना के युद्ध का 'मंगल' में संकेतमात्र है। रुक्मिणी के सामने रुक्मि के मारने के लिए कृष्ण के उद्यत होने का नंददास ने कोई उल्लेख नहीं किया और न कृष्ण के प्रति बलराम के उपदेश का कोई प्रसंग आया है। मंगलकार ने केवल सिर को मूँड़कर कृष्ण द्वारा रुक्मि के छोड़े जाने का ही वर्णन किया है।[७]

सुदामा चरित्र (नंददासकृत)

भक्त सुदामा की कथा भागवत दशम स्कन्ध के ८०-८१ वें अध्याय में दी हुई है। नन्ददास ने इसी के आधार पर 'सुदामा चरित्र' लिखा है। इनकी मौलिकता ने भागवत के अनुकरण से जो सम्बन्ध अन्य ग्रन्थों में निभाया है वही यहाँ भी निभाया है।

सुदामा की पत्नी का चरित्र यहाँ भागवत की अपेक्षा अधिक उज्ज्वल हो गया

१—भाग० १०. ५२. ३४
२—भाग० १०. ५२. ३५
३—भाग० १. ५३. २६
४—रुक्मिनी मंगल पं० १५७-१६०
५—रुक्मिनी मंगल पं० १६७-१६४
६—भाग० १०. ५३. ५४
७—रु० मं०, पं० २५६-६०

है। भागवत में ब्राह्मणी अपने दुःख से दुःखी होकर सुदामा से कृष्ण के पास जाने के लिए आग्रह करती है, किन्तु यहाँ वह पति की दशा देखकर व्याकुल हो जाती है। वह सुदामा को भूख से अति 'दुर्बल'[१] देखकर छटपटा जाती है और कहती है कि "आप भगवान् कृष्ण के दर्शन करने के लिए जाइए।[२]" भागवत की ब्राह्मणी की तरह वह यह नहीं कहती कि "द्वारकानाथ कृष्ण आपको कुटुम्बी और दुःखी देखकर भूरि द्रव्य देंगे।[३]" भागवत में ब्राह्मणी चार मुट्ठी चिरवे माँग कर लाती है,[४] किन्तु यहाँ 'दो मुट्ठी'[५] का ही उल्लेख है।

भागवत में द्वारका का वर्णन नहीं है। भागवत के अनुरूप यहाँ भी कृष्ण सुदामा के चरणों को धोते और पोंछते हैं, किन्तु नन्ददास ने कुछ हास्य का सन्निवेश कर दिया है। "पोंछने का वस्त्र सुदामा के फटे चरण में अटक जाता है और सामने खड़ी हुई रुक्मिणी मुसकाने लगती हैं।"[६] यहाँ नन्ददास की प्रतिभा ने करुण में हास्य का सुन्दर पुट दे दिया है। पट के चरण में उलझने से हँसी ही नहीं आती अपितु सुदामा की दुर्दशा का परिचय भी मिलता है।

इस कथा के अन्तर्गत भागवत[७] में गुरु-महिमा का वर्णन भी है, उसे सुदामा चरित्र में छोड़ दिया गया है। भागवत[८] में कृष्ण की दूसरी मुट्ठी को रुक्मिणी ने रोका है, यहाँ[९] तीसरी मुट्ठी रोकी जाती है।

भागवत[१०] में सुदामा द्वारका से विदा होकर मार्ग से कृष्ण के व्यवहार की सराहना करते जाते हैं, यहाँ इस प्रसंग को छोड़ दिया गया है। यहाँ[११] धन की निंदा का प्रसंग है जिसका भागवत में लोप है। भागवत[१२] में सुदामा के भव्य भवनों और राजसी ठाठ-बाट का लम्बा चौड़ा वर्णन है, उसे यहाँ छोड़ दिया गया है।

रासपंचाध्यायी

जैसा कि ग्रन्थ के नाम से ही सूचित हो रहा है, इसमें कृष्ण और गोपियों की रासलीला से संबन्धित पाँच अध्याय हैं। यह श्रीमद्भागवत दशम स्कन्ध के २९-३३ अध्यायों पर आधारित है। प्रथम अध्याय का सूत्रपात श्री शुकदेव जी के ललित 'शिख-नख' वर्णन के साथ होता है। इसी के साथ 'श्रीमद्भागवत' और 'रास-पंचाध्यायी' की महिमा का संक्षिप्त निरूपण है। फिर कवि ने केवल दो पंक्तियों में इन पाँच

१—नन्ददास, पृ० ४५२, पं० ७
२—नन्ददास, पृ० ४५२, पं० १०
३—भाग० १०.८०.१०
४—भाग० १०.८०.१४
५—नन्ददास, पृ० ४५२, पं० १५
६—नन्ददास, पृ० ४५३ पं० ११
७—भाग० १०.८०.३२—३४
८—भाग० १०.८१.१०
९—नन्ददास, पृ० ४५३, पं० २४
१०—भाग० १०.८१.१५-२०
११—नन्ददास, पृ० ४५४, पं० ४-६
१२—भाग० १०.८१.२२-३२

अध्यायों के भाषा में लिखने का कारण लिखा है कि "एक परम रसिक मित्र की आज्ञा से मैंने भावगत की रासलीला को यथामति भाषा में लिखा है"।

उपर्युक्त कोई प्रकरण भागवत के उक्त अध्यायों में नहीं है। इसके अतिरिक्त भागवत में वृन्दावन की रमणीयता का जो वर्णन केवल दो पंक्तियों में दिया है उसी का रासपंचाध्यायी में लगभग ६८ पंक्तियों में वर्णन किया गया है। इसके अन्तर्गत श्री रासविहारी कृष्ण की रूप माधुरी, उनकी क्रीडास्थली तथा शरद् यामिनी के सौन्दर्य का अति मनोहर चित्र अंकित किया गया है। इसका समावेश भला भागवत की दो पंक्तियों में कैसे हो सकता था?

भागवत में योगिराज श्रीकृष्ण ने गोपियों को जिस पातिव्रत धर्म का उपदेश दिया है, नन्ददास ने उसे बिल्कुल छोड़ दिया है।

प्रथम अध्याय की समाप्ति के निकट ही नंददास ने कृष्णकृत-मन्मथ-मथन, रति-शोक, एवं अमृत द्वारा काम के पुनर्जीवन का वर्णन किया है। भागवत के उपर्युक्त अध्यायों में इस प्रसंग का भी लोप है। इसके अनन्तर भक्तवत्सल भगवान् श्रीकृष्ण गोपियों के प्रेम की जाग्रति और उनके मान मर्दन के निमित्त अन्तर्हित हो जाते हैं। इस प्रकरण में भागवत का अनुकरण है।

दूसरे और तीसरे अध्याय की कथा भागवत दशम स्कन्ध के ३० और ३१वें अध्याय की कथा के समान चलती है। दूसरे अध्याय में गोपियाँ अनेक द्रुम-लतादि से कृष्ण के सम्बन्ध में पूछती हैं और विरह-व्यथा से उन्मत्त हो कृष्ण में तन्मय हो जाती हैं। वे उनकी गति-कृति का स्वयं कृष्णरूप से अभिनय करती हैं। तीसरे अध्याय में गोपियों की विरह कातरता का निरूपण है। नंददास ने इस अध्याय को कुछ संक्षिप्त कर दिया है।

चौथे अध्याय में कृष्ण मिलन का वर्णन है। भागवत में गोपियों के प्रेम-परक प्रश्न का उत्तर कृष्ण ने बड़ी कुशलतापूर्वक विस्तार से दिया है। पंचाध्यायी में उसका केवल इस प्रकार उल्लेख किया गया है "यद्यपि गोवर्धन-धारी नंदनंदन श्रीकृष्ण बड़े चतुर और जगत् के गुरु थे तो भी गोपियों के प्रेम से विवश होकर निरुत्तर हो गये।"[1] अध्याय का शेषांश भागवत का अनुकरण करता है।

पंचम अध्याय में 'रास' और 'जल-क्रीडा' का आमोदपूर्ण वर्णन है। इसी को कवि ने 'रासपंचाध्यायी के माहात्म्य' से युक्त कर दिया है।

नंददास ने रासपंचाध्यायी में परमार्थतः भागवत का ही अनुकरण किया है, किन्तु कवि की प्रवृत्ति अनुवादमूलक नहीं है। फिर भी उसे भागवत का भावानु-

---

१—नंददास पृ० १७५, रा० पं०, पं० ४२५-२६

वाद कहना अनुचित न होगा। व्यक्तिगत रुचि के कारण कुछ प्रसंगों के वर्णन घट बढ़ गये हैं। द्वितीय अध्याय में गोपियों का कृष्ण-लीलानुकरण रासपंचाध्यायी में संक्षिप्त रूप से ही वर्णित है, किन्तु पंचम अध्याय में रास और जल-विहार के वर्णन मूल से कहीं अधिक विशद और विस्तृत हो गये हैं।

इसे भावानुवाद कहने में भी कुछ संकोच इसलिए प्रतीत होता है कि कुछ स्थलों पर क्रम-परिवर्तन भी दीख पड़ता है। गोपियों की जिस दशा का वर्णन रासपंचाध्यायी के द्वितीय अध्याय में ही कर दिया गया है वह भागवत दशम स्कंध के ३२वें अध्याय में मिलता है। भागवत के क्रम के अनुसार यह वर्णन रासपंचाध्यायी के चौथे अध्याय में होना चाहिये।

रूपमंजरी

संभव हो सकता है कि कवि को 'रूपमंजरी' नाम की प्रेरणा 'ग्वालियर की बेटी' रूपमंजरी के नाम से मिली हो और यह भी बहुत संभव है कि किसी अंश तक घटना भी उसी के जीवन में संघटित हुई हो, किन्तु 'विरहमंजरी,' 'रसमंजरी' आदि मंजर्यन्त नाम इस निश्चय पर बुद्धि को नहीं जमने देते। रूपमंजरी, स्नेहमंजरी, मानमंजरी आदि नाम 'नैषधीय चरित' में दमयन्ती के विरह-वर्णन में मिलते हैं। ये नाम दमयन्ती की सखियों के हैं। संभव है 'दमयन्ती-विरह' को पढ़कर रूपमजरी के सहारे कवि ने अपने वर्णन को मौलिकता के साँचे में ढाला हो। सत्य क्या है, निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। ग्रन्थ का घटनाक्षेत्र इतना संकीर्ण है कि पात्रों के चरित्र का विकास नहीं हो पाया, अतः अनुमान के लिए अधिक अवकाश नहीं है। कुछ भी सही, इस कहानी में निस्सन्देह 'ऐकदेशिक प्रेम' और 'भगवदनुग्रह' का उज्ज्वल चित्र देखने को मिलता है।

इसमें कवि ने दृश्य वर्णन, शिख-नख-वर्णन, षट् ऋतुवर्णन, और विरह-वर्णन का भी चित्र प्रस्तुत किया है। जहाँ तहाँ प्रेम का आदर्श और कृष्ण की महत्ता का भी चित्रण है। ऋतुवर्णन के समय कवि के ध्यान में महाकवि कालिदास का ऋतुसंहार रहा प्रतीत होता है। शिख-नख और विरह के चित्रण में कवि को अच्छी सफलता मिली है। अन्य प्रकरणों में कवि को विशेष सफलता नहीं मिली, क्योंकि उसके सामने प्रधानतया प्रेम और उसके पक्ष ही थे। अन्य प्रसंग गौण रूप में ही दीख पड़ते हैं।

भाव, हाव, हेला और रति के वर्ण में कुछ बातें रसमंजरी से मिलती-जुलती हैं। भाव, हाव, हेला और नवोढ़ा के लक्षण रसमंजरी के ही अनुकूल हैं। संभोग शृंगार का वर्णन गीतगोविन्द के अनुरूप है। यहाँ रसमंजरी

१—देखिये, नन्ददास : भूमिका पृ० ६३

रति-रस में इतनी लीन है कि वह 'प्रेम पुलक अंकुर' और 'चित विवधान[1]' को भी नहीं सह सकती। गीतगोविन्द में भी राधाकृष्ण की ऐसी ही संभोग-क्रीड़ा का उल्लेख है जिससे रोमांच के कारण गाढ़ालिंगन में, पलकों के कारण क्रीड़ा को प्रयोजन से देखने में, कथाओं की बातों से अधरामृत पान करने में, तथा आनन्द की प्राप्ति के कारण 'कामकला-युद्ध' में बाधा होती है।[2]

रूपमंजरी की कथा किसी सीमा तक ऊषा और अनिरुद्ध के कथानक के समानान्तर चलती है। इस अनुमान की पुष्टि इन्दुमती के इस कथन से हो जाती है :—"मेरी ऊषा नाम की एक सखी थी, वह स्वप्न में अनिरुद्ध से मिली। उसकी सखी चित्र लेखा ने ऊषा में उस प्रकार के लक्षण देखकर कारण पूछा। ऊषा ने सब बतला दिया। वह सूक्ष्म वेष से द्वारका गई और अपनी बुद्धि के कौशल से अनिरुद्ध को लाकर ऊषा से मिला दिया। यदि इसी प्रकार मैंने तुझे मिला दिया तो मुझे इन्दुमती कहना, अन्यथा नहीं[3]।" ऊषा स्वप्न में अनिरुद्ध के दर्शन करती है और चित्रलेखा ऊषा का अनिरुद्ध से साक्षात् मिलन करा देती है। इसी प्रकार रूप मजरी स्वप्न में कृष्ण का दर्शन करती है और इन्दुमती उसे कृष्ण से मिलाती है। अन्तर इतना सा है कि ऊषा और अनिरुद्ध का मिलन साक्षात् होता है और रूपमजरी तथा कृष्ण का मिलन स्वप्न में। उसे कृष्ण का रतिकाल में साक्षात् दर्शन नहीं होता, किन्तु कृष्ण के संयोग का उसे ज्ञान रहता है। जागरण के पश्चात् रूपमजरी का शरीर सुरतात के समस्त लक्षणों से युक्त मिलता है। साक्षात् मिलन में कलिकाल का व्यवधान माना गया है[4]।

विरहमंजरी

इसकी कथा-वस्तु संस्कृत से नहीं ली गई है, किन्तु शैली में मेघदूत का अनुकरण दीख पड़ता है। वहाँ यक्ष मेघ को दूत बनाकर गृहिणी के निकट भेजता है, यहाँ ब्रजबाला दूतत्व चन्द्र को सौंपती है। कालिदास का विरही यक्ष मेघ से त्वरित जाने और भूल न जाने का अनुरोध करता है,[5] नंददास की विरहिणी नायिका भी चन्द्र से मंद न चलने के लिए बारबार अनुनय करती है[6]।

१—नददास पृ० २६, रूपमंजरी पं० ५५२-५३
२—गी० गो०, सर्ग १२, प्रबन्ध २४, गीत १
३—नंददास पृ० १२, रूपमजरी प० २४१-२४५
४—नंददास, पृ० २७, रूप मजरी पं० ५६६-७०
५—देखिये मेघदूत, पूर्वमेघ २०, २४
६—नन्ददास पृ० ३४, विरह-मंजरी पं० १३५

अन्तर यह है कि यक्ष मेघदूत में मेघ को सन्देश और उसकी वितरण-शैली स्वयं समझाता है[1], किन्तु नंददास की 'विरहिणी वाला' संदेश के वितरण की शैली को चन्द्र[2] की इच्छा पर ही छोड़ देती है।

नन्ददास ने दूसरी शैली बारहमासे की ग्रहण की है जो नन्ददास के समय प्रचलित हो चुकी थी।

विरह के चार भेदों का निरूपण शास्त्रीय ढंग से किया गया है। इसके अनन्तर विरहदशा का वर्णन है। कथावस्तु अति सूक्ष्म है।

सुदामा चरित *(नरोत्तमदासकृत)*

यह एक छोटी सी रचना है। कवि-परम्परा के अनुसार इसका प्रारम्भ श्रीगणेश-स्तवन के साथ होता है। भागवत में यह मंगलाचरण नहीं है।

इसके अनन्तर कृष्ण-सुदामा की मैत्री तथा सुदामा और उनकी पत्नी के चरित्र का संक्षिप्त चित्रण है। यहाँ सुदामा के विषय में "भीख माँगि भोजन करै[3]" का उल्लेख मिलता है। यह भागवत से समर्थित नहीं है, भागवत में इसके स्थान पर सुदामा को "प्रारब्ध के अनुसार मिले हुए से निर्वाह करने वाला" कहा गया है।

पत्नी द्वारा सुदामा के प्रति जिस उपदेश का उल्लेख यहाँ[5] है वह भागवत में नहीं है। वहाँ "वह दरिद्रता से सताई हुई और भूख से काँपती हुई, मुरझाए हुए मुख से पति से केवल एक दिन प्रार्थना करती है।"[6]

भागवत[7] में पत्नी की प्रार्थना से प्रेरित सुदामा द्वारका जाने के लिए सन्नद्ध हो जाते हैं, किन्तु सुदामाचरित[8] में वे अपनी पत्नी को प्रत्युपदेश करते हैं। इस पर भी जब ब्राह्मणी उनसे पुनः आग्रह करती है तो सुदामा कुछ चिढ़ जाते हैं और फिर दोनों के तर्कमय उत्तर-प्रत्युत्तर प्रारम्भ हो जाते हैं। दम्पति की ये तर्कोक्तियाँ भागवत में नहीं हैं। इनमें भक्ति की निष्कामता, भगवान् श्रीकृष्ण की दीनदयालुता, द्विजादि वर्णों के धर्म, दीनता से गार्हस्थ्य की दुर्दशा भगवान की भक्तवत्सलता, त्रिलोकेश्वर श्रीकृष्ण का वैभव, भगवान् की सर्वज्ञता और सन्मैत्री का सुन्दर चित्रण किया गया है। ये प्रकरण मौलिक हैं।

१—मेघदूत, उत्तर मेघ, ३६-५५ मंजरी पं० १३६
२—नन्ददास पृ० ३५, विरह
३—सुदामाचरित, दोहा ४
४—भाग० १०-८०-७
५—सुदामा चरित
६—भाग० १०-८०-८
७—भाग० १०-८०-१२
८—सुदामा चरित

स्त्री के तर्कों से प्रभावित होकर सुदामा द्वारका जाने के लिए तैयार हो जाते है, किन्तु भेंट का विचार आते ही वे अपनी असमर्थता प्रकट करते हैं कि:—"द्वारका जाऊँ तो कैसे जाऊँ ? पाँच सुपारियाँ तो अलग रहीं, मेरे पास भेंट के लिए चार चावल भी नहीं हैं[1] ।" इस असमर्थता का भागवत में कोई उल्लेख नहीं है। वहाँ वे पत्नी से यही पूछते हैं, "कल्याणि, क्या घर में कुछ भेंट देने योग्य वस्तु भी है ? यदि हो तो दे दो ।" इसके अनन्तर नरोत्तमदास ने ब्राह्मणी के पाव भर चावल लाने का वर्णन किया है, भागवत में चार मुट्ठी चिवड़ा लाने का उल्लेख है ।

तीन दिन की यात्रा के पश्चात् जब सुदामा के पैर दुख जाते हैं तब वे मार्ग में घास और 'पयार' बिछाकर सो जाते हैं। भगवान् कृष्ण अपने भक्त के श्रम का अनुमान करके अपनी माया द्वारा उसे गोमती नदी के तट पर पहुँचा देते हैं। भागवत में भगवान् की इस माया का कोई संकेत नहीं है। वहाँ सुदामा पैदल ही द्वारका पहुँचते हैं। द्वारका पहुँचने पर सुदामा के विस्मय का वर्णन भागवत में अनुपलब्ध है। द्वारपाल की सृष्टि मौलिक है। सुदामा की दीनता का परिचय देने के लिए सम्भवतः द्वारपाल की आवश्यकता हुई है। कंगाली का चित्र खींचने में कवि प्रतिभा बड़ी सफल सिद्ध हुई है।

सुदामा का नाम सुनते ही कृष्ण का दौड़ कर बाहर आना, और चरण धोते समय मित्र की दुर्दशा से कृष्ण का द्रवित हो जाना—ये प्रकरण भी कवि-कल्पना से उत्पन्न हुए हैं। यहाँ भागवत में निरूपित कृष्ण की गुरु-आश्रम-विषयक स्मृतियों को भुला दिया गया है। चनों की चोरी की वार्ता भी कवि के मस्तिष्क की उपज है ।

भागवत में स्वयं कृष्ण सुदामा की काँख में दबी हुई पोटली को छीनते हैं। जीर्ण होने से पट फट जाता है और बिखरे हुए चिउड़ों की एक मुट्ठी चबा लेते हैं। दूसरी के भरते ही रुक्मिणी उसे पकड़ लेती है; किन्तु सुदामा चरित में विप्र बड़े संकोच के साथ जीर्ण पट से चावल खोलते हैं और वस्त्र के फट जाने से वे बिखर जाते हैं। उनमें से दो मुट्ठी कृष्ण चबा लेते हैं, तीसरी के उठाते ही रुक्मिणी जी उसे पकड़ लेती हैं। चिउड़ों के एक बार चबाने पर ही देवादि के थर्रा जाने का प्रकरण भागवत में नहीं है। यह कल्पना-प्रसूत है। भोजनादि के विस्तारों में भी कवि की मौलिक सूझ है।

भागवत में सुदामा कृष्ण के घर पर एक दिन ठहरते हैं किन्तु यहाँ सात दिन तक। यहाँ चलते समय सुदामा कृष्ण के बड़े तपाक से मिलने और रुखाई से

१—सुदामाचरित

हि० सा० सं० प्र०—१०

भेजने का ध्यान करके कुछ क्षुब्ध से हो जाते हैं, किन्तु भागवत में वे इस समय बड़े सन्तुष्ट रहते हैं।

नगर में पहुँचने पर सुदामा के विस्मय में हास्य का पुट भी कवि ने मौलिक रीति से दिया है। पति-पत्नी के इस अवसर के हास्यपूर्ण संवाद का मूल में अभाव है।

सुदामा के वैभव का भागवत और सुदामा-चरित दोनों में वर्णन है, किन्तु सुदामा चरित में यह वर्णन कवि-कल्पना और प्रतिभा के सहयोग से अधिक चमक उठा है।

इसमें केशव ने प्रबोधचन्द्रोदय को आधार बना कर उसी की शैली का अनुकरण किया है, पर ग्रन्थ के नामकरण की प्रेरणा कवि को श्रीमद्भगवद्गीता से मिली प्रतीत होती है। भगवद्गीता और प्रबोधचन्द्रोदय के सिद्धान्तों में बहुत कुछ समता है, किन्तु प्रबोधचन्द्रोदय में नाटकीय नियमों के अनुरोध से गीता के भावों और आध्यात्मिक तत्वों को पात्रता प्राप्त हो गई है। विज्ञानगीता में नाटक के अनेक नियम नहीं मिलते। सम्वादों का आग्रह नाटक शैली के अनुकरण के कारण ही दीख पड़ता है। कथोपकथन से कठिन और नीरस विषय भी कितना सुगम और सरस हो जाता है, यह बात विज्ञानगीता से स्पष्ट हो जाती है।

विज्ञान गीता

केशव ने हू-बहू उन्हीं पात्रों का चयन नहीं किया जिनका प्रबोधचन्द्रोदयकार, कृष्ण मिश्र ने किया है। उन्होंने मिश्रजी के कुछ पात्रों को बिल्कुल छोड़ दिया है, कुछ का नाम बदल दिया है और कुछ नये पात्रों की सृष्टि की है। शिव, पार्वती, पाखंड, संन्यासी, सती, श्रम, वसुकला, वसिष्ठ, शुक्र, केशव और नारीवेश—ये पात्र केशव की मौलिक उद्भावना से प्रादुर्भूत हुए हैं। जिसका नाम मिश्रजी ने 'पुरुष' रक्खा है, केशव उसी को 'जीव' कहते हैं। 'मिथ्यादृष्टि', विभ्रमावती, हिंसा, उपनिषत्, मैत्री और कुछ अन्य पात्रों को विज्ञानगीता में कोई स्थान नहीं मिला।

दोनों ग्रन्थों का विषय आध्यात्मिक सिद्धान्तों का विश्लेषण है। दोनों के उद्देश्यों की पूर्ति आत्मज्ञान या आत्म-प्रकाश के साथ मुक्ति में होती है। मुक्ति के लिए जिन-जिन साधनों की अनिवार्यता है उनका दोनों ग्रन्थों में समान रूप से निरूपण किया गया है। मोक्ष की स्थिति काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद आदि के उस पार है। जब तक इन अन्तरायों का उन्मूलन न होगा, तब तक मुक्ति-पथिक आगे न बढ़ सकेगा। इस सिद्धान्त को मिश्र और केशव दोनों ने कथोपकथनों द्वारा अभिव्यक्त किया है। भक्ति और वैराग्य के संबल को दोनों ने स्वीकार किया है। आत्मा और परमात्मा की अभिन्नता और जगत् की ब्रह्म-

रूपता का दोनों ने अद्वैतिक ढंग से निरूपण किया है। अद्वैत ज्ञान का ही दूसरा नाम है आत्मज्ञान। आत्मज्ञान की अवस्था में स्वरूपस्थता प्राप्त होती है। स्वरूपस्थ ही मुक्ति-सुख का अनुभव करता है। आत्मज्ञान या आत्मप्रकाश के बिना मुक्ति सम्भव नहीं है।

सैद्धान्तिक समता होते हुए भी दोनों ग्रन्थों में प्रथित अन्तर है। कृष्ण मिश्र ने रूपक-शैली के अनुसार गद्य-पद्य, दोनों का प्रयोग किया है, किन्तु केशव ने पद्य का ही आश्रय लिया है। सिद्धान्तों और पात्रों के साम्य से किसी को भी यह भ्रम हो सकता है कि विज्ञानगीता प्रबोधचन्द्रोदय का अनुवादमात्र है, किन्तु उसे अनुवाद कहना समुचित न होगा। कुछ स्थलों को छोड़कर जिनसे अनुवाद की गंध आती है, शेष में भावछाया अथवा स्वच्छन्द बुद्धिविलास का ही परिचय मिलता है।

विज्ञानगीता के कुछ विस्तार स्वतंत्र और मौलिक हैं। वर्षा-वर्णन, शरद्-वर्णन, विश्वनाथपंचक, तथा गंगाष्टक में कवि की मौलिकता झलक रही है। विन्दुमाधवाष्टक के लिखने की प्रेरणा केशव को प्रबोधचन्द्रोदय से ही मिली है। नाटक के 'देहि बोधोदयं देव' को ही केशव ने अष्टक में 'प्रबोधो उदो देहि श्री विंदुमाधौ' के रूप में ग्रहण किया है। दोनों के भावप्रस्तुतीकरण में अन्तर है।

विज्ञानगीता लिखते समय 'गीता' और 'भागवत' के सिद्धान्त भी केशव के मस्तिष्क में विद्यमान थे। इसका समर्थन विज्ञानगीता का यह दोहा करता है:—

> कहे भागवत में असम, गीता कहे समान।
> अप्रमान कौनहिं करौ, कौनहिं करौ प्रमान।

नवधा भक्ति का प्रतिपादन भागवत के समान किया गया है तथा ब्राह्मणों की पूज्यता की विवेचना भागवतादि पुराणों की छाया में ही हुई दीख पड़ती है। मन और उसकी दशाओं के विवेचन में भगवद्गीता का अनुकरण प्रतीत होता है। वसिष्ठ की पात्रता से योगवासिष्ठ का आभास मिलता है।

(ग)

गीतावली

इसकी कथा राम-जन्म से प्रारम्भ होती है। इसके पश्चात् आनन्द-बधाई, जातकर्म, नामकरण, दुलार, पालने में सोना, झूलना, आँगन में घुटनों के बल दौड़ना, बाल-छवि, चारों भाइयों का आँगन में खेलना, प्रातः माताओं का राम को जगाना, सखाओं का द्वार पर आकर रामादि को बुलाना, अवध की गलियों में उनका खेलना—इन प्रसंगों के वर्णन में कवि के मौलिक कौशल को पर्याप्त सफलता मिली है।

यहाँ परमात्मा को अपनी माया से रामरूप में प्रकट हुआ जान कर विश्वामित्र उनके दर्शन के लिए अयोध्या में आते हैं[१] और मख-रक्षा के लिए राम-लक्ष्मण दोनों को माँगते हैं। ताटका-वध और राम-लक्ष्मण को दी गई अस्त्रादि की शिक्षा का संकेतमात्र है। अहिल्योद्धार को विस्तार से लिखा गया है। यह घटना अध्यात्म[२] रामायण के अनुरूप मिथिला-मार्ग[३] में गंगा के समीप घटती है।

जिस प्रकार भागवत[४] में कंस के अखाड़े में दर्शक लोग अपनी अपनी भावना के अनुरूप कृष्ण के स्वरूप को देखते हैं, उसी प्रकार यहाँ[५] धनुष यज्ञ में पहुँचने पर राम को सभा के लोग देखते हैं। यहाँ[६] हनुमन्नाटक[७] की छाया में (कुछ) देखने वाले राम की सुकुमारता और धनुष की कठोरता के विचार से अधीर हो उठते हैं।

जनक की वाटिका में राम-लक्ष्मण का फूल लेने के लिए जाना प्रसन्नराघव[८] नाटक के अनुकरण पर लिखा गया है। दैवयोग से उसी अवसर पर सीता भी गिरिजा-पूजन के लिए जा पहुँचती हैं। देखकर परस्पर आकर्षण होता है।[९]

सब राजाओं के प्रयास करने पर धनुष अविचल रहता है। इससे जनक को बड़ी निराशा होती है और वे राजाओं को धिक्कारते हुए कहते हैं:—"सप्त द्वीप और नव-खंड-भूमि के भूपाल यहाँ एकत्रित हुए हैं। शोक है कि जहाँ कन्या और कीर्ति का भारी लाभ था वहाँ से भी नरेश लोग मुड़कर चल दिए हैं। धनुष को कोई हिला भी नहीं सका है, मानों पृथ्वी वीर-विहीन हो गई हो अथवा सुभट कहीं जा छिपे हों[१०]।" जनक की इस उक्ति में हनुमन्नाटक[११] की छाया है।

प्रसन्नराघव[१२] के अनुकरण पर तुलसीदासजी,[१३] धनुष तोड़ने के लिए राम के उद्यत होने पर, जनक की द्विचित्तता का वर्णन करते हैं। जनक के धिक्कार-वाक्यों से लक्ष्मण की भौंहें कुटिल हो जाती हैं और भुजा एवं अधर फड़कने

१—तु० र०, पृ० ३४, पं० ४ : तु० की०, अ० रा० १.४.१

२—तु० र०, पृ० ३५, पं० १ : तु० की०, अ० रा० १.४.७

३—अ० रा०, बा० कां०, ५-१४.१५   ४—भाग० १०.४३.१७

५—तु० र०, पृ० ४२, पं० ६-७   ६—तु० रा०, पृ० ४४, पं० २०

७—ह० ना० १.३६-३७   ८—प्र० रा०, पृ० ३४

९—तु० र०, पृ० ४६-४७

१०—तु० र०, पृ० ५८, पं० १३-१६   ११—ह० ना०, १.३५

१२—प्र० रा०, पृ० ६७, पं० १-५, १०-१३

१३—तु० र० पृ० ५७, पं० ४

लगते हैं। वे उत्तेजित होकर कहने लगते हैं :—"हे भानुकुल-कमल-भानु ! यदि आप आज्ञा दें तो, त्रिपुरारी पिनाक तो क्या, प्रत्यंचा चढ़ाकर मन्दर और मेरु पर्वत तक को नवा सकता हूँ; आप अपने सेवक का तनिक खेल तो देखिये : "किस प्रकार धनुष चढ़ाता हूँ, लेकर दौड़ता हूँ, और कमलनाल के समान तोड़ता हूँ: तभी आपका छोटा भाई कहलाने का अधिकारी हूँगा[1]।" इन वाक्यों में हनुमन्नाटक[2] की भाव-छाया है।

धनुष तोड़ने के लिए राम के बद्धपरिकर होने पर भू, भूधरादि को दी हुई लक्ष्मण की चेतावनी[3] में गोस्वामीजी ने हनुमन्नाटक[4] का अनुकरण किया है। इसके बाद "राम धनुष को हाथ में उठाते हैं जिससे कौशिक पुलकायमान हो जाते हैं, राजाओं के देखते देखते उसे नवा देते हैं जिससे उनके मुख लज्जावनत हो जाते हैं, सहज ही में प्रत्यंचा खींचते हैं जिससे सीता का मन भी आकृष्ट हो जाता है और जनक को हर्ष होता है, और उसके भंजन के साथ ही भार्गव के अहंकार को भी भग्न कर देते हैं, इससे लोक विस्मित हो जाता है[5]।" इस वर्णन में हनुमन्नाटक[6] का अनुवाद है। धनुर्भंग[7] के घोर रव के संक्षिप्त वर्णन में हनुमन्नाटक[8] के विशद वर्णन की झलक है।

फिर सीता राम को जयमाला पहनाती हैं, सुर दुन्दुभि बजाकर आकाश से सुमन वृष्टि करते हैं, और मिथिलेश पत्रिका लेकर सतानन्द को राजा दशरथ के पास भेजते हैं। विवाह का बहुत संक्षिप्त वर्णन किया गया है। परशुराम-संवाद का नितान्त लोप है। परशुराम[9]-आगमन का केवल संकेतमात्र है। उससे यह निश्चित नहीं किया जा सकता कि परशुराम का आना कब और कहाँ हुआ ?

राजा दशरथ राम को युवराज पद देने के लिए गुरु वसिष्ठ से विनय करते हैं। उनकी अनुज्ञा से समारोह के साथ उत्सव की तैयारियाँ होने लगती हैं। नगर में आनन्दोत्सव की सूचना पाकर कैकेयी बिलखने लगती है और देवमाया[10] के वशीभूत होकर कठिन कुटिलता ठान लेती है। यहाँ अध्यात्म[11] रामायण का अनुकरण दीख पड़ता है। मंथरा और कैकेयी के सम्वाद का यहाँ लोप है।

१—तु० र०. पृ० ५८ पं० १८-२१ २—ह० ना० १.३८
३—तु० र०, पृ० ५६ पं० १२-१४ ४—ह० ना० १.४०
५—तु० र०, पृ० ५६ पं० १५-१८ ६—ह० ना० १.४३
७—तु० र०, पृ० ५६ पं० १६-२० ८—ह० ना० १.४४, ४५, ४६
६—तु० र०, पृ० ५६, पं० १८, तथा पृ० ७० पं० ३-४
१०—तु० र, पृ० ७१, पं० ८ ११—अ० रा०, अयो० कां० २.४४,४५

राम को वन जाने से रोकने के लिए कौसल्या[1] का तर्क और सीताराम[2] का संवाद वाल्मीकि[3] और अध्यात्म[4] रामायण के अनुरूप ही लिखा गया है। इस अवसर पर लक्ष्मण के कोप का कोई उल्लेख नहीं है। लक्ष्मण के विनीताग्रह के कारण राम उन्हें माता के पास वन-गमन के लिए आज्ञा लेने भेजते हैं। माता उन्हें आज्ञा के साथ कुछ उपदेश[5] भी देती हैं जिसमें हनुमन्नाटक[6] की छाया है। सुमंत्र और उनके रथ का प्रसंग छोड़ दिया गया है।

राम, लक्ष्मण और सीता वन में जा रहे हैं। कुछ दूर पैदल चलने पर सीता थक कर राम से पूछने लगती हैं कि "कहिये, गन्तव्य वन कितनी दूर है[7]।" यह भावना हनुमन्नाटक[8] के अनुकरण पर की गई प्रतीत होती है।

इधर तो राम लक्ष्मण और सीता के साथ, पिता की चरण-वन्दना कर, वन को चल देते हैं, उधर राजा दशरथ प्राण-विसर्जन कर देते हैं।

मार्ग में जाते हुए पथिकों को देखकर ग्राम-वधूटियाँ मुग्ध हो जाती हैं और परस्पर अनेक बातें करती हैं। यद्यपि वे बातें हनुमन्नाटक[9] की प्रेरणा से लिखी गई हैं, किन्तु यहाँ[10] उनका विस्तार बढ़ गया है।

बुलावा पाकर भरत अनुज के साथ ननिहाल से अवध में आते हैं। वे राम-वनगमन का कारण जानकर कैकेयी को बहुत कटु शब्दों में फटकारते हैं और पुरवासियों के साथ राम से मिलने चल देते हैं। भरत-मिलाप का वर्णन संक्षेप में दिया गया है। भरतागमन के अनुमान से लक्ष्मण के रोष करने का प्रसंग यहाँ नहीं है।

राम के विरह में घोड़ों की व्याकुलता देखकर कौसल्या के संताप का वर्णन कवि ने मौलिक ढंग से किया है।

अरण्यकाड का प्रारंभ पंचवटी-वर्णन से होता है। पंचवटी में राम, लक्ष्मण और सीता, सब बैठे हुए हैं और किसी पवित्र कथा का प्रसंग चल रहा है। सामने से एक कनक-कुरंग निकलता है। सीता उस पर मुग्ध हो जाती हैं और राम सर-चाप लेकर उसके पीछे चल देते हैं। सूर्पणखा का प्रकरण विलुप्त है।

१—तु० र०, पृ० ७१-७२ २—तु० र०, पृ० ७३
३—वा० रा०, अयो० कां० सर्ग २, तथा सर्ग २६, २७, २८
४—अ० रा०, अयो० कां० ४.७ १३
५—तु० र०, पृ० ७४, पं० १६-१७ ६—ह० ना० ३.१३
७—तु० र०, पृ० ७५, पं० ७ ८—ह० ना० ३.१७
९—ह० ना० ३.१८ १०—तु० र०, पृ० ७६-८४

मारीच-वध, सीता का लक्ष्मण को राम के पास भेजना और सीताहरण, इनका केवल संकेत है।

जटायु और रावण के युद्ध, और आहत गृद्ध के विलाप का वर्णन कुछ विस्तीर्ण हो गया है। फिर जटायु और राम का वार्तालाप है। इस समय राम जटायु को संदेश देते हैं :—"हे तात, आप पिता जी को सीता-हरण की सूचना न देना। उन्हें अधिक दुःख होगा। थोड़े दिनों में ही रिपुवर्ग आपके पुण्यों की प्रतापानल में भस्म हो जायगा और दशानन कुल-सहित सुरसभा में अपना समाचार जा कहेगा।"[1] इस उक्ति पर हनुमन्नाटक[2] की छाया है।

जटायु को परम पद देकर राम शवरी के घर जाते हैं। वह सानुज राम की बड़ी 'आवभगत' करती है। गीतावली के इस चित्र में मौलिक सौन्दर्य है।

किष्किंधा काड में दो ही पद हैं। हनुमान-परिचय, सुग्रीव-मैत्री, और बालि-वध की गीतावली में अवहेलना कर दी गई है।

सुन्दरकाड में प्रारम्भिक घटनाओं का बहुत चलता विवरण है। विवर-प्रवेश, सपाति-मिलन, और समुद्र-लंघन का केवल संकेत है। सुरसा, समुद्री-निशाचर और लंकिनी के वध तथा विभीषण से भेंट का वहाँ लोप है।

यहाँ सीताजी का पता हनुमान को विभीषण से नहीं मिलता, वरन् घर-घर खोजते हुए हनुमान को सीता अशोक वाटिका में मिल जाती हैं। वाल्मीकि रामायण में भी यह प्रकरण इसी प्रकार है। हनुमान के मुद्रिका डालने[3] के प्रकरण में प्रसन्नराघव[4] नाटक का प्रभाव है। हनुमान और सीता के वार्तालाप[5] पर अंशतः प्रसन्नराघव[6] नाटक की छाया है। अधिकांश रूप में यह प्रसंग मौलिक है। वाटिका-विध्वंस और लंका-दहन का संकेतमात्र दिया गया है। हनुमान द्वारा सीता की दशा[7] का राम को निवेदन हनुमन्नाटक[8] से प्रेरित होता हुआ भी मौलिक सौन्दर्य लिए हुए है।

मन्दोदरी, महोदय और माल्यवान् द्वारा रावण के समझाये जाने का केवल संकेत है। इसके अनन्तर विभीषण रावण को समझाते हैं। विभीषण पर पाद[9]-प्रहार करने का वर्णन अध्यात्म रामायण[10] और हनुमन्नाटक[11] के अनुरूप है।

१—तु० र०, पृ० ११७, पं० ६-१२ २—ह० ना० ४.४१
३—तु० र०, पृ० १२१, गीत २ ४—प्र० रा०, पृ० १२८, पं० १४-१५
५—तु० र०, पृ० १२३-१२७ ६—प्र० रा०, पृ० १३१-१३२
७—तु० र०, पृ० १२६-१३० गी० १७-२० ८—ह० ना० ६.१२-१५
९—तु० र०, पृ० १३३, पं० १२ १०—अ० रा०, युद्ध कां० ८ १२
११—ह० ना० ६.४७

इस अपमान की शिकायत विभीषण अपनी माँ से करते हैं। माँ बार-बार उन्हें सान्त्वना देती है। अनन्तर वे माँ से आशीर्वाद प्राप्त करके राम से मिलने की तैयारी करते हैं। इससे पहले वे कुबेर से मिलते हैं और सब समाचार कह देते हैं। वहीं भगवान् महेश से भेंट होती है और वे उन्हें राम की शरण में जाने का उपदेश देते हैं। शंकर का उपदेश और आशीर्वाद पाकर विभीषण राम से मिलने चल देते हैं। यह घटनावली गोस्वामीजी की नवीन उद्भावना है।

अशरण-शरण राम विभीषण को अपनी शरण में ले लेते हैं। विस्तारों को छोड़ दिया गया है। इसके पश्चात् सीता और त्रिजटा का वार्तालाप है।

लंका-काड में समुद्र-तरण और रामेश्वर की स्थापना का कोई वर्णन नहीं है। एक ही छंद में रावण-मन्दोदरी-सम्वाद दे दिया गया है। इसके बाद अंगद-रावण के सवाद का सच्चिप्त वर्णन है। लक्ष्मण को शक्ति लगने का उल्लेखमात्र है। प्रहार करने वाले का स्पष्ट वर्णन नहीं है। युद्ध-वर्णन बिल्कुल नहीं है।

सुषेण के कहने से हनुमान् 'सजीवनी' लेने जाते हैं। मार्ग में वे कालनेमि का वध करते हैं। कौतुक में ही वे द्रोणाचल लेकर चल देते हैं। वहाँ आए हुए भरत उन्हें राक्षस समझ कर, बाण-विद्ध कर देते हैं, किन्तु परिचय पाने पर वे उन्हें जीवन प्रदान कर देते हैं। इस अवसर पर भरत-हनुमान-भेंट कवि की नई सूझ है। पर्वत-सहित ओषधि लाकर लक्ष्मण को सचेत करके, हनुमान उसे यथास्थान रख आते हैं।

इधर माताएँ शकुन मनातीं और मंगल कामनाएँ करती हैं। तदनन्तर सीता और लक्ष्मण के साथ राम अवध में पहुँचते हैं।

उत्तरकाड में राम के राजा होने, उनके सोने-जगने, दिनचर्या, अयोध्या, वसंत में अवधवासियों के साथ राम के फाग खेलने, सीता-वनवास, और वाल्मीकि-आश्रम में लव-कुश के जन्म तथा नामकरण के वर्णन हैं। सीता के वनवास और लव-कुश जन्म में अध्यात्म रामायण का अनुकरण है। फाग और दिनचर्या के वर्णन मौलिक हैं। अन्त में एक ही पृष्ठ पर सम्पूर्ण कथा संक्षेप में कह दी गई है।

कृष्ण-गीतावली

यह रामभक्त तुलसीदास की कृष्ण के सम्बन्ध में इकसठ पदों की एक छोटी सी रचना है। यह स्पष्टतः मुक्तक पदों का संग्रह है जिनका विषय कृष्ण की बाल-केलि, एक-दो बाल लीलाएँ तथा गोपिका-विरह है। इसका आधार भागवत पुराण है, किन्तु इसमें कथा की कोई प्रवृत्ति नही पाई जाती।

इसमें रामादि के जन्म का कोई वर्णन नहीं है। सबसे पहले राम राजप्रासाद के द्वार पर अवधेश की गोद में दीख पड़ते है। विश्वामित्र का आगमन

कवितावली राम-लक्ष्मण का उनके साथ जाना, ऋषि-मख पालन, एवं अहिल्योद्धार के प्रकरण यहाँ लुप्त हैं। रामादि की छवि एवं क्रीडादि के वर्णन के उपरान्त ही सीता-स्वयंवर और धनुभंग का प्रसंग गाया जाता है। दशरथ को सूचना भेजकर बरात सहित बुलाने, तथा भरतादि के विवाह के प्रकरण भी लुप्त हो गये हैं। वाल्मीकि और अध्यात्म रामायण के अनुरूप परशुराम-आगमन विवाहोपरान्त ही दिखाया गया है। यहीं बालकांड समाप्त हो जाता है।

अयोध्याकांड का प्रारंभ राम-वन-गमन से होता है। राज्याभिषेक की तैयारी मंथरा-कैकेयी-संवाद, राजा की व्याकुल दशा, लक्ष्मण और सीता का राम के साथ जाने के लिए अनुरोध—ये प्रसंग कवितावली में नहीं हैं। कौसल्या और सुमित्रा का संवाद वाल्मीकि रामायण से प्रेरित है, किन्तु वर्णन-चित्र में बहुत कुछ मौलिकता है। अन्तर केवल इतना है कि यहाँ सुमित्रा कौसल्या को समझाती हुई नहीं दीख पड़तीं।

इसके अनन्तर हनुमन्नाटक[1] के अनुकरण पर वन-मार्ग में केवट[2] की स्नेहमयी अटपटी उक्तियों का सन्निवेश किया गया है। कवि ने प्रतिभा द्वारा इसे अधिक विस्तृत कर दिया है। हनुमन्नाटक[3] के अनुरूप यहाँ[4] भी सीता थोड़ी दूर चलने पर थक जाती हैं। उनके भोले शब्दों से राम को खेद होता है। ग्राम-वधुओं के प्रश्न और सीता के उत्तर का प्रसंग[5] हनुमन्नाटक[6] के प्रभाव का सूचक है। मौलिकता का रंग देने में, यहाँ भी कवि को बहुत सफलता मिली है। नाटक की 'पथिक-वधुओं[7]' को कवितावली में 'ग्राम-वधू'[8] कर दिया गया है।

हनुमन्नाटक में पंचवटी को जाते समय सीता राम के साथ परिहास करती हुई कहती हैं: "आपकी चरण-रज के स्पर्श से अहिल्या पाषाण-भाव त्यागकर दिव्यरूप में गोतम ऋषि को प्राप्त हो गई है, न जाने अनेक पाषाणवती विन्ध्यावटी में आपके विचरण से कौन-कौन तापस दारवन्त होंगे।"[9] कवितावली में यह परिहास विन्ध्यवासी तपस्वियों के मुख में रख दिया गया है। भावानुवाद होते हुए भी मौलिकता स्पष्ट है। यहाँ उदासीन तपस्वियों की स्तुति में परिहास का सुन्दर समन्वय किया गया है। वे कहते हैं: "हे करुणाकर आपने बड़ी करुणा की जो

१—ह० ना० १.४८-४६
२—तु० र०, पृ० १६५, कवित्त ६-८
३—ह० ना० ३.१७
४—तु० र०, पृ० ११७, कवित्त, ११
५—तु० र०, पृ० १६६-२०० कवित्त २१-२२
६—ह० ना० ३.१६
७—ह० ना० ३.१६
८—तु० र०, पृ० १६६, पं० २०
९—ह० ना० ३.४७

इस पाषाणमय अटवी में पदार्पण किया। अब आपके पद कमल की रज के स्पर्श से सब शिलाएँ चन्द्रमुखी युवतियाँ बन जायँगी[1]।"

अरण्यकांड में केवल एक छंद है। पंचवटी की पर्णकुटी में राम, लक्ष्मण और सीता बैठे हुए हैं। हेम-कुरंग को देखकर सीता के अनुरोध से राम धनुष-बाण लेकर उसे मारने चल देते हैं।

किष्किंधाकांड में भी एक ही छन्द है। इसमें अंगदादि के हताश हो जाने पर हनुमान के समुद्र-लंघन का वर्णन है।

सुन्दरकांड में हनुमान् द्वारा रावण की वाटिका का विध्वंस और सीता-दर्शन का केवल उल्लेख है। इसके अनन्तर लंका-दहन का वर्णन है। इसको कवि ने बहुत बढ़ा दिया है। हनुमान् के लौटने, और वानरों के हर्षोत्सव मनाने का संक्षिप्त रूप से वर्णन किया गया है। मुद्रिका के प्रकरण को छोड़ दिया गया है। विवर प्रवेश, सम्पाति कथा, सुरसा, समुद्री राक्षस, लंकिनी और विभीषण से हनुमान् की भेंट का कोई उल्लेख नहीं है।

लंकाकांड में त्रिजटा-सीता-संवाद, राम की वानर-सेना, शुक-सारण का राम को समझाना, अंगद-रावण-संवाद, मन्दोदरी का रावण को समझाना, ये वर्णन हैं। अंगद-रावण-संवाद का विवरण वाल्मीकि रामायण और हनुमन्नाटक दोनों में हैं। कवितावली का यह प्रसंग कुछ-कुछ नाटक की ओर झुका हुआ है। अधिकांशतः कवि की मौलिकता का हाथ है। मन्दोदरी का रावण को समझाना, और युद्ध-वर्णन के प्रसंग भी मौलिक हैं। मन्दोदरी-रावण-संवाद के प्रसंग में प्रेरणा वाल्मीकि रामायण तथा हनुमन्नाटक की होते हुए भी वर्णन-चित्र में मौलिकता है। मानस के अनुरूप यहाँ भी लक्ष्मण मेघनाद की शक्ति से मूर्च्छित होते हैं। इसके पश्चात् हनुमान् के ओषधि लाने और कालनेमि के छल का वर्णन है। इस पर अध्यात्म रामायण की छाया है। लक्ष्मण की मूर्छा पर राम के विलाप का वर्णन संक्षेप में किया गया है। इसी अवसर पर शरणागत विभीषण के लिए राम के चिन्तित होने का प्रसंग[2] हनुमन्नाटक[3] के अनुकरण पर रक्खा गया है। फिर एक ही छन्द में कुंभकर्ण और रावण के वध का उल्लेख है।

उत्तरकांड में कथावस्तु नहीं है। उसमें, विनयपत्रिका की तरह, अनेक देवों के लिए की हुई स्तुतियों का संग्रह है।

यह गोस्वामीजी की सुप्रौढ़ रचना है। यहाँ प्रौढ़ता भाषा विषयक ही नहीं, भावविषयक भी है। यह उनकी जीवन-गोधूलि में प्रकट हुई विमल,

---

१—तु० र०, पृ० २०१, कवित २८   २—तु० र०, पृ० २३१, कवित्त ५२

३—ह० ना०, ६.६६

विनयपत्रिका शीतल ज्योति है। जीवन की कटुता से आतुर होकर गोस्वामीजी शरण खोजते हैं और वह उन्हें विश्व में कहीं नहीं दीख पड़ती। गिरते-पड़ते, ठोकरें खाते, वे भगवच्चरणों की ओर आते हैं। उन्हें यह प्रतीत हो चुका है कि उन चरणों की शरण सब से बड़ी है। वे जानते हैं कि भवसंत्रस्त जीवों का उद्धार वहीं संभव है और उन्हें वहीं रहने की इच्छा होती है, परन्तु क्या वे इस योग्य हैं जो उन चरणों का सान्निध्य प्राप्त कर सकें? इस प्रश्न से गोस्वामीजी की निद्रा टूट जाती है, किन्तु वे अपनी अयोग्यता से परिचित होने के कारण हताश नहीं होते। वे इष्ट के गौरव से भी भली भाँति अवगत हैं। अनन्त-शक्ति-सौन्दर्य-समन्वित अनन्त शील उनके अन्तर्लोचन में समा गया है। एक ओर उन्हें अपने दोष ही दोष दीख पड़ते हैं और दूसरी ओर उन्हें दीखती है प्रभु की अनन्त शीलविहित पवित्रता। हृदय के इस क्षोभ से आत्मपरिशोधन का आयोजन स्वतः ही होने लगता है। प्रभु का सामीप्य जितना अधिक होता जाता है, सेवक को अपने लघुत्व का उतना ही अनुभव होने लगता है। दंभ, अभिमान, छल, कपट आदि की प्रतिसीरा में छिपा हुआ उनका महत्व, उसके विशीर्ण होने से, उसके विलीन होने से, सामने आ जाता है। बस, यही अवसर हृदय के खुल जाने का है। प्रभु के महत्व और अपने लघुत्व के वर्णन से उसे महान् आनन्द मिलता है। भाव की इसी भूमि पर विनय-पत्रिका की नींव पड़ी हुई है।

विनय का अर्थ आवेदन, निवेदन या पुकार है और विनयपत्रिका कहते हैं अर्जी को। पुकार करनेवाले हैं तुलसीदास और की गई है कलियुग के विरुद्ध। वह पत्रिका सर्वेश्वर महाराजाधिराज 'राम' के न्यायालय में भेजी जाती है। पत्रिका के भाव भक्ति-आश्रित और सामान्य-प्रतीतिमूलक हैं। निवेदक ने कलियुग की शिकायत की है सही, किन्तु उतने ही खुले शब्दों में उसने अपनी दुर्बलता को भी स्वीकार किया है। यह है इस विनयपत्रिका का महत्व। यदि तुलसीदास को प्रभु के शील की प्रतीति न हुई होती तो शक्ति की प्रतीति विनय प्रेरक न बनी होती। आत्मदुर्बलता की भावना के विरुद्ध भी प्रभु का शील विनयपत्रिका की प्रेरणा बना है। विनयपत्रिका की भाव-सरणि दिव्य मंजुलता की प्रतीक है। उसमें अन्तर्बाह्य आकर्षण के दोनों भाव-भूषित स्तर मिलते हैं। सौन्दर्य बाह्य स्तर पर और शक्ति-शील आभ्यन्तरिक पर।

संभवतः विनयपत्रिका के लिखने की प्रेरणा गोस्वामीजी को जगद्धर भट्ट की 'स्तुति कुसुमांजलि' से मिली है। दोनों ग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन इस उक्ति का बहुत समर्थन करता है। इस सत्य की बहुशः संस्थिति शैली के अनुकरण में है। भट्टजी के कुछ भावों को भी गोस्वामीजी ने अपना लिया है।

सेवाभिनन्दन, शरणाश्रयण, कृपणाक्रन्दन, करुणाक्रन्दन, दीनाक्रन्दन, तमःशमन, प्रभु-प्रसादन, करुणाराधन, उपदेशन, सिद्धि और भगवद्वर्णन के स्तोत्रों से विनयपत्रिका के अनेक छन्दों के भाव मिल जाते हैं, परन्तु विनयक्रम और व्यक्तीकरण के अतिरिक्त तुलसी की अनेक उद्भावनाओं में मौलिक सौन्दर्य है।

विनयपत्रिका की क्रमविषयक प्रेरणा कवि को न्यायालय की भावना से हुई है। महाराजा के हाथ तक पहुँचने के लिए अर्जी को अनेक दर्बारियों के हाथों में होकर जाना पड़ता है। अतएव उनकी सद्भावना एवं सहानुभूति परमावश्यक है। बस, यही भावना, पदक्रमपूर्वक (in order of position) विनयपत्रिका के स्तुति क्रम में काम कर रही है। बहुदेवस्तुति इष्टाराधन का साधनमात्र है।

विनयारंभ गणेश-वन्दना से होता है क्योंकि सिद्धि के अधिष्ठाता वे ही माने गये हैं। फिर तमःशमन के लिये मोह-तिमिर के विनाश के लिए भगवान् भास्कर की वन्दना की गई है। वे प्रकाश-राशि होने से मंगल पथ के प्रदर्शक हैं। तदुपरान्त भैरव, पार्वती, गंगा, यमुना, काशी और चित्रकूट का यशोगान है। हनुमान्‌जी को वकालत के लिए तैयार किया गया है। उनके सामने तुलसीदास के हृदय की ग्रन्थि मानों खुल पड़ी है। खुले शब्दों में कुछ उन्हें इस प्रकार सुना भी दिया है: "ऐसी तोहि न बूझिये हनुमान् हठीले।" इससे ऐसा अनुमान होने लगता है कि मानों तुलसीदास की हनुमान् से पूर्वघनिष्ठता हो। लक्ष्मण, भरत, और शत्रुघ्न तक पहुँचते-पहुँचते सभी दर्बारी सध जाते हैं। महारानी सीता की विनय गोस्वामीजी ने आत्मीय के ढंग से की है। वे उनके अनुग्रह की छाया में अपने संबंध में राम से सिफारिश चाहते हैं और वह भी बड़ी युक्ति से।

"कबहुँक अम्ब, अवसर पाइ।
मेरिओ सुधि द्याइबी, कछु करुन कथा चलाइ।"

ऊपर बताया जा चुका है कि विनयपत्रिका के कुछ छन्द तो दर्बारियों (इष्टेतर देवों) की स्तुति में लिखे गये हैं, और कुछ महाराजाधिराज (इष्टदेव) राम के आराधन में। अन्य देवों के स्तोत्रों में भी केवल रामभक्ति की याचना की गई है। इनमें गोस्वामीजी उतने गिड़गिड़ाते हुए, खुले हुए, प्रतीत नहीं होते। यहाँ कवि के दो काम हैं: इतर देवों के गुणों का वर्णन और राम से उनके संबंध का प्रकटीकरण।

इस शैली में एक मार्मिक भावतंत्र और दैन्य की शिष्ट भूमिका है। जिस देव का जैसा पद है, तुलसीदास का उसके साथ वैसा ही सम्बन्ध है, उसके सामने उन्होंने उतना ही दैन्य प्रकट किया है अथवा यह भी कह सकते हैं कि

इतर देवों के स्तोत्रों में भक्त का दैन्य खुला नहीं, बिखरा नहीं, बंधा रहा है, मर्यादित रहा है। इसका कारण यह है कि इतरदेव तुलसीदासजी की महत्व भावना के सीमान्त नहीं है। उसकी पराकाष्ठा तो राम में ही होती है। भावना की धारा उनसे आगे की ओर बहती रहती है। जैसे-जैसे भावना इष्ट के अनन्त महत्व में लीन होती जाती है, दीनता बढ़ती जाती है। शनैः शनैः विनय की सातों भूमिकाएँ दीनता, मानमर्षता, भयदर्शना, भर्त्सना, आश्वासना, मनोराज्य और विचारणा अपना-अपना सौन्दर्य लेकर प्रकट होती हैं। इनमें प्रभु-महिमा, औदार्य और शील के साथ-साथ जीव की असामर्थ्य, आत्म-ग्लानि आदि का मार्मिक चित्र है।

कुछ विद्वान् विनयपत्रिका को प्रबन्धकाव्य मान लेते हैं। उनके मत से इसकी रचना यथाक्रम हुई है। वे इसमें एक आवेदनपत्र (अर्जी) के विषय-क्रम का अनुमान करते हैं। यह मान्य है कि देव-स्तुति में क्रम है, किन्तु यह नहीं माना जा सकता कि यहाँ घटना का भी क्रमिक विकास है। गुण-स्तुति के अनुरूप किसी भी घटना का कहीं भी स्मरण कर लिया गया है। प्रत्येक पद के निरपेक्ष होने से इस रचना को स्फुट पदों का संग्रहमात्र ही कह सकते हैं। भिन्न भिन्न पदों में पृथक्-पृथक् आलम्बन का होना उनकी स्फुटता का प्रमाण है। रचना के नायक का नायकत्व सम्बन्ध-कल्पना के बल पर है, वस्तु-व्यापार की एकता के आधार पर नहीं।

विनय की भूमिकाओं में दैन्य के स्तरों का जो आवर्तन दीख रहा है उससे उनमें किसी क्रमिक विकास का रूप नहीं बनता। यदि कलि-काल की शिकायत को एक घटना मानलें और उसी को वस्तु व्यापार का स्कंध समझ लें तो तुलसीदास को नायक बनाना पड़ता है। कथावस्तु को लेकर चलने वाला ही तो नायकत्व का अधिकारी होता है। कलिकाल की शिकायत कोई घटना नहीं है, वह तो एक भाव है। भाव के आधार पर भी नायक की कल्पना हो सकती है, किन्तु प्रबन्ध काव्य के नायक की नहीं। प्रबन्ध में भाव के प्रवाह अथवा क्रमिक विकास के बिना नायकत्व की कल्पना उचित नहीं है। परिक्रमण के कारण नायक में गति दीख पड़ती है, किन्तु केन्द्रीकरण के कारण स्थिति या भाव में विकास नहीं है। दूसरी बात जो विनयपत्रिका के प्रबन्धत्व का विरोध करती है वह है उसकी गीतात्मकता। कुछ पदों को छोड़कर जिसमें प्रारम्भिक पद प्रमुख हैं, विनयपत्रिका के पद सुन्दर गीतों के प्रमाण हैं। वे संगीत और भाव दोनों की कसौटी पर पूरे गीत उतर सकते हैं। स्वभावानुभूति के प्रकाशन की प्रमुखता और वस्तु-निक्षेप के अभाव से इस रचना में सारे गुण मुक्तक गीत के ही हैं। प्रबन्ध की सिद्धि

न होते हुए भी कवि-कला ने रचना में वह स्थिति और क्षमता निष्पन्न कर दी है कि उसमें प्रबन्ध का आभास सा मिलता है।

सूरसागर—

सूरसागर में भागवत के प्रथम स्कंध के प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पंचम, षष्ठ और सप्तम अध्याय की कथाएँ बिलकुल नहीं हैं : इसके

प्रथम स्कन्ध

पश्चात् आठवें, नवें, दसवें, तेरहवें, पन्द्रहवें, सत्रहवें और अठारहवें अध्याय की कथाएँ सूरसागर में क्रमशः 'श्रीभगवान् परीक्षित गर्भ रक्षा,' 'जन्म वर्णन,' 'भीष्मोपदेश युधिष्ठिर प्रति वर्णन,' 'भीष्म देह त्याग वर्णन,' 'भगवान् को द्वारका गमन वर्णन,' 'विदुर को उपदेश राजा धृतराष्ट्र गांधारी प्रति,' 'गमन,' 'राजा युधिष्ठिर को वैराग्य वर्णन,' 'हरिवियोग पांडवन को उत्तर गवन वर्णन,' 'परीक्षित राजा को कलियुग दंड,' 'ऋषि शाप वर्णन' शीर्षक के अन्तर्गत मिलती है। भागवत के अध्याय १२, १४ और १६ की कथाएँ क्रमशः—'श्रीभगवान् परीक्षित गर्भ रक्षा, जन्म वर्णन,'. 'हरिवियोग पांडवन को उत्तर गवन वर्णन,' और 'परीक्षित राजा को कलियुगदंड' के प्रकरणों में सन्निहित है। अध्याय ११ और १६ के प्रकरण सूरसागर में नहीं हैं। भागवत द्वितीय स्कन्ध के प्रथम अध्याय में जिस राजा खट्वांग का वर्णन है सूरसागर में उसका वर्णन प्रथम स्कंध के ही अन्त में कर दिया गया है। भागवत में इस कथा की केवल संकेत-सूचना है, सूरसागर में संक्षेपतः पूर्ण विवरण है।

भागवत द्वितीय स्कंध के प्रथम अध्याय में शुकदेवजी ने राजा परीक्षित को वैराग्य का निरूपण किया है, जो कहीं बढ़कर सूरसागर-प्रथम स्कन्ध में, १७० से २१६ तक, विस्तारपूर्वक 'परीक्षित का मन के प्रति,' 'चित्त बुद्धि संवाद,' 'मन-बुद्धि का संवाद,' एवं 'मन-प्रबोध' शीर्षकों में वर्णित मिलता है। इनमें संसार के मिथ्यात्व, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि की घातकता तथा भगवद्भक्ति की सारभूतता का विशद वर्णन है। 'मन-प्रबोध' के अन्तर्गत ही भगवान् के ध्यान करने योग्य रूप का नख-शिख-वर्णन है जो भागवत द्वितीय स्कंध के दूसरे अध्याय का विषय है।

सूरसागर प्रथम स्कंध के इतर प्रकरण स्पष्टतया भागवत के विषय नहीं हैं। सूरसागर की कथा भागवत की कथा से पूर्व की सूचना देती है जो भगवान् कृष्ण के दूतकर्म से प्रारम्भ होती है। कथा के इस अंश का आधार महाभारत है। शेष प्रकरण मौलिक हैं।

सूरसागर के इस स्कंध में १८ पद हैं। इन्हीं में भागवत के दस अध्यायों में से कुछ का विषय ग्रहण कर लिया जाता है। कुछ पदों का

द्वितीय स्कन्ध विषय कविकल्पना प्रसूत है। 'विराट् रूप वर्णन,' 'नारद ब्रह्मा संवाद वर्णन,' 'चतुर्विंशति अवतार वर्णन,' 'ब्रह्मा उत्पत्ति चतुः श्लोक प्रति वर्णन,' और 'चतुःश्लोकी श्रीमुख वाक्य वर्णन'— ये प्रकरण भागवत के आधार पर लिखे गये हैं।

भागवत द्वितीय स्कंध के पहले, चौथे, पाँचवें, सातवें, और नवें अध्याय सूरसागर के उक्त प्रकरणों का क्रमशः आधार हैं, भागवत के दूसरे, तीसरे, छठें, आठवें, और दसवे अध्याय के प्रकरण सूरसागर में नहीं हैं। 'अनन्य भक्ति-महिमा-वर्णन,' 'नाम-महिमा-वर्णन,' 'हरि-विमुख-निन्दा-वर्णन,' 'सत्संग-महिमा-वर्णन,' 'भक्ति-साधन-वर्णन,' 'आत्म-ज्ञान वर्णन', और 'आरती' सूर की मौलिक सम्पत्ति हैं।

भागवत के कुछ विषय सूरसागर में संक्षिप्त कर लिये गये हैं। भागवत द्वितीय स्कंध के प्रथम अध्याय में विराट् का विशद वर्णन है, श्लोक २४ से ३७ तक 'विराट्' रूप का ही निरूपण है, किन्तु सूरसागर द्वितीय स्कंध के छत्तीसवें पद में केवल दो पंक्तियों में ही विराट् का वर्णन कर दिया गया है। इसी प्रकार सूरसागर द्वितीय स्कंध के छत्तीसवें पद में ही सृष्टि और चौबीस अवतारों का वर्णन कर दिया जाता है, जब कि भागवत में पहली कथा के लिए पाँचवाँ अध्याय और दूसरी के लिए सातवाँ अध्याय दिया गया है।

सूर ने इस स्कंध को भी बहुत संक्षिप्त कर दिया है। इसका कलेवर केवल १८ पदों से निर्मित है। इसके विपरीत भागवत के तृतीय स्कंध में तैंतीस अध्याय हैं। भागवत के केवल १३, १४, १५, १६, १७, १८, १६, २१, २३, २४, २५, २८, ३१ और ३३वे अध्याय को सूरसागर में संक्षेपतः ग्रहण किया गया है। अट्ठाईसवें अध्याय में से केवल 'कृष्ण-रूप का ध्यान' लिया गया है। इस स्कंध के अन्य अध्यायों को सूरसागर में कोई स्थान नहीं दिया गया।

तृतीय स्कन्ध

साख्य, योग, पुरुष, प्रकृति के जो प्रकरण भागवत के इस स्कंध में मिलते हैं सूरसागर में उनकी अवहेलना करदी गई है। सूर ने तृतीय स्कंध के अन्त में ''कपिलदेव साख्य जो गायो, सो राजा मैं तुम्हें सुनायौ" लिखकर साख्य के वर्णन का आभास दिया है। साख्य का यहाँ केवल नाम है, वर्णन नहीं।

इस स्कन्ध के अन्तर्गत सूर ने भागवत के पहले, दसवें, ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें, तेईसवें, चौबीसवें, छब्बीसवे, सत्ताईसवे, अट्ठाईसवें, तीसवें और इकत्तीसवें अध्याय के प्रकरणों की अवहेलना करदी है और छठे, सातवें, सोलहवे, सत्रहवें, अठारहवें,

चतुर्थ स्कन्ध

उन्नीसवें, बीसवें, इक्कीसवें और बाईसवें अध्याय के प्रकरणों का संकेतोल्लेख कर दिया है। शेष अध्यायों का विषय सूरसागर में (भागवत के समान सविस्तर तो नहीं) सरल रीति से प्रतिपादित किया गया है। 'पुरंजनोपाख्यान का तात्पर्य,' जो भागवत में उन्तीसवें अध्याय का विषय है, सूरसागर में विस्तीर्ण हो गया है।

सूरसागर चतुर्थ स्कन्ध के तीसरे और चौथे पद में 'यज्ञपुरुष अवतार' का विशद वर्णन है। पाँचवें पद में 'अथ संक्षिप्त यज्ञपुरुष अवतार कथा' शीर्षक देकर वही प्रसंग दुहरा दिया गया है। इसी प्रकार आठवें पद में 'ध्रुववर देन अवतार वर्णन' है। वही नवें पद में संक्षेप में दुहरा दिया गया है।

इस स्कन्ध में भागवत के पहले, दूसरे, तीसरे, बारहवें, तेरहवें, चौदहवें, पन्द्रहवें और सोलवें से छब्बीसवें अध्याय तक के प्रकरण छोड़ दिये गये हैं। अवशिष्ट अध्यायों का विषय भी संक्षेप में ही ग्रहण किया गया है।

पंचम स्कन्ध

इस स्कन्ध में 'अजामिलोद्धार' और 'वृत्रासुर' की कथाएँ हैं। इसमें चित्रकेतु राजा का उपाख्यान भी सम्मिलित है। अजामिल का उपाख्यान भागवत के पहले और दूसरे अध्याय पर आश्रित है तथा वृत्रासुरवध का आधार भागवत का सातवाँ अध्याय, तथा नवें से पन्द्रहवें तक के अध्याय हैं। गुरु महिमा का वर्णन, जो भागवत के इस स्कन्ध में बिलकुल नहीं है, सूरदास ने इसी में सम्मिलित कर दिया है। वर्णन मौलिक है।

षष्ठ स्कन्ध

'वृत्रासुर की उत्पत्ति' और 'दधीचि ऋषि का देह-त्याग'—इन प्रकरणों में सूरसागर और भागवत में अन्तर है। सूर के लेखानुसार 'पुत्रशोक से संतप्त तथा क्रुद्ध होकर त्वष्टा ने अपनी एक जटा उखाड़ ली जिससे वृत्रासुर की उत्पत्ति हुई[1],' किन्तु भागवत के अनुसार 'यज्ञ समाप्त होने पर, अन्वाहार्य पचन नामक अग्नि (दक्षिणाग्नि) से एक बड़ा दैत्य प्रकट हुआ[2]।'

इसी प्रकार दधीचि ऋषि के देह-त्याग के विषय में भागवत में लिखा है कि "जब वे भगवान् से अत्यन्त युक्त होकर स्थित हो गए तो उन्हें इस बात का पता भी न चला कि शरीर है या नहीं। हे परीक्षित, भगवान् की शक्ति पाकर इन्द्र का बल-पौरुष उन्नति की सीमा पर पहुँच गया। अब विश्वकर्मा ने दधीचि ऋषि की हड्डियों से वज्र बनाकर उन्हें दे दिया[3]।" किन्तु सूरसागर में ऋषि

१—सूरसागर, पृ० ७० प० १-२ २—भाग० ६.६.१२

३—भाग० ६.१०.१२.१३ गीताप्रेस द्वारा अनूदित

योग-द्वारा शरीर परित्याग करते हैं। गो-द्वारा चटवा कर उनके शरीर की त्वचा उपाड़ी जाती है और इन्द्र उनके हाड़ से वज्र बना लेते हैं।"[1]

सप्तम स्कन्ध में तीन प्रकरण मिलते हैं—'नृसिंहरूप अवतार वर्णन,' 'श्री भगवान्-शिव-सहाय वर्णन' तथा 'नारद-उत्पत्ति कथावर्णन'।

सप्तम स्कन्ध

इनमें से पहला प्रकरण भागवत में सप्तम स्कन्ध के अध्याय २ से ९ तक चलता है। दसवें अध्याय में प्रह्लाद के राज्याभिषेक तथा त्रिपुरदहन की कथा को ही सूरसागर में 'श्रीभगवान् शिवसहाय वर्णन' के नाम से लिखा गया है। 'नारद-उत्पत्ति-कथा-वर्णन', यह प्रसंग भागवत के सप्तम स्कन्ध का नहीं है। यह भागवत प्रथम स्कन्ध के पाँचवे और छठें अध्याय का विषय है, जिसे सूरसागर में सप्तम स्कन्ध के अन्त में स्थान मिला है।

इस स्कन्ध में भी सूरदास ने वर्णाश्रम धर्म के लम्बे प्रसंगों को छोड़कर केवल भगवत्-कथा के सूत्र का निर्वाह किया है।

अष्टम स्कन्ध

सूरसागर में इस स्कन्ध का श्रीगणेश 'गजमोचन' से होता है जो भागवत अष्टम स्कन्ध के द्वितीय अध्याय से प्रारंभ होता है। भागवत के प्रथम अध्याय में मन्वन्तरों का वर्णन है जिसको सूरसागर में छोड़ दिया गया है। 'गजमोचन' का प्रकरण भागवत में दूसरे से चौथे अध्याय तक चलता है। भागवत के ५ वें से ९वें अध्याय तक की सामग्री सूरसागर में 'कूर्मावतार', 'समुद्र मंथन' और 'अमृतवितरण' के अन्तर्गत मिल जाती है। देवासुरसंग्राम, जो भागवत के दसवे और ग्यारहवें अध्याय का विषय है, सूरदास ने छोड़ दिया है। सूरसागर का 'मोहनी-रूप' वर्णन भागवत के बारहवें अध्याय का संक्षेपमात्र है। भागवत में तेरहवें और चौदहवें अध्याय में मन्वन्तरों और मनु आदि के कर्मों का वर्णन है, जिनका सूरसागर के अष्टम स्कन्ध में सर्वथा अभाव है। भागवत में पन्द्रहवें से इक्कीसवें अध्याय तक वामनावतार और बलि की कथा है, जिसका सूरसागर में केवल संक्षिप्त रूप मिलता है। भागवत के २२ और २३व अध्याय सूरसागर में लुप्त हैं। सूरसागर का मत्स्यावतार वर्णन भागवत के चौबीसवें अध्याय का संक्षेप है। इसी स्कन्ध के दसवें पद में 'सुंद' और 'उपसुंद' असुरों का वर्णन है। वह भागवत में अलभ्य है। इसका आधार महाभारत (आदि पर्व) की 'सुन्द-उपसुन्द' की कथा है। अन्तर केवल इतना है कि महाभारत की 'तिलोत्तमा' 'जिसे विश्वकर्मा ने ब्रह्मा के आदेश से संसार के श्रेष्ठ रत्नों का तिल-तिल भर अंश लेकर बनाया था और जिसके निमित्त दोनों असुरों में युद्ध होता है, सूरसागर में 'भगवती' कही गई है।

१—सूरसागर पृ० ७०, पं० ११-१२

में मिलती है ; अन्यत्र कवि प्रतिभा के सामने विषय-क्षेत्र सीमित ही रहा है। काव्योन्मेष और भाव प्रसार के लिए उसे पर्याप्त स्वतंत्रता नहीं मिल सकी। अन्नप्राशन, कनछेदन आदि वर्णनों से उन संस्कारों की पूर्ति की गई है जिनका भागवत में अभाव है, किन्तु जिनका आर्य-संस्कृति से कवि के समय तक संबंध रहता चला आया है। 'चकई भौरा' खेल का भागवत में कोई प्रसंग नहीं आया। संभवतः ये सूर-समय के भी प्रचलित खेल रहे होंगे।

'राधा-कृष्ण-विवाह' का भागवत में प्रसंग नहीं है। विवाह तो अलग रहा, राधा का उसमें नाम तक नहीं है। हाँ, एक सखी का, जो कृष्ण को अधिक प्रिय[1] थी, उल्लेख अवश्य मिलता है। संस्कृत के जिन ग्रन्थों में राधा का वर्णन है उनमें 'नारद पंचरात्रम्,' 'गर्ग संहिता,' 'गीत गोविंद' और 'ब्रह्म-वैवर्त पुराण' मुख्य हैं। हरिवंश पुराण में भी राधा की कथा आई है। नारद पंचरात्रम्, गर्ग संहिता और ब्रह्मवैवर्त पुराण में राधा के माहात्म्य का वर्णन कृष्ण की परम शक्ति के रूप में किया गया है, जो सृजन, पालन और संहार करती है। गर्ग संहिता[2] और ब्रह्मवैवर्त पुराण[3] में राधा और कृष्ण के विवाह का भी प्रसंग आया है। गीत गोविंद[4] में राधा-कृष्ण दंपति-संबंध से विभूषित किये गये हैं। वहाँ उनके विरह, राधा का मान, दूती-संदेश, तथा उभय-रति-केलि एवं सुरतांत का विशद चित्रण किया गया है, किन्तु विवाह का उसमें कोई संकेत नहीं मिलता।

यह माना जा सकता है कि राधा कृष्ण का विवाह लिखने की प्रेरणा सूर को गर्ग संहिता और ब्रह्मवैवर्त पुराण से मिली थी, परन्तु प्रश्न उठ सकता है कि क्या ये दोनों ग्रंथ सूरसागर से प्राचीन भी हैं या नहीं? प्राचीन होने पर ही सूरसागर पर इनकी छाया संभव हो सकती हैं। इस संबंध में गर्गसंहिता के विषय में प्रमाणों का अभाव है।

ब्रह्मवैवर्त पुराण की प्राचीनता प्रमाणित है। विष्णुपुराण, भागवत पुराण और वायुपुराण में दी हुई पुराणों की तालिका में ब्रह्मवैवर्त का भी नाम है। विष्णु पुराण रामानुज के समय में भी था। वेदान्त सूत्रों पर टीका लिखते

१—भाग० १०-३०-२८ "अनयाऽराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः"

२—गर्ग संहिता गोलोक खंड, अध्याय १६

३—ब्रह्मवैवर्त पुराण, कृष्ण जन्म खंड, अध्याय १५

४—गीतगोविंद, पंचम सर्ग प्रबन्ध ११

५—विष्णु पुराण ३-६ ६—भाग० १२.१३. ३-६

७—वायु पुराण १०४-१

समय उन्होंने बहुधा विष्णु पुराण[1] में से ही उदाहरण दिये हैं। भागवत पुराण तो निस्सन्देह सूर से पहले का है। बाणभट्ट ने 'हर्षचरित' में वायुपुराण[2] पढने का उल्लेख किया है। इससे प्रमाणतः कहा जा सकता है कि ब्रह्मवैवर्त पुराण सूरदास के समय में अवश्य प्रसिद्ध था।

ब्रह्मवैवर्त पुराण में राधा-कृष्ण के विवाह का एक विस्तृत विवरण दिया हुआ है। विवाह का ज्ञान राधा के किसी संबंधी अथवा अन्य किसी व्यक्ति को नहीं है। केवल ब्रह्मा और नारद ही, जिनके हाथों विवाह संस्कार हुआ है, इसके साक्षी हैं। विवाह-मंडप भांडीर वन के लता निकुंज में रचा जाता है, किन्तु सूरसागर में राधा-कृष्ण का विवाह यमुना-पुलिन पर होता है। इसके लिए राधा एक वर्ष तक तप करती हैं। फलतः देवी का वर प्राप्त होता है। एक दिन सखियाँ राधा को चोरी से बुला लाती हैं और रासकेलि में ही एक पुष्प-मंडप की रचना कर दी जाती है। कृष्ण अपनी मधुर बंशी बजाकर सब गोपियों को बुला लेते हैं। पाणिग्रहण के साथ-साथ भाँवरे पड़ने लगती हैं। गोपियाँ मांगलिक गीत और गालियाँ गाती है। महोत्सव को सुरनारियाँ आकाश से देखती हैं और पुष्प-वृष्टि करती हैं। सनकादि, नारद, ब्रह्मा और शिव भी इसकी सूचना पाते हैं। देव लोग दुंदुभि, मृदग आदि हर्ष-वाद्य बजाते हैं। लोक में समाचार अन्यत्र नहीं फैलता। रास ही इसकी परिधि है।

सूर के 'मान वर्णन' में गीतगोविंद की छाया है। इसका प्रस्फुटित रूप 'राधा का बड़ा मान वर्णन' में मिलता है। गीतगोविंद के अनुरूप यहाँ भी राधा को मनाने के लिए दूती का उपयोग किया जाता है। कृष्ण 'स्वयं-दूतिका' के रूप में यहाँ (सूरसागर में) भी जाते हैं, किन्तु वेष बदल कर—दूती-वेष में। राधा उन्हें पहचान लेती हैं और भेद खुल जाता है। गीतगोविंद में दूतियों की संख्या नहीं दी। सूरसागर में कृष्ण की तीन दूतियाँ हैं। राधा की कोई दूती दिखाई नहीं पड़ती। गीतगोविंद में दूती राधा और कृष्ण दोनों का विरह-वर्णन करती है, जिससे प्रिय-प्रिया के हृदय पर भारी प्रभाव पड़ता है, किन्तु सूर ने इस प्रसंग में राधा का विरह भुला-सा दिया है। राधागमन की सूचना पाकर कृष्ण का छटपटा जाना तथा राधा का वासकसज्जा-रूप में स्थित होना—ये वर्णन गीतगोविंद के अनुकरण में लिखे गये हैं। सुरति और सुरतांत का निरूपण भी उसी प्रकार का है, किन्तु यहाँ उनके वाह्यरंग में वह 'निखार' और 'चमक' नहीं आ सकी है जो गीतगोविंद में मिलती है।

८—विंटरनिज : हिस्ट्री आव इंडियन लिटरेचर, प्रथम भाग, पृ० ५४४

९—विंटरनिज : हिस्ट्री आव इंडियन लिटरेचर, भाग १, पृ० ५२६

इस स्कन्ध में भागवत में चौबीस अध्याय हैं, जिनमें से केवल तेरह अध्यायों का संक्षिप्त विवरण सूरसागर में मिलता है। 'राजा पुरूरवा को वैराग्य वर्णन' भागवत के चौदहवें अध्याय से, 'च्यवन ऋषि कथा वर्णन' तीसरे अध्याय से, 'हलधर विवाह वर्णन' तीसरे अध्याय (श्लोक २७-३६) से, 'राजा अम्बरीष की कथा' चौथे और पाँचवें अध्याय से, 'सौभरि ऋषि का वर्णन' छठें अध्याय से, 'श्री गंगा भुवलोक आगमन वर्णन' नवे अध्याय से, 'परशुराम अवतार वर्णन' पन्द्रहवें अध्याय से, 'श्री रामकथा' दसवें और ग्यारहवें अध्याय से, 'राजा नहुष राज्य प्राप्ति', 'इन्द्राणी चाह', 'ब्रह्मा-शाप से सर्प-देह-पावन-वर्णन' अठारहवें अध्याय से और 'देवयानी-कूप-निपातन', 'राजा ययाति पापि ग्रह', 'शुक्रशाप', 'राजपुत्र यौवन-भोग' 'वैराग्य', मोक्ष-प्राप्ति वर्णन अठारवें और उन्नीसवें अध्याय से लिये गए हैं। 'राजा नहुष की राज्य प्राप्ति', 'इन्द्राणी चाह', 'ब्रह्मा-शाप ते सर्पदेह-पावन-वर्णन' महाभारत के उद्योग पर्व के अध्याय २३० और २३१ के आधार पर वर्णित हैं। इनका जो स्वरूप सूरसागर में है वही महाभारत में है, भागवत में नहीं है। 'इन्द्र दुराचार', 'इन्द्र अहिल्या प्रति गौतम शाप वर्णन', यह प्रसंग भागवत में नहीं है। इसका वर्णन वाल्मीकि रामायण (बालकांड 'अहिल्योद्धार)' के आधार पर है।

नवम स्कन्ध

'श्री गंगा विष्णु पादोदक की स्तुति' तथा 'कच संजीवनी विद्याहेतु शुक्र गेह गवन', 'देवयानी लोभावन', 'परस्पर शाप वर्णन' का भागवत में कोई उल्लेख नहीं है। भागवत में रामायणी कथा प्रधानतः दसवें अध्याय में ही समाप्त हो जाती है, उत्तरार्द्ध का बहुत थोड़ा अंश ग्यारहवें अध्याय में वर्णित मिलता है। दोनों अध्याय बहुत छोटे-छोटे हैं। कथासूत्र अति संक्षेप में सूक्ष्म तंतुवत् चलता है, किन्तु सूरसागर में यह कथा कई गुने विस्तार से वर्णन की गई है।

सूरसागर में 'अहिल्योद्धार' राम-वन-गमन के समय होता है। वाल्मीकि रामायण में, विश्वामित्र सहित राम लक्ष्मण के मिथिला पहुँचने पर, मिथिलेश के उपवन में यह घटना घटती है। अध्यात्म रामायण में धनुष यज्ञ में जाते समय मार्ग में यह घटना विघटित होती है। कदाचित् अन्यत्र भी 'अहिल्योद्धार' का यह अवसर कहीं नहीं दीख पड़ता। सूर की इस सूझ का आधार निश्चय रूप से नहीं बतलाया जा सकता।

दशम स्कन्ध

यह स्कन्ध सूरसागर का प्राण है। भागवत में इसका प्रसार ९० अध्यायों में है। पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध इसके दो विशाल अंग हैं। सूरसागर का दशम स्कन्ध भी बहुत विशालकाय है और भागवत के अनुरूप अर्द्धद्वय में विभक्त है। सूरसागर-दशम-स्कन्ध-उत्तरार्द्ध की लगभग सब कथाएँ भागवत-दशम-स्कन्ध-उत्तरार्द्ध की कथाओं

से मिलती हैं। केवल भागवत के ६० वें अध्याय का, जिसमें 'भगवान श्रीकृष्ण का लीला विहार' एवं द्वारकापुरी की समृद्धि का वर्णन है, सूरसागर में विलोप है। इसके अतिरिक्त सूर ने दशम-स्कन्ध-उत्तरार्द्ध में 'श्रीकृष्ण द्वारकागमन हेतु पंथी प्रति व्रजनारी वचन वर्णन' और 'सखीवचन राधिका प्रति शकुन विचार' ये दो प्रकरण अपनी ओर से जोड़ दिये हैं।

सूरसागर पूर्वार्द्ध में भी भागवत की प्रायः सभी कथाएँ आ गई हैं। इनके अतिरिक्त (१) छठी व्यवहार, (२) अन्नप्राशन लीला वर्णन, (३) कन-छेदन लीला वर्णन, (४) घुटुरवनि चलिबो वर्णन, (५) पांयन चलन समय वर्णन', (६) 'बालवेष वर्णन', (७) 'चन्द्र-प्रस्ताव वर्णन,' (८) 'कलेवा भोजन समय वर्णन,' (९) 'खेलन-समय-वर्णन', (१०) 'ब्राह्मण को प्रस्ताव वर्णन,' (११) 'चकई भौंरा खेलन समय-वर्णन', (१२) 'श्रीराधा कृष्णजी का प्रथम मिलाप वर्णन', (१३) 'सुख विलास वर्णन', (१४) 'गृह-गवन वर्णन,' (१५) 'श्रीराधिकाजी को यशोदा गृह गवन वर्णन,' (१६) 'श्री श्याम - राधा - खेलन - समय वर्णन,' (१७) श्रीराधा गृह गवन वर्णन,' (१८) 'कंस कमल का फूल मँगाये वर्णन,' (१९) 'श्री राधा यशोदा के गृह आई वर्णन', (२०) 'पनघट प्रस्ताव वर्णन', (२१) 'दान लीला वर्णन,' (२२) 'दान लीला दूसरी वर्णन', (२३) 'ग्रीष्म लीला सखिन सहित यमुना विहार वर्णन,' (२४) 'अनुराग समय के पद वर्णन,' (२५) 'अंखिया समय के पद वर्णन,' (२६) 'श्रीकृष्ण विवाह वर्णन,' (२७) 'श्री राधिकाजी का मान वर्णन,' (२८) 'खंडिता समय वर्णन,' (२९) 'श्री राधाजी का मान वर्णन,' (३०) 'बड़ी मानलीला वर्णन,' (३१) 'हिंडोल लीला वर्णन,' (३२) 'बसंत व होरी लीला वर्णन,' (३३) 'नंद व्रज आगमन यशोदा वचन नंद प्रति वर्णन,' (३४) 'नंद वचन यशोदा प्रति वर्णन,' (३५) 'यशोदा वचन नंद प्रति वर्णन,' (३६) 'व्रज लोग वचन वर्णन,' (३७) ग्वाल वचन वर्णन,' (३८) 'श्याम रंग की तरक वदति वर्णन,' (३९) 'नंद यशोदा वचन परस्पर वर्णन,' (४०) 'पंथी वाक्य देवकी प्रति वर्णन,' (४१) 'नैन प्रस्थांबु वर्णन,' (४२) 'स्वप्न दर्शन वर्णन,' (४३) 'पावस समय वर्णन' —ये वर्णन भागवत में नहीं मिलते, किन्तु सूरसागर में ये प्रकरण न केवल मौलिकता लेकर ही अवतीर्ण हुए हैं, अपितु बड़े मनोहर भी बन पड़े हैं। ४, ५, ६ और ९ वें प्रकरण की सामग्री भागवत दशम स्कंध के ८, ११ और १२ वें अध्याय में अति संक्षिप्त रूप में मिलती है।

उपर्युक्त गणनागत प्रकरणों का श्रेय, केवल एक दो को छोड़कर, सूर की मौलिक प्रतिभा को प्राप्त हुआ है। कवित्व की हृदयग्राहिणी छटा इन्हीं प्रकरणों

में मिलती है ; अन्यत्र कवि प्रतिभा के सामने विषय-क्षेत्र सीमित ही रहा है। काव्योन्मेष और भाव प्रसार के लिए उसे पर्याप्त स्वतंत्रता नहीं मिल सकी। अन्नप्राशन, कनछेदन आदि वर्णनों से उन संस्कारों की पूर्ति की गई है जिनका भागवत में अभाव है, किन्तु जिनका आर्य-संस्कृति से कवि के समय तक संबंध रहता चला आया है। 'चकई भौरा' खेल का भागवत में कोई प्रसंग नहीं आया। संभवतः ये सूर-समय के भी प्रचलित खेल रहे होंगे।

'राधा-कृष्ण-विवाह' का भागवत में प्रसंग नहीं है। विवाह तो अलग रहा, राधा का उसमें नाम तक नहीं है। हाँ, एक सखी का, जो कृष्ण को अधिक प्रिय[1] थी, उल्लेख अवश्य मिलता है। संस्कृत के जिन ग्रन्थों में राधा का वर्णन है उनमें 'नारद पंचरात्रम्,' 'गर्ग संहिता,' 'गीत गोविंद' और 'ब्रह्म-वैवर्त पुराण' मुख्य हैं। हरिवंश पुराण में भी राधा की कथा आई है। नारद पंचरात्रम्, गर्ग संहिता और ब्रह्मवैवर्त पुराण में राधा के माहात्म्य का वर्णन कृष्ण की परम शक्ति के रूप में किया गया है, जो सृजन, पालन और संहार करती है। गर्ग संहिता[2] और ब्रह्मवैवर्त पुराण[3] में राधा और कृष्ण के विवाह का भी प्रसंग आया है। गीत गोविंद[4] में राधा-कृष्ण दंपति-संबंध से विभूषित किये गये हैं। वहाँ उनके विरह, राधा का मान, दूती-संदेश, तथा उभय-रति-केलि एवं सुरतांत का विशद चित्रण किया गया है, किन्तु विवाह का उसमें कोई संकेत नहीं मिलता।

यह माना जा सकता है कि राधा कृष्ण का विवाह लिखने की प्रेरणा सूर को गर्ग संहिता और ब्रह्मवैवर्त पुराण से मिली थी, परन्तु प्रश्न उठ सकता है कि क्या ये दोनों ग्रंथ सूरसागर से प्राचीन भी हैं या नहीं? प्राचीन होने पर ही सूरसागर पर इनकी छाया संभव हो सकती है। इस संबंध में गर्गसंहिता के विषय में प्रमाणों का अभाव है।

ब्रह्मवैवर्त पुराण की प्राचीनता प्रमाणित है। विष्णुपुराण, भागवत पुराण और वायुपुराण में दी हुई पुराणों की तालिका में ब्रह्मवैवर्त का भी नाम है। विष्णु पुराण रामानुज के समय में भी था। वेदान्त सूत्रों पर टीका लिखते

१—भाग० १०-३०-२८ "अनयाऽराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः"
२—गर्ग संहिता गोलोक खंड, अध्याय १६
३—ब्रह्मवैवर्त पुराण, कृष्ण जन्म खंड, अध्याय १५
४—गीतगोविंद, पंचम सर्ग प्रबन्ध ११
५—विष्णु पुराण ३-६ ६—भाग० १२.१३. ३-६
७—वायु पुराण १०४-१

समय उन्होंने बहुधा विष्णु पुराण[1] में से ही उदाहरण दिये हैं। भागवत पुराण तो निस्सन्देह सूर से पहले का है। बाणभट्ट ने 'हर्षचरित' में वायुपुराण[2] पढ़ने का उल्लेख किया है। इससे प्रमाणतः कहा जा सकता है कि ब्रह्मवैवर्त पुराण सूरदास के समय में अवश्य प्रसिद्ध था।

ब्रह्मवैवर्त पुराण में राधा-कृष्ण के विवाह का एक विस्तृत विवरण दिया हुआ है। विवाह का ज्ञान राधा के किसी संबंधी अथवा अन्य किसी व्यक्ति को नहीं है। केवल ब्रह्मा और नारद ही, जिनके हाथों विवाह संस्कार हुआ है, इसके साक्षी हैं। विवाह-मंडप भांडीर वन के लता निकुंज में रचा जाता है, किन्तु सूरसागर में राधा-कृष्ण का विवाह यमुना-पुलिन पर होता है। इसके लिए राधा एक वर्ष तक तप करती हैं। फलतः देवी का वर प्राप्त होता है। एक दिन सखियाँ राधा को चोरी से बुला लाती हैं और रासकेलि में ही एक पुष्प-मंडप की रचना कर दी जाती है। कृष्ण अपनी मधुर बंशी बजाकर सब गोपियों को बुला लेते हैं। पाणिग्रहण के साथ-साथ भाँवरे पड़ने लगती हैं। गोपियाँ मांगलिक गीत और गालियाँ गाती है। महोत्सव को सुरनारियाँ आकाश से देखती हैं और पुष्प-वृष्टि करती हैं। सनकादि, नारद, ब्रह्मा और शिव भी इसकी सूचना पाते हैं। देव लोग दुंदुभि, मृदग आदि हर्ष-वाद्य बजाते हैं। लोक में समाचार अन्यत्र नही फैलता। रास ही इसकी परिधि है।

सूर के 'मान वर्णन' में गीतगोविंद की छाया है। इसका प्रस्फुटित रूप 'राधा का बड़ा मान वर्णन' में मिलता है। गीतगोविंद के अनुरूप यहाँ भी राधा को मनाने के लिए दूती का उपयोग किया जाता है। कृष्ण 'स्वयं-दूतिका' के रूप में यहाँ (सूरसागर में) भी जाते हैं, किन्तु वेष बदल कर—दूती-वेष में। राधा उन्हें पहचान लेती हैं और भेद खुल जाता है। गीतगोविंद में दूतियों की संख्या नहीं दी। सूरसागर में कृष्ण की तीन दूतियाँ हैं। राधा की कोई दूती दिखाई नहीं पड़ती। गीतगोविंद में दूती राधा और कृष्ण दोनों का विरह-वर्णन करती है, जिससे प्रिय-प्रिया के हृदय पर भारी प्रभाव पड़ता है, किन्तु सूर ने इस प्रसंग में राधा का विरह भुला-सा दिया है। राधागमन की सूचना पाकर कृष्ण का छटपटा जाना तथा राधा का वासकसज्जा-रूप में स्थित होना—ये वर्णन गीतगोविंद के अनुकरण में लिखे गये हैं। सुरति और सुरतांत का निरूपण भी उसी प्रकार का है, किन्तु यहाँ उनके वाह्यरंग में वह 'निखार' और 'चमक' नहीं आ सकी है जो गीतगोविंद में मिलती है।

८—विंटरनिज : हिस्ट्री आव इंडियन लिटरेचर, प्रथम भाग, पृ० ५४४

९—विंटरनिज : हिस्ट्री आव इंडियन लिटरेचर, भाग १, पृ० ५२६

सूरसागर के 'सुख विलास' और 'गृह गवन' गीतगोविंद के प्रथम सर्ग के प्रथम गीत[1] और सप्तम सर्ग—प्रबन्ध १६ के १० वें गीत[2] से प्रभावित होकर लिखे गये प्रतीत होते हैं।

'कृष्ण-बलराम का अक्रूर के साथ जाना' 'तथा' 'नन्द का मथुरा से लौटकर आना' पढ़कर 'रामवनगमनम्' और 'सुमन्तागमनम्' का दृश्य सामने आ जाता है।

एकादश स्कंध

सूरसागर के इस स्कंध में केवल ६ पद हैं जिनमें से प्रथम पाँच में 'उद्धवजी का बदरिकाश्रम-गमन वर्णन' है, जो भागवत के २६ वें अध्याय का विषय है और छठे पद में हंस-रूप से सनकादि को दिये हुए उपदेश का वर्णन है, जो भागवत के तेरहवें अध्याय का विषय है। दोनों प्रकरणों के क्रम में सूर ने उलटफेर कर दिया है। भागवत के अन्य अध्यायों को सूर ने छोड़ दिया है।

द्वादश स्कंध

सूर ने यह स्कंध भी बहुत संक्षिप्त कर दिया है। इसमें केवल 'बौद्धावतार वर्णन', 'भविष्य कल्कि अवतार वर्णन', 'राजा परीक्षित हरिपद प्राप्ति वर्णन' और 'जनमेजय कथा वर्णन' है। बौद्धावतार का वर्णन भागवत के बारहवें स्कंध में नहीं है। इसका उल्लेख ११ वें स्कंध के चौथे अध्याय के अन्त में मिलता है, जिसका स्वरूप सूर के हाथों में कुछ परिवर्धित हो गया है। 'भविष्य कल्कि अवतार वर्णन' भागवत के दूसरे अध्याय का विषय है। 'राजा परीक्षित हरिपद प्राप्ति' और 'जनमेजय कथा वर्णन' भागवत के छठे अध्याय के विषय हैं। स्कंध के शेष अध्यायों की कथा सूरसागर में लुप्त हैं।

१—मेघैर्मेदुरम्बरं वनभुवः श्यामास्तमालद्रुमै-
नक्तं भीरुरयं त्वमेव तदिमं राधे गृहं प्रापय।
इत्थं नन्दनिदेशतश्चलितयोः प्रत्यध्वकुंजद्रुमं
राधामाधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहः केलयः॥
गीतगोविंद

२—प्रातर्नीलनिचोलमच्युतमुरः संवीतपीताम्बरम्।
राधायाश्चकितं विलोक्य हसति स्वैरं सखीमंडले।
व्रीडाचंचलमंचलं नयनयोराधाय राधानने।
स्वादुस्मेरमुखोऽयमस्तु जगदानन्दाय नन्दात्मजः॥
गीतगोविंद

नन्ददास का दशम स्कंध भागवत-दशम स्कंध का अनुवाद है। जैसा कि नाम से सहसा सूचित होता है कि इसमें समस्त दशम स्कंध के प्रकरण होंगे, यह बात नहीं है। इसमें भागवत दशम स्कंध के केवल २६ अध्यायों की ही कथाएँ मिलती हैं। इसके साथ भागवत द्वितीय स्कंध के दशम अध्याय के प्रथम ६ श्लोकों का भाव प्रस्तावना के रूप में जुड़ा हुआ है। उन ६ श्लोकों में भागवत के दश लक्षणों का विवरण है। नन्ददास ने, भाव ग्रहण करते हुए भी, ६ ही लक्षण माने हैं। नौ लक्षणों से लक्षित को उन्होंने आश्रय[1] कहा है। भागवत के अनुसार 'आश्रय' वह तत्व है जिसमें इस चराचर जगत् का आभास और निरोध, उत्पत्ति और प्रलय प्रकाशित होते हैं[2]।' वही परब्रह्म है।

दशम स्कंध (नन्ददासकृत)

इसके अनन्तर, भागवत-दशम स्कंध में भागवत के किस लक्षण का उद्घाटन है, इसकी सूचना दी गई है। नन्ददास ने इसमें 'निरोध' का निरूपण बतलाया है। निरोध की व्याख्या के विषय में भागवत और नन्ददास के मत में अन्तर है। "दुष्ट नृपों के अबोध-हरण को बुध जन निरोध कहते हैं[3]।" यह नन्ददास का मत है; किन्तु भागवत-मतानुसार "भगवान के योग निद्रा में शयन करने पर जीवों का अपनी-अपनी उपाधियों के साथ उनमें लीन हो जाना 'निरोध'[4] कहलाता है। इसी प्रस्तावना में पंक्ति ३६ से ४८ तक लक्षणों और उदाहरणों के साथ 'निरोध' के भेद कहे गये हैं। निरोध-भेद भागवत का विषय नहीं है और न कोई एक ग्रन्थ इस विषय का आधार प्रतीत होता है। "दशम स्कंध पूर्वार्द्ध' के सम्पादक श्री कर्मचन्द गुग्गलानी ने उक्त ग्रन्थ की भूमिका में यह बतलाया है कि नन्ददास ने अपने ग्रन्थ में श्रीमद्भागवत के टीकाकारों के कुछ भावों का भी समावेश कर लिया है। उनके अनुसार 'दशम स्कंध' में श्रीधर स्वामी की 'भावार्थ दीपिका,' श्री मज्जीवगोस्वामी कृत 'वैष्णव तोषिणी', और श्रीमद्वल्लभाचार्यकृत 'सुबोधिनी' से भी कवि ने सहायता ली है। नन्ददास अपने ग्रन्थ को पुष्टिमार्गीय सभी उपसम्प्रदायों में समादृत कराना चाहते थे, इसी से उन्होंने इन आचार्यों के भावों को अपनाया है। यह बतलाया गया है कि वल्लभाचार्यजी के अनुसार श्रीमद्भागवत के दशम स्कध में 'निरोध' का वर्णन है तथा श्रीधर स्वामी के मत से उसमें 'आश्रय' का वर्णन है। निरोध के शब्दार्थ में भी दोनों आचार्यों में मतभेद है। नन्ददास ने दोनों के

१—दशम स्कन्ध, नन्ददास पृ० १६७, पं० ३३

२—भाग० २ १०. ७

३—दशम स्कंध नन्ददास पृ० १६७ पं० ३१

४—भाग० २. १०. ६

मतों का समावेश कर लिया है[1]।" नन्ददास ने भी दोनों के मत को स्वीकार करते हुए दशम स्कंध में 'निरोध'[2] का निरूपण ही माना है।

पंक्ति ४८ के पश्चात् 'परीक्षित' नाम का कारण तथा परीक्षित और शुकदेवजी के योग्य श्रोता और वक्ता होने का वर्णन है। साठवीं पंक्ति से दशम स्कंध की कथा प्रारम्भ होती है। यहाँ से कवि की अनुवादमूलक प्रवृत्ति काम करने लगती है, किन्तु दशम स्कंध को ऐकान्तिक अनुवाद नहीं कहा जा सकता। भागवत से इसकी तुलना करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इसमें (१) कहीं-कहीं भागवत का शब्दानुवाद है, (२) कहीं-कहीं भावानुवाद है, (३) कहीं-कहीं भाव-परिवर्तन है, (४) कहीं-कहीं सौन्दर्योत्पादन के लिए संयोजनाएँ हैं, (५) कहीं-कहीं साम्प्रदायिक एवं भक्ति-भावनाओं के पोषण के लिए संयोजनाएँ हैं, (६) कहीं-कहीं भाव प्रकाशन की सरलता के लिए उदाहरण-रूप संयोजनाएँ हैं, (७) कहीं-कहीं दो घटनाओं या कथाओं के सूत्र को संयुक्त करने के लिए संयोजनाएँ हैं, (८) कहीं-कहीं काव्य-कला एवं बहुज्ञता-प्रेरित संयोजनाएँ हैं, (९) कहीं-कहीं समकालीन-प्रभाव-प्रेरित संयोजनाएँ हैं, (१०) कहीं कहीं अवहेलनात्मक परित्याग है, (११) कहीं-कहीं अनुवाद में क्रम-भेद है, और (१२) कहीं-कहीं भावुकतावश अत्युक्ति का सन्निवेश कर दिया गया है।

(१) ऊपर कहा जा चुका है कि दशम स्कंध में कवि की प्रवृत्ति अनुवाद की ओर रही है। अधिकांश स्थलों पर शब्दानुवाद में उसे पूर्ण सफलता मिली है। भागवत जैसे ग्रन्थ का शब्दानुवाद, जिसमें विद्वानों के पांडित्य की परीक्षा होती है, हँसी-खेल नहीं है, किन्तु नन्ददासकृत शब्दानुवाद स्पष्ट, सरल और सुगम है। शब्दों का चयन कवित्वपूर्ण और ग्रन्थन ठोस है। कथांश के अतिरिक्त लीला और धाम के वर्णनों में भी कवि-प्रतिभा शब्दानुवाद की ओर ही अधिक रही है।

(२) भाषा की दुरूहता या पारिभाषिक शब्दों की संकीर्णता के कारण भावों को उलझन से बचाने के लिए, अथवा पुनरावृत्ति के निवारण के लिए, अथवा शब्दानुवाद से अधिक चमत्कार लाने के लिए कहीं-कहीं भावानुवाद का आश्रय लिया गया है। उदाहरण के लिए नीचे लिखी पंक्तियों को लीजिए:—

१—'नन्ददास' की भूमिका, पृ० १००, १०१

२—नन्ददासः दशम स्कंध, पृ० १९७, प० ३५।

दसयै मधि जु निरोध बखान्यौ।
दुष्ट नृप दलन सब ही जान्यौ।

निपट-निकट, संगम अगम, जिमि दर्पन में छाँह।
जदपि रहति आगे तदपि, मिलै न भरि भरि बाँह।[1]

और आधार को भी देखिये:

"अग्नेर्यथा दारुवियोगयोगयोरदृष्टतोऽन्यन्न निमित्तमस्ति।
एवं हि जन्तोरपि दुर्विभाव्य, शरीरसंयोगवियोगहेतुः"[2]

दोनों में भाग्य की प्रबलता दिखलाई गई है। मूल में भाग्य को वाचक शब्द से प्रकट किया गया है, अनुवाद में ध्वनि से। मूल के 'अग्नि दारु' उदाहरण से भावानुवाद के 'दर्पण छाँह' में अधिक भाव-लालित्य आगया है।

'दशमस्कंध' में वसुदेव की इस उक्ति को

डर तौ तोहिं अठयैं गर्भ कौ, नहिं या कौ नहिं अवर अर्भ कौ।
हौं तोहि दैहौं सिगरे तात, छुए कहत यह तेरौ गात।[3]

भागवत में दी हुई उनकी इस उक्ति से मिलाइये,

न ह्यस्यास्ते भयं सौम्य यद् वागाह शरीरिणी।
पुत्रान् समर्पयिष्येऽस्या यतस्ते भयमुत्थितम्।[4]

मूल में 'ते भयं' की पुनरावृत्ति हुई है। नन्ददास ने इसमें से एक को निकाल कर 'आवृत्ति' का निवारण किया है। इसके अतिरिक्त 'छुए कहत यह तेरौ गात' यह नन्ददास की मौलिक योजना है। इसका प्रयोग कंस का विश्वास पैदा करने के लिए किया गया है। इससे मूल की अपेक्षा अनुवाद का भाव अधिक मँजा हुआ और ललित प्रतीत होता है।

भाव सौन्दर्य के लिए किये हुए भावानुवाद का अन्य उदाहरण भी देखिये! वसुदेव कृष्ण को गोकुल ले जा रहे हैं। पर्जन्य वर्षा कर रहे हैं। शेष फणों द्वारा कृष्ण के ऊपर से जलधारों का निवारण कर रहे हैं। इस भाव को भागवत में इस प्रकार व्यक्त किया है :—

ववर्ष पर्जन्य उपांशुगर्जितः शेषोऽन्वगाद् वारिनिवारयन् फणैः[5]"

१—नन्ददासः दशम स्कंध, अध्याय १ पं० १६२-६३

२—भाग० १० । १ । ५१

३—नन्ददासः दशम स्कंध, अध्याय १, पं० १६६-७०

४—भाग० १० । १ । ५४

५—भाग० १० । ३ । ४६

इसी भाव को सौन्दर्य का पुट देकर नन्ददास ने इस प्रकार प्रकट किया है :

फुही फूल से परत सुदेस, ते सहि सक्यौ न सेवक सेस।
प्रेम मगन सु गगन में आइ, लयौ फनन की छत्र बनाइ।[1]

यहाँ भी 'शेष द्वारा अपने फणों से कृष्ण की छाया' करने का अर्थ ग्रहण किया गया है; किन्तु 'ते सहि सक्यौ न सेवक सेस' और प्रेम मगन' से भाव-सौन्दर्य मूल की अपेक्षा अधिक बढ़ गया है। सेवक का भाव 'प्रेम' के मिलन से स्वर्ण में सुगन्ध का काम करता है। साथ ही सेवा और प्रेम की तत्परता से 'शेष' और विष्णु के अवतार 'श्रीकृष्ण' के सम्बन्ध पर भी प्रकाश पड़ जाता है।

३—नन्ददास ने अनेक स्थलों पर भावों को परिवर्तित भी कर दिया है। उन स्थलों पर प्रधानतया कवि की सौन्दर्य-रुचि ने ही काम किया है; अथवा उन स्थलों पर परिवर्तन किया गया है जहाँ कवि को भगवान् के शील, सौन्दर्य आदि में कोई धक्का लगता हुआ दीख पड़ता है। कभी-कभी तो ऐसे स्थलों की बिल्कुल अवहेलना कर दी गई है, अन्यथा भाव परिवर्तन का आश्रय ले लिया गया है। यथा,

"पियत भए सुन्दर नँद-नन्द, मुसकत जात मंद छवि कन्द।[२]"

भागवत में इस प्रकार का भाव नहीं है। वहाँ कृष्ण पूतना का स्तन्य मुसकाते हुए नहीं पीते, वरन् पीते हुए रोष[३] करते हैं। करों से स्तनों का 'गाढ़ प्रपीडन' रोष का सहायक, संचारी भाव है। इस लक्षण से दर्शकों को कृष्ण के रोष का अनुमान हो सकता था। उनके रोष से पूतना का पतन हो जाने से देखने वाले उनमें अलौकिकता के दर्शन कर सकते थे। ऐसा होने से व्रजवासियों और कृष्ण के लौकिक सम्बन्ध में कुछ अन्तर आने की सम्भावना थी। वे लौकिक बालकृष्ण के स्थान पर उन्हें अलौकिक देव समझ लेते। हो सकता था कि व्रजजनों की कृष्ण के प्रति श्रद्धा बढ़ जाती, परन्तु वह ममत्व, वह अपनत्व न रहता। दूसरे, भगवान् की लीलाएँ सर्वबोधगम्य नहीं होतीं। स्तन्यपान के साथ मुसकराते हुए प्राण-पान करने में लीला का रहस्य सब पर प्रकट नहीं होता। इसके अतिरिक्त दूध पीते हुए शिशु का रोष करना 'शिशु विज्ञान' की दृष्टि से समीचीन नहीं है। रोता हुआ बालक भी दूध से लग कर चुप हो जाता है अथवा प्रमोद से किलकने लगता है। अतः रोष के स्थान पर मुसकान अधिक उपयुक्त है। कृष्ण की लीला मुसकराहट में चलती रहती है, किन्तु दर्शक उसे नहीं समझ पाते।

२—नन्ददास, दश० स्कंध, अध्या० ६, पं० ३८

१—नन्ददास, दश० स्कंध, अध्या० ३, पं० ७५-७६ ३—भाग० १०, ६, १०

यह बात नहीं है कि भाव-सौन्दर्य की सृष्टि के प्रयास में कवि सर्वत्र सफल ही रहा है। कहीं-कहीं तो दशम स्कंध का भाव बहुत विकृत हो गया है। राक्षस भगवान् को लेकर उड़ता है। "लीलाधर अपनी लीला से उड़ तो जाते हैं, किन्तु राक्षस को भार के कारण वे चट्टान प्रतीत होते हैं। वे अपने पराक्रम का कुछ और विस्तार करते हैं और दैत्य के कंठ को ऐसा पकड़ लेते हैं कि वह छुड़ा नहीं पाता[1]।" मूल के इस भाव को नन्ददास ने इस प्रकार अभिव्यक्त किया है: "राक्षस कृष्ण को उड़ा ले चला, किन्तु भार के कारण उसे ऐसा आभास होने लगा कि शिशु के स्थान पर वह किसी शैल को उठा लाया है; अतः वह उसे डालने की उतावली करने लगा, परन्तु शिशु डर कर गले से चिपट गया[2]।" भागवत में भगवान् की लीला और उनकी अमित शक्ति का परिचय दिया गया है। दशम स्कंध में शिशु की स्वाभाविक क्रिया का परिचय तो दिया गया है, परन्तु 'लरिका डरपि छुरि गयौ गरे' से कवि कोई सौन्दर्य उत्पन्न नहीं कर सका है। गिराते समय बालक का डर कर गले से चिपट जाना बिल्कुल स्वाभाविक है, किन्तु जो बालक भयंकर, बलवान् राक्षस को भी भार और कठिनता के कारण पर्वत प्रतीत होता है और जो उससे सँभाले नहीं सँभलता, अथवा जिसके गला पकड़ने से वह दैत्य अपने प्राणों से भी हाथ धो बैठता है, उसका 'एकान्त' में डर जाना उचित नहीं लगता। यदि गोप-गोपियों की आँखों के सामने यह दृश्य हो रहा होता और उस समय लीला-मानव भगवान् कृष्ण, राक्षस के गिराने पर, अपना भय प्रकट करते, तो यह योजना अधिक उपयुक्त प्रतीत होती, किन्तु ऐसे स्थल पर, जहाँ स्वयं राक्षस को भी बालक की उपस्थिति के विषय में शंका है और जहाँ ऐसा घोर अंधकार छा रहा है कि कृष्ण और राक्षस को कोई ब्रजवासी देख नहीं सकता, शिशुकृष्ण को 'डरा' हुआ कह देने से सौन्दर्य का ह्रास ही होता है।

४—कवि ने अनेक स्थलों पर भाव-सौन्दर्य के मोह से अपनी ओर से कुछ मौलिक संयोजनाएँ कर दी हैं; यथा, भागवत में गोपियों के उलाहने पर यशोदा केवल हँस जाती है। विचारने की बात है कि उलाहने का उत्तर हँसी से नहीं दिया जाता, इससे तो उपालंभी का कोप और भी बढ़ता है। नन्ददास ने इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को पहचान कर यशोदा के मुसकराने में मनुहार और अनुनय-विनय जोड़ दिया है :

"यह सुनि आनन्दभरि नन्दरानी, तिनसै कहति मुसकि मधु बानी।

१—भाग० १०, ७, २७

२—नन्ददास, दशम स्कंध, अध्या० ७ पं० ४९-५०

बलि बलि तौ तुम ऐसैं करौ, दिन दस भाजन ऊँचे धरौ।
जब लगि याकी बुद्धि अयानी, तब लगि तुम ही होहु सयानी[1]।

अन्यत्र

आँधी-अँधेरी वर्षा की रात्रि में नवजात शिशु को अपने उर से अलग करके तथा ऐसे मार्ग से भेजकर जिसमें उसके जीवन पर पद-पद पर संकट की संभावना है, माँ के हृदय की क्या दशा होती है, उसमें कैसी उथल-पुथल मचती है! इसका सुन्दर चित्र खींचने के लिए कवि ने यह संयोजना की है :

"इधर माता देवकी सोचती हैं कि मेरा लाल दुःखी होगा। भादों की अँधेरी निशा है, भयंकर बिजली चमक रही है, इतने पर भी मार्ग में यमुना है जिसमें भयंकर बाढ़ आ रही है। कृष्ण का चन्द्र-सा मुख है, उसे कोई दूर से ही देख लेगा क्योंकि कंस के अनेकों गुप्तचर घूमते हैं। हे विधाता! मेरा बेटा कुशल-पूर्वक गोकुल पहुँच जाय; हे हरि, आप ही सहायक हैं[2]।" भागवत में यह भाव नहीं है।

५—भक्ति-भावना के पोषण के लिए भी कवि ने कहीं-कहीं संयोजनाएँ कर दी हैं। उदाहरण के लिए दूध उफनने की घटना को लीजिए। भागवत में इसका इतनामात्र वर्णन है: 'माता यशोदा कृष्ण को स्तन्य पिला रही हैं, उन्हें सामने दूध उफनता हुआ दूध दीख पड़ता है और वे कृष्ण को छोड़कर उसे सँभालने चली जाती हैं।'[3] इस घटना पर लोगों ने अनेक टिप्पणियाँ की हैं। कुछ के मत से कृष्ण को अतृप्त छोड़कर दूध सँभालने दौड़ना यशोदा की तृष्णा है, किन्तु नंददास को यह मत अमान्य है। वे भक्ति-भावना के पोषण के लिए अपने मत की संयोजना करते हुए लिखते हैं :

"कुछ लोगों का विचार है कि यशोदा तृष्णा से बावली होने के कारण हरि को छोड़कर दूध के लिए दौड़ी गई थीं। वे वस्तुतः जिस प्रकार शुकदेवजी ने कहा है उस प्रकार प्रेम के मर्म को नहीं समझे हैं। इस घटना के दृष्टान्त से ब्रह्मानंद का 'हलकापन' और 'भजनानंद' का गौरव दिखलाया गया है[4]।"

अन्यत्र, भगवान् को मनुष्य का सा रूप धारण करने के कारण पुत्र समझ कर यशोदा ऊखल से बाँधना चाहती हैं। वे घर की सारी रस्सियाँ जोड़

१—नंददास, दशम स्कंध, अध्या० ८ पं० ६८-७०
२—नंददास, दश० स्कं०, अध्या० ३, पं० ८२-८८
३—भाग० १०. ९.५
४—नंददास, दश० स्कं०, अध्या० ९, पं० २६-२८

डालती हैं; पर सब छोटी पड़ जाती हैं। जब कृष्ण ने देखा कि माँ का शरीर पसीने से लथपथ हो गया है, वे बहुत थक गई हैं, तब वे स्वयं ही, कृपा करके, अपनी माँ के बंधन में बँध गये। इस घटना की विवेचना भागवत में श्री शुकदेवजी राजा परीक्षित से इस प्रकार करते हैं :

"परीक्षित, भगवान श्रीकृष्ण परम स्वतंत्र हैं। ब्रह्मा, इन्द्र आदि के साथ यह सम्पूर्ण जगत् उनके वश में है। फिर भी इस प्रकार बँध कर उन्होंने संसार को यह बात दिखला दी कि मैं अपने प्रेमी भक्तों के वश में हूँ। मैं सच कहता हूँ मुक्ति देने वाले भगवान् ने बंधन में बँधकर अपनी माता यशोदा पर कृपा की—उन्हें वह प्रसाद दिया जो उनके पुत्र ब्रह्माजी, आत्मस्वरूप शंकरजी और अर्धांगिनी लक्ष्मीजी को भी कभी प्राप्त नहीं हुआ। भगवान् की प्राप्ति भक्तों के लिए जितनी सुलभ है उतनी और किसी के लिए नहीं है। यहाँ तक कि भगवान् के आत्मस्वरूप तत्वज्ञानियों को भी इतनी सुलभ नहीं है।"

भागवत के उपर्युक्त भाव में भक्ति की महिमा को अधिक स्पष्ट करने के लिए नंददास ने कुछ मौलिक संयोजना करके उसे दशम स्कंध में इन शब्दों में रक्खा है :

जद्यपि अस ईश्वर जगदीश, जाके बस विधि, विष्नु, गिरीस।
ताहि जसोमति बाँधति भई, रसना प्रेममई, दिढ़, नई।
भक्तवस्यता निगम जु गाई, सो श्रीकृष्न प्रकट दिखराई।
प्रभु तें जो प्रसाद जसु पायौ, सो काहू सपने न दिखायौ।
विधि सौ पूत जगत उजियारौ, आतमा सिव सब ही तें प्यारो।
निकटहि रहति जदपि श्रीललना, कब बाँधे, कब झुलये पलना।
हो नृप! ये जु जसोदा नंदन, नित्य अनूप रूप जगबंदन।
भक्तिवंत कहँ सुखद हैं जैसे, तन अभिमानी कौ नहिं तैसे।
बहुत जुगति जो जीवत लहियै, सो मुनि तन अभिमानी कहियै।
ग्यानी पुनि यह सुखहि न जानै, नीरस निराकार परवानै।
गत अभिमान न यह सुख लहै, देहादिक कहुँ माया कहै।
पायौ जु कछू नंद की घरनी, कापै परति सु महिमा बरनी।

दश० स्कं०, अध्या० ९, पं० ६०-७१

यहाँ अन्तिम चार पंक्तियाँ कवि की मौलिक संयोजनामात्र हैं। इनमें भक्ति का ज्ञान, कर्म और योग से उत्कर्ष दिखलाया गया है।

६—मूल में बहुत से स्थल ऐसे हैं जिनके स्पष्टीकरण की बड़ी आवश्यकता है। अतः भाव के सुगम स्पष्टीकरण के लिए कहीं कहीं आलंकारिक संयोजनाएँ भी

कर दी गई हैं। यथा, वसुदेवजी कृष्ण को गोकुल छोड़कर मथुरा लौट आये हैं और पूर्ववत् निगड धारण कर लिये हैं। इस समय वे कारागार में भी एक विशेष सन्तोष और सुख का अनुभव कर रहे हैं। इस आशय को सुव्यक्त बनाने के लिए कवि ने उसमें दृष्टांत की संयोजना करके इन शब्दों में रक्खा है :

बैठे[1] बहुरि पहिरि पग बेरी, ज्यौं कोउ गाड़ि धरै धन ढेरी।

दश० स्कं०, अध्या० ३, पं० ६२

७--कहीं कहीं दो घटनाओं के मध्य संबन्ध-सूत्र की रक्षा के अभिप्राय से कुछ संयोजनाएँ की गई हैं। भागवत में 'शकट भंजन' और 'तृणावर्त' के बीच में 'पूर्वापर' की सूचना देने वाली या उनको जोड़ने वाली कोई ऐसी पंक्ति नहीं है जो शृंखला का काम करे। नंददास ने इस अभाव की पूर्ति बड़े कौशल से की है। 'शकट भंजन' हो चुका है, अनेक मनौती मनाई जा चुकी हैं। 'तृणावर्त' से इसे जोड़ने के लिए कवि ने इस भाव का समावेश किया है :

"तबसे यशोदा पुत्र को पालने में सुलाती हैं—उन्हें भय है कि वह घटना फिर न हो जाय। वे एक दिन पुत्र को गोद में दुलार करती हुई उनके बाल चरित्रों का गान कर रही हैं।"[2] इस संयोजना से 'कृष्ण को गोद में क्यों रक्खा जाता था,' न केवल इतनी ही सूचना मिलती है, अपितु 'पालने की घटना'—'शकट भंजन'—के साथ इन पंक्तियों को इस प्रकार संयुक्त किया गया है कि 'तृणावर्त' की घटना के लिए पृष्ठ-भूमि तैयार हो जाती है; एक संक्षिप्त भूमिका का काम निकल जाता है।

इसी प्रकार, तृणावर्त की घटना घट चुकी है। भागवत में इसके पश्चात् ही कृष्ण यशोदा को अपने मुख में विराट् रूप दिखलाते हैं। यहाँ भी कवि को दो अभावों का अनुभव होना है: एक तो घटनाओं का क्रमिक संबंध, दूसरा विराट्रूप-दर्शन का कारण। अतः दो पंक्तियों की योजना कर दी गई है जो गौण रूप से 'संयोजक' का काम करती हुई प्रधानतः दूसरी घटना का कारण बतलाती है। उनका यह भाव है : "तृणावर्त-आगमन के समय बालक अत्यन्त भारी किस प्रकार हो गया था, माता के चित्त में इस प्रकार की शंका निरंतर रहती थी। भगवान् कृष्ण माता को उस भार का ज्ञान कराना चाहते हैं।"[3]

८—नन्ददास काव्यशास्त्रज्ञ और बहुज्ञ थे। इसका प्रमाण उनके ग्रन्थ हैं। 'रसमंजरी' से उनके नायक-नायिका-भेद के ज्ञान का प्रमाण मिलता है तथा

१—तु० की०—भाग० १०. ३. ५१-५२

२—नंददास : दश० स्कंध, अध्या० ७, पं० ३२-३३

३—भाग० १०. २२. १४-१५

'मानमंजरी' और 'अनेकार्थमंजरी' से उनकी शब्द—कोष सिद्धि का साक्ष्य प्राप्त होता है। दशम स्कंध में यह ज्ञान भी कभी-कभी उद्वेलित हो गया है। इसका प्रमाण कुछ संयोजनाओं के रूप में मिलता है। भागवत में 'वस्त्रहरण'-लीला में यमुना-जल में प्रविष्ट नग्न गोपियाँ नाना प्रकार से कृष्ण की खुशामद करती हैं कि "हे प्रिय कृष्ण, हम आपकी दासी हैं। आप जैसा कहेंगे वैसा करने को तैयार हैं। हे धर्मज्ञ, हमारे वस्त्र दीजिए।"[1] उसमें मुग्धा, प्रौढ़ा का कोई वर्गीकरण नहीं है। नन्ददास ने, नायिका-भेद के साथ, गोपियों की सम्मिलित उक्ति को, इस प्रकार विभक्त कर दिया है :

"तिन मधि मुग्ध बैस की बाला, ऐंड सौं कहति भई तिहि काला।

× × × ×

पुनि तिन मैं जे प्रौढ़ा आहि, ते बोली हँसि हरितन चाहि।"

९—कहीं-कहीं कवि-कृति में समय की झलक भी आ गई है। यथा ब्रज में तथा और भी बहुत से प्रान्तों में यह प्रथा है कि जब शिशु किसी काम को प्रथम वार करता है, अथवा प्रथम वार बाहर जाता है तो उत्सव मनाया जाता है। नन्ददास ने गोपाल कृष्ण के प्रथम वार गोचारण के लिए जाने के अवसर पर इसी प्रकार के उत्सव का उल्लेख किया है। देखिये :

गोपाल संमत जब जाने,
द्विज बर बोलि नन्द जू आने।
भल मुहूर्त लै दान दिवाइ,
पठये कान्ह चरावन गाइ।
जसु लगी मंगल गीत गवावन,
नन्द चले बन लौं अवरावन।

दश० स्कं०, अध्या० १५, पं० ५-७

भागवत में इसका कोई उल्लेख नहीं है। संभवतः यह प्रथा भागवत के रचना-काल में न रही हो।

१०—नन्ददास ने कहीं-कहीं लम्बी दार्शनिक उक्तियों[2] और अनेक वस्तुओं के सूक्ष्म विवरण को कभी-कभी पूर्णतः और कभी-कभी अंशतः छोड़ दिया है। संभवतः कवि ने ऐसा तीन कारणों से किया है: १. लीला-वर्णन की सरसता में

१—नन्ददासः दश० स्कंध, अध्याय ७, पं० ६३-६४

२—नन्ददासः दश० स्कंध, अध्याय २२, पं० ३६-४०

उनसे नीरसता आने के कारण, २. कथा का प्रवाह बाधित होने के कारण, अथवा ३. भक्ति अप्रधान बनने के कारण।

'दशम स्कंध' की भागवत-दशम स्कंध से तुलना करने पर उक्त प्रकार के स्थलों की तैयार की हुई विवरणिका नीचे दी जा रही है:

(अ) नन्ददास ने 'ब्रह्मादिक द्वारा गर्भ स्तुति' में से सनातन वृक्ष के रूप को छोड़ दिया है, शेष स्तुति से संक्षिप्त भावमात्र लिया है।

(आ) तृतीय अध्यायगत स्तुति को कवि ने संक्षिप्त कर दिया है और सांख्य दर्शन की लम्बी-चौड़ी विवेचना को छोड़ दिया है। भागवत के थोड़े से भावों को अपने भावों में मिलाकर कवि ने उन्हें नवीन ढंग से प्रस्तुत किया है।

(इ) तीसरे अध्याय में भगवान् का प्रवचन भी संक्षिप्त कर दिया गया है तथा देवकी के गर्भ से उनके अवतीर्ण होने की पूर्व प्रतिज्ञा का प्रसंग बिल्कुल छोड़ दिया गया है।

(ई) चौथे अध्याय में कंस की दार्शनिक वार्ता संक्षिप्त कर दी गई है और मंत्रियों की प्रत्युक्तियों से राजनीति को बिल्कुल छोड़ दिया गया है।

(उ) पूतना की घटना से उत्पन्न हर्ष और विस्मय के संश्लिष्ट भाव को प्रकाशित करती हुई यशोदा गोपियों के साथ विधाता को अनेक धन्यवाद देती हैं। यह प्रसंग भागवत १०. ६ में श्लोक २२ से २६ तक चलता है, किन्तु दशम स्कंध में इसका विलोप है।

(ऊ) पूतना की चिता से निकली हुई गंध से वायु के सुगन्धित होने के विस्तार को नन्ददास ने ग्रहण नहीं किया।

(ए) भागवत १०. ७ में श्लोक ११ से १७ तक स्वस्ति-मंत्रों द्वारा कृष्ण को अशुभ ग्रह के प्रभाव से बचाने वाले ब्राह्मणों की महत्ता का वर्णन है। 'दशम स्कंध' में इसे छोड़ दिया गया है।

(ऐ) नवें अध्याय में शुकदेव-निरूपित कृष्ण की प्रकृति के सविस्तार वर्णन का दशम स्कंध में लोप है।

(ओ) चौदहवें अध्याय के अन्त में शुकदेवजी का वक्तव्य नहीं दिया गया। ब्रह्मा के भाषण में भी यत्र-तत्र काट छाँट कर दी गई है।

(औ) सोलहवें अध्याय में कालिय और उसकी पत्नियों की वार्ता को संक्षिप्त कर दिया गया है।

११—वर्णन में क्रम-परिवर्तन प्रायः कवि की इच्छानुसार हुआ है। अध्याय ५ में पं० ३६—४५, अध्याय २ में पं० ३६, अध्याय १ में पं० ४० को देखकर मूल से 'दशम स्कंध' के क्रम-भेद का अनुमान किया जा सकता है। भागवत में कृष्ण-जन्मोत्सव पर पहले ब्रज की सजावट का वर्णन किया गया है, फिर गोपियों के आगमन और कृष्ण को दिये हुए उनके आशीर्वाद का वर्णन है। दशम स्कंध में क्रम उलट दिया गया है। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में क्रम-परिवर्तन है।

१२—कहीं-कहीं भावुकता के कारण कवि ने अत्युक्ति का सन्निवेश कर दिया है। यथा, "जिधर देखो उधर ही सुख की रेणु, कनक तट और रत्न सोपान थे" में 'कनक करारे' और "रतन नसैनी' का अत्युक्तिपूर्ण प्रादुर्भाव कवि की भावुकता के कारण हुआ है।

दशम स्कंध के अध्ययन से एक विशेष बात का अनुमान होता है कि कवि लीला और धाम के वर्णनों में बहुत सावधान रहा है। उन्हें उसने कहीं संक्षिप्त नहीं होने दिया। वृन्दावन के वर्णन में संक्षेप के स्थान पर परिवर्धन ही पाया जाता है।

१—नन्ददास : दश० स्कं०, अध्या० १५, पं० १६
हि० सा० सं० प्र०—१४

चतुर्थ अध्याय

वैराग्य-वृत्ति

वैराग्य जगत् के साथ मोहजन्य सम्बन्ध का विसर्जन है। सामाजिक भावना में विरति का प्रादुर्भाव धर्मोदय के इतिहास का प्रथम अध्याय है। अनुमानतः स्वर्ग-नरक के परिणामी पुण्य-पाप की भावना ने ही वैराग्य को जन्म दिया होगा। जब से 'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्' जैसा कर्म सिद्धान्त मानव का विश्वास बना है, संभवतः उसी समय से वह नरक से डरने लगा है और पाप से बचने की यथाशक्ति चेष्टा करने लगा है। नरक से डरने और पाप से भगने का काम प्रधानतः मन द्वारा सपन्न होता है। अतः मन की स्थिति-विशेष का नाम ही वैराग्य है।

भय, जुगुप्सा आदि की अवस्था में मन तद्विषय से खिंचता है, उधर से मुड़ता है। यहीं से विरति-भावना का उदय होता है। मन का मोड़ लेना ही बस नहीं है, सिद्धि तो उसे निर्विषय करके विलीन करने में है। पर मन को मुड़ा हुआ कब तक रक्खा जा सकता है ! क्या विलीनीकरण के समय तक वह निरालंब रह सकता है ! उसके कहीं लगाने के लिए, लयावस्था तक ले जाने के लिए, परम आकर्षण का कोई केन्द्र चाहिए। वह है भक्त के लिए आराध्य और ज्ञानी के लिए आत्म-ज्योति।

मन के विलीन होने तक ही वैराग्य की दौड़ है। तदनन्तर साधक वैराग्य की आवश्यकता और चेतना से ऊँचा उठ जाता है। मध्यावस्था साधना की है जिसमें संयम वैराग्य का परम सहायक होकर चलता है। संयम की अनिवार्य परिधि भी मनोनिलय है। मन का विलय होने पर साधक को साध्य की पृथक् प्रतीति नहीं होती।

मनोनिग्रह ज्ञानमार्ग में तो योगद्वारा प्रतिपन्न होता ही है, पर भक्ति मार्ग में भी उसकी प्रतिपत्ति में योग सहायक हो सकता है। हाँ, भक्ति में योग अनिवार्य नहीं है। भक्ति-रसार्णव में प्रवेश करते ही मन उसमें डुबकियाँ लगाने लगता है और स्वतः ही एक अवस्था ऐसी आ जाती है जब कि वह 'इष्ट' के रूपादि में उलझ कर भक्तिसागर में विलीन हो जाता है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि वैराग्य ज्ञान और भक्ति, दोनों की सामान्य निधि है। हिन्दू धर्म के अतिरिक्त कई अन्य धर्मों ने भी वैराग्य को समान

रूप से अपनाया है। जैन और बौद्ध धर्म में तो इसकी बड़ी मान्यता रही है। संस्कृत के अनेक ग्रंथों में वैराग्य के प्रकरण आये हैं। शब्द वैभिन्य होते हुए भी वैराग्य के संबन्ध में उनका मतैक्य मिलता है। उन सबने एक स्वर में काम, क्रोधादि की निन्दा की है, जगत् को अवस्तु और व्यर्थ तथा शरीर को अनित्य एवं व्याधि मंदिर माना है। सभी ने शैशव, यौवन और जरावस्था के दोषों की कड़ी आलोचना की है। काल की भयंकरता और संसार की दुःखमयता सब की आँखों में खटकती रही है। लक्ष्मी और स्त्री में सभी ने घृणास्पद दोष देखे हैं। स्वार्थमूलक होने से जगत् के सम्बन्धों को सबने बुरा कहा है।

वैराग्य हमारे कवियों की साधना का प्रथम चरण है। वह हिन्दी काव्य की सगुण और निर्गुण, दोनों धाराओं में अपना स्वाभाविक पद लेकर अवतीर्ण हुआ है। संस्कृत और हिन्दी साहित्य के बीच में उसकी एक परंपरा दीख पड़ती है। भारतीय विचार-धारा में विरति-परंपरा संस्कृति का ऐसा अंग बन गई है कि आपस में बात करते हुए गँवारों को भी 'दुनियाँ में कौन किसका है ?' 'सब मतलब के यार हैं,' 'काल किसको छोड़ता है !' 'देह कागज की नाव है' आदि कहते हुये सुना जाता है। उनके विषय में यह सोचना कि उन्होंने शायद वैराग्य शतक आदि को पढ़ा होगा, केवल उपहास की वस्तु होगा। हो सकता है कि उन्होंने भाषा में किसी वैराग्य-प्रकरण को किसी से सुन लिया हो, पर यह भी विप्रकृष्ट अनुमान है। हाँ, यह मानने में कोई आपत्ति नहीं कि उनके श्रुतिपथ में ये उक्तियाँ परपरा से चली आ रही हैं। वे कितनी प्राचीन होंगी, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। अनुमान से वे, कम से कम, इतनी प्राचीन अवश्य होंगी जितना उनका लिखित रूप। यदि हमारे कवियों ने भी वैराग्य-निरूपण श्रुति-आधार पर किया हो तो असंभावना का कोई कारण नहीं दीख पड़ता। कबीर आदि अपढ़ कवियों के सबंध में तो यह निःसंकोच भाव से कहा जा सकता है कि उन्होंने, अपनी मौलिक उद्भावनाओं के अतिरिक्त, सब कुछ सुनकर ही लिखा है। तुलसी जैसे अधीतसाहित्य कोविद के वैराग्य-निरूपण के संबंध में भी यह निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि उसमें अमुक संस्कृत ग्रंथ की छाया है। सब ग्रंथों का स्वर एक ही होने से किसी विशेषता की सहायता के बिना अनुसंधान असभव है। निरूपण के किसी क्रम या अनुवाद की तीव्र गंध के आश्रय से ही आधार की ओर संकेत किया जा सकता है। हमें इस प्रकार के केवल एक-दो उदाहरण रामचन्द्रिका[1] और विनय पत्रिका[2] में मिल

१—देखिये: इस निबंध का तृतीय अध्याय, क—भाग, अन्तिम पैराग्राफ

२—वि० प०; स्तुति १३६

सके हैं जिनसे हम यह अनुमान कर सकते हैं कि उन प्रकरणों के लिखने के समय कवियों का ध्यान योगवासिष्ठ[1] या विष्णु पुराण[2] पर रहा है। ऐसी परिस्थिति में हिन्दी कवियों की वैराग्य-विवेचना का केवल सामान्य आधार ही मालूम किया जा सकता है, विशेष नहीं। नीचे इसी प्रकार का प्रयास है।

काम, क्रोध, मद, लोभ और मोह ये पाँच, मनुष्य के भयानक शत्रु हैं[3]। लोभ और मोह अपनी अपनी पाश में जीव को खींचते फिरते हैं। गर्व उसे ऊँचाई से गिरा देता है, क्रोध उसे जलाता है और काम उसे शर-विद्ध करके सताता है[4]। सूरदास[5] ने इन पाँचों को पाप-कलाप का कारण माना है। कबीर[6] के शब्दों में ये पाँच मृग हैं जो जीवन-रूपी हरित खेत को चरते हैं। तुलसी दास की दृष्टि में भी ये कम भयंकर नहीं हैं। अपने प्रश्नों द्वारा उन्होंने कामादि को इस प्रकार भयावह सिद्ध किया है: "क्रोध ने किसको नहीं जलाया ? लोभ की पाश में किसने त्रास नहीं पाया ? नारी[7] के कठिन लोचन बाण से किसका हृदय विद्ध नहीं हुआ ? लक्ष्मी ने किसे मदान्ध नहीं किया ? और मोह ने किसे नहीं जीता ?" "मन को विचलित करने के लिए इनमें से एक एक भी पर्याप्त है। जहाँ ये पाँचों हों वहाँ मानसिक शान्ति कैसे रह सकती है ? शान्ति के लिए इन पाँचों का नाश अनिवार्य है। इनमें से काम और लोभ तो सबसे अधिक भयानक हैं। वे विष से भी अधिक घातक हैं।"[8] लोभ ही का दूसरा नाम तृष्णा है। कनकादि के प्रति तृष्णा और कामिनी के प्रति काम का जागरण होता है। "कनक और कामिनी रूपी प्रबल पाश से जगत में बिरला ही छूट पाता है।[10]" मिसरी की छुरी की तरह इनका परिणाम विनाश है।[11]

"तृष्णा एक महा भयंकर नदी है। इस लोक की नावों की तो गिनती ही क्या, इसमें सुरलोक के बड़े-बड़े पोत तक डूब जाते हैं। यह लज्जारूपी सघन लता

१—यो० वा०, वै० प्र०, सर्ग १६, २०, २२ २—वि० पु० ६. ५. ६-३५

३—वि० प०, स्तुति १८७ पं० २, ४ तथा ४—रा० चं० २४८
जा० ग्रं० पृ० ३५०, सोरठा ६.

५—सूरसागर-पृ० १७ पं० २६-३१: ६—क० ग्रं० २०६ ३५३
तु० की गीता ३ ३७, १६:२१, २ ६२-६३.

७—तु० की० : वैराग्य शतक, ५६.

८—कवितावली, पृ० २६३, कवित्त ११७, पृ० २६४, कवित्त ११८

६—क० ग्रं० ४ ११ तथा म० बानी, पृ० १२, पं० ६-७ तथा
रा० चं० मा० पृ० ११०६-१११०

१०—क० ग्रं० १५१ १८८

११—म० बा०, पृ० १२ पं० ६-७: तु० की० : शंकराचार्य: प्रश्नोत्तरी, ८.

से आवेष्टित धैर्य और सत्य के तमालों को तोड़ डालती है। इसमें छल, अपमान, अज्ञान, और अप्राप्ति रूपी भयानक भुजंग रहते हैं। यह कृष्णा (काली) नदी बड़ी चौड़ी है। कहीं उतरने योग्य घाट भी नहीं है। केशव को इसके पार करने का कोई उपाय नहीं दीख पड़ता।[1] "तुलसी के मत में "काम, क्रोध, लोभ, मद आदि सभी प्रबल धाराएँ हैं, किन्तु उनमें अत्यन्त दारुण दुःख देने वाली माया-रूपिणी स्त्री है। वह जप, तप, नियम आदि का शोषण करके काम, क्रोध, मद, मोह, मात्सर्य आदि को प्रेरित करती है, दुर्वासना को जगाती है, धर्म का हनन करती है, ममता को प्रोत्साहित करती है, पापों को बल देती है और बुद्धि, बल, शील, तथा सत्य का उन्मूलन करती है।[2]"

कबीर को जगत् में स्थिर कुछ नहीं दीखता। देखते-देखते यह जगत् चला जा रहा है।[3] जायसी[4] को इसकी प्रतीति जल-बुद्बुद के समान हो रही है। रहीम[5] के कानों में कूच के नगाड़े का शब्द आठों याम सुनाई पड़ता है। यहाँ स्थायी रूप से निवास करने का प्रश्न ही नहीं उठता। सूर की दृष्टि में भी यहाँ स्थिर कुछ नहीं है, जो आता है उसे जाना ही पड़ता है।[6] संतों से सुनकर तुलसी दास[7] को भी विश्वास हो गया है कि जगत् झूठा है।

यह जगत् ही अनित्य नहीं, शरीर भी अनित्य है। "यह सहज ही गल जाने वाले कागज के पुतले के समान है।[8] जायसी ऐसे शरीर के प्रति मोह की

१—रा० चं०, २४·२१, तु० की०, वै० शतक ४५ तथा
  यो० वा०, वै० प्र०, सर्ग १७.

२—रामचरित मा०, पृ० ७०८ तथा सूरसागर, पृ० ८२, पंक्ति १-२
  तु० की० यो० वा०, वै० प्र०, सर्ग २१ तथा श्रृंगार शतक ५४, ५५

३—क० ग्रं० १२०·१००,
  तु० की० यो० वा०, वै० प्र०, सर्ग २८·१.

४—जा० ग्रं० पृ० ३७० पं० १

५—रहीम दोहावली: दो २४६

६—सूरसागर पृ० ३५, पं० १२ तथा जा० ग्रं०, पृ० ३४०, दो. ३.

७—कवितावली, पृ० २४२, कवित्त ३६

८—रहीम दोहावली दो. ३५, तथा क० ग्रं० ११७·६२
  धर्मदास की शब्दावली : पृ० ७, पं० २३
  तु० की—'अन्तवन्त इमे देहा :' गीता २·१८ तु० की०

निंदा करते हैं, जो सूत-सूत पर दोष-पूर्ण हैं।[१] "इस गन्दी[२] देह में कबीर को कुछ सार नहीं दीख पड़ता। "इसके नौ द्वार साक्षात् नरक हैं और दुर्गंध से व्याप्त हैं। यह जलाने पर भस्म हो जाता है। जल में डाल देने पर इसे कीड़े खा जाते हैं। भूमि पर यह शूकर, श्वान, काक आदि का भक्ष्य बनता है। ऐसे शरीर में भलाई क्या है ?[३] बाल्य, यौवन और जरावस्था को प्राप्त होने वाली देह में दुःख ही दुःख है। इसके कारण जीव की बड़ी दुर्गति होती है।

"गर्भ में आते ही उसकी दुर्दशा होने लगती है। सिर नीचे और पैर ऊपर हो जाते हैं। वह रक्त, मल, मूत्र, विष्ठा, कृमि और कीच से घिरा रहता है। नौ मास तक यह दशा रहने पर उसे प्रसव की वेदना सहनी पड़ती है और बड़े कष्ट से गर्भ से बाहर आता है।

बचपन में अनेक कष्ट होते हैं। भूख, रोग, चपलता, अपवित्रता और अनेक बड़ी बड़ी बाधाएँ उसे घेर लेती हैं और अज्ञानजनित अनेक यातनाएँ आ सताती हैं।

यौवन के चढ़ते ही कामिनी की पाश पड़ जाती है, ज्ञान विदा हो जाता है और मदान्धता छा जाती है। इन्द्रियों के वश में पड़ने से चित्त सदा विषयों में लगा रहता है। कृमि, भस्म, विट आदि के परिणाम वाले शरीर के लिए जीव जगत् का शत्रु बन बैठता है। लोभ, द्वेष, मद, असूया और ईर्ष्यादि यौवन को दूषित कर देते हैं और वह काम, क्रोधादि बड़े-बड़े अनर्थों का गृह बन जाता है। देखते ही देखते उसे बुढ़ापा आ घेरता है।

शरीर के जर्जरित होने पर रोग और शूल सताने लगते हैं। सिर हिलने लगता है। इन्द्रियों की शक्ति क्षीण हो जाती है। बोलना किसी को प्रिय नहीं लगता। घर बाहर वालों में सम्मान घट जाता है। खाने पीने की भी कोई व्यवस्था नहीं रहती। शोक, मोह, पीड़ा, विषाद, रोग, चिंता और परिभव (हार) भारी त्रास देने लगते हैं।[४] " ऐसी ऐसी दशा होने पर भी इस शरीर से मोह !

१—जा० ग्रं० पृ० ६२, पं० ५ तथा
धर्मदास की शब्दावली, पृ० २३, पं० १३ — भाग० माहात्म्य ५.५७-६१

२—क० ग्र० ६७.२६ तु० की०—भाग० ११.२६.२१
तथा, यो० वा०, वै० प्र०, सर्ग १८

३—क० ग्रं० १६३. ३११

४—वि० प०, स्तुति २३६, पद ३-८ तथा रा० चं० २४. १-१३, तथा
का० ग्रं० १७०. २४३ तथा सूरसागर पृ० ३५, पा १८३
तु० की० यो० वा०, वै०, प्र० सर्ग १६, २०, २२ तथा वि० पु०
६.५. ६-३५

इतना ही नहीं, काल सिर पर नाचता रहता है। भला उससे कौन बच सका है! जिस प्रकार गौरैया—चिड़िया बाज के पजे में चिचियाती रहती है उसी प्रकार जीव काल की पाश में पड़कर कराहता रहता है।[1] "काल के आगमन की सूचना तक नहीं मिलती। "वह चाहे जब आ झपटता है और बात की बात में जीव को लेकर भाग जाता है।" "औरों की तो बात ही क्या, सहस्रार्जुन और रावण सरीखे राजा भी बलवान काल से न बच सके।[२]" काल का ग्रास बनकर अनेकों ही चले गये और अनेकों जा रहे हैं। उन्हें देखकर कबीर[४] की आँखें खुल जाती हैं कि कल उनकी भी बारी आ रही है। रूप-यौवन पर गर्व करते हुए लोगों को देखकर सूरदास[५] को विस्मय होता है। वे कहते हैं: "रूप-यौवन सब मिथ्या है। इन पर गर्व नहीं करना चाहिए।[३] गर्व की बात भी क्या है?"

जगत् के सब सम्बन्ध दुःख के कारण हैं। उनसे सुख के स्थान पर दुःख ही मिलता है। वे सब मिथ्या हैं। "माता, पिता, मित्र, पुत्र, कलत्र, साथी, नौकर चाकर, वित्त, धन, धाम आदि सब यहीं विलीन होने को हैं। इनमें से कोई साथ नहीं जाता।[६]" फिर आसक्ति कैसी?

१—म० बा०, पृ० ३१, पं० २०-२१
२—म० बा० पृ० १३, पं० ११
३—वि० प०, स्तुति १६८, पं० ३
४—सूरसागर, पृ० ३८, प० २-३

तु० की० यो० वा०, वै० प्र०, सर्ग २३ (विशेषतः सर्ग २३, श्लो० ५२)

५—माली आवत देखि कै, कलियन करी पुकार।
फूली फूली चुनि लई, कालिह हमारी बारि॥ } कबीर

तु० की० वै० शतक, ३८

६—स० चं० १६. २६, तथा। वि० प०, स्तुति २०० पं० ३-४
सूरसागर पृ० ३८ पं० ६-७; सूरसागर पृ० ४७, पं० ११-१२,
म० बा०, पृ० ११, पं० १८-१६, क० ग्रं० १६८. २३८; क० ग्रं० १२०
१००

तु० की०—यो० वा०, वै० प्र०, सर्ग २७, श्लोक १३,
तथा अ० रामायण, यु० काड, १२.२४ तथा भाग० महा० ५.७४

पंचम अध्याय

सदाचार-निरूपण

पिछले अध्याय में यह कहा जा चुका है कि वैराग्य एक वृत्ति है, वह मन की एक स्थिति है जो कुछ सिद्धान्तों के आधार पर बनती है। उन्हीं के व्यावहारिक रूप को हम सदाचार में देख सकते हैं। उनके विरोध से दुराचार का रूप बनता है। सत्य मार्ग के पथिक के लिए सदाचरण वैराग्य से कहीं आवश्यक है। वह एक ऐसा पथ है जो व्यवहार में होता हुआ आनन्द की ओर ले जाता है। उसी का दूसरा नाम धर्म है। उत्तम प्रकृति के पुरुषों का वह सदा से सर्वस्व रहा है। आनंद का प्रेरक होते हुए भी इसका मूल्य अज्ञानी नहीं समझ पाते। अतः वे उसकी ओर अन्यमनस्क बने रहते हैं, पर ज्ञान संपन्न पुरुषों का काम तो उसके बिना एक क्षण भी नहीं चल सकता।

सदाचार अपने तात्विक रूप में निरुपाधि है। व्यक्तियों की भिन्नता से उसके तत्व में परिवर्तन नहीं होता, और न वह देश काल से ही बाधित होता है, किन्तु उपाधियों का आरोप लेकर—देश, काल और व्यक्ति के भेद से वह परिवर्तनशील सा दीख पड़ता है। सोपाधि सदाचार का निरूपण इस अध्याय का विषय नहीं है। यहाँ तो उस सदाचार की विवेचना करनी है जिसे हम निरुपाधि कह सकते हैं और जिसे हमारे सब भक्त कवियों ने एक दृष्टि से धर्म-रूप में देखा है। अतः विप्र-भावना और अनेक-देव-भावना को हम इस अध्याय में सदाचार के अन्तर्गत नहीं ले सकते, क्योंकि निर्गुण-सम्प्रदाय इन भावनाओं का समर्थन नहीं करता। दूसरे, विप्र-पूजा और देव-पूजा देश जाति की सीमा में परिमित होने से सदाचार की निर्विशेषता सिद्ध नहीं होने देती, अतः उनका निरूपण सगुण-भक्ति के अन्तर्गत किया जायगा।

सदाचार के सम्बन्ध में जितने सतर्क वेद हैं, उससे कहीं अधिक जैन और बौद्ध ग्रन्थ हैं। मैं समझता हूँ इन सबकी सम्मिलित छाया में वैष्णव धर्म ने सदाचार का बड़ा उज्ज्वल रूप ग्रहण किया है और हमारे कवियों पर संभवतः उसी के लिखे या सुने हुए रूप के संपर्क का प्रभाव पड़ा है। यहाँ भी प्रभाव के केवल सामान्य आधार का ही अनुसंधान हो सकता है, आधार अनेक होने से 'विशेष' की खोज के लिए कोई अवकाश नहीं है।

रामचरित मानस[1] और विनय पत्रिका[2] में तुलसीदास जी ने परमार्थ के पोषक जिन-जिन गुणों का वर्णन किया है वे 'सत्य, दया, तपस्या, शौच, अस्तेय, अहिंसा, त्याग, सन्तोष, सरलता, क्षमा, समता, शील, ब्रह्मचर्य, सत्संग, लोभ, अमर्ष, हर्ष और भय का त्याग, परोपकार, सहनशीलता, परनिंदा-त्याग, अमान, मन का संयम, मौन, देव-विप्र-गुरु पूजा, मित्रता, सांसारिक भोगों की चेष्टा से निवृत्ति, दुःख-सुख में समबुद्धि, भगवद्भक्ति, दान और आत्मचिन्तन हैं। भागवत ७.११ में नारद जी ने युधिष्ठिर को मनुष्यों के सनातन धर्म का निरूपण करते हुए लगभग ये ही बातें बतलाई हैं। विष्णु पुराण ३.७ में यमराज ने अपने दूत से भक्त के लक्षणों की व्याख्या में लगभग इन्हीं गुणों का निरूपण किया है। गीता का सोलहवाँ अध्याय भी इसी प्रकार की सूची से प्रारंभ होता है।

उपर्युक्त सूची की कुछ बातों का निरूपण तो भक्ति के प्रकरण में किया जायगा और कुछ बातें वैराग्य के अन्तर्गत आ गई हैं। यहाँ नमूने के तौर पर मानव के धार्मिक जीवन की कुछ मौलिक आवश्यकताओं की विवेचना की जा रही है जिन पर हमारे कवियों ने आचरण की दृष्टि से विशेष जोर दिया है। वे ये हैं : सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, सत्संग, सहनशीलता, सन्तोष, अस्तेय, मौन, परोपकार और परनिंदा-त्याग।

सत्य से अभिप्राय यहाँ सत्य भाषण से है। "अर्थानुकूल वाणी और मन का व्यवहार सत्य का लक्षण है। जैसा देखा हो, अनुमान किया हो या न हो, वैसा ही वाणी से कहना और अपने बोध के अनुसार दूसरे को ज्ञान कराना सत्य है। सत्य वाणी किसी को धोखा देने वाली, भ्रान्ति करने वाली अथवा बंधन करने वाली नहीं होती। वह सब भूतों के उपकार के लिए प्रवृत्त होती है।"[3]

सत्य भाषण सदाचार का प्राण है।[4] वेद के 'सत्यं ब्रूयात्' पाठ को सब धर्म ग्रंथ दुहराते चले आये हैं। नानक[5] उसी स्वर में सत्य बोलने की शिक्षा देते हैं। जायसी के शब्दों में "सत्य धर्म मूल है, वह सृष्टि का

१—रा० चं० मा०, पृ० १०१३-१४ : संतलक्षण।
तथा पृ० ६०८ 'धर्म रथ वर्णन'
{ देखिये—क० ग्रं० पृ० २०६.३६३ तथा प्रा० सं० पृ० १६८-१७४ }

२—विनय पत्रिका, स्तु० १७२

३—पातंजल योगदर्शन : विज्ञानाश्रम द्वारा अनूदित तथा दी फाइन प्रिंटिंग प्रेस, अजमेर द्वारा मुद्रित : प्रथमावृत्ति, पृ० २२१

४—रा० चं० मा० पृ० ४३५ 'धरमु न दूसर सत्य समाना।'

५—प्रा० सं०, पृ० १६८, पं० १८

आधार है। लक्ष्मी उसकी दासी है। उसमें साहस और सिद्धि का निवास रहता है। उसी के बल से सती नारी अग्नि पर शयन करके भस्म हो जाती है। जिसने सत्य का पालन किया है वह दोनों जग से तर गया है। सत्य भाषण परमात्मा को परम प्रिय है। सत्य के त्याग से धर्म का नाश होता है और बुद्धि भ्रष्ट होती है।"[1] सत्य सज्जनों की वाणी का भूषण होता है। सत्पुरुष सत्य को अमृत और असत्य को गरल समझते हैं। "मिथ्याभाषण सज्जन को विष लगता है, किन्तु खल को सत्य गरल प्रतीत होता है।"[2] व्रतादि की सफलता का आश्रय भी सत्य ही है। इसलिए रसखान[3] "करिये व्रत नेम सचाई लिए" पर जोर देते हैं।

तुलसीदासजी प्रिय सत्य बोलने की शिक्षा देते हैं, उनके मत में "रोषमय अप्रिय वाक्य कहने की अपेक्षा तलवार खींच लेना अच्छा है। वाणी ऐसी बोलनी चाहिए जो बोधमय, श्रवण मधुर और परिणाम में हितकर हो।"[4] मधुरवाणी[5] से चारों ओर सुख की सृष्टि और हितकर[6] वाणी से वैर-मूल का नाश होता है। कबीर[7] भी ऐसी ही वाणी का अनुमोदन करते हैं जो बोलनेवाले और सुनने वाले दोनों को शीतलता प्रदान करे।

कथनानुकूल आचरण सत्य का ही अंग है। आचरण का यथाकथित न होना असत्य की पद्धति है। इसलिए कबीर ने कहा है "जैसी मुख से कहो, वैसी चाल भी चलो।"[8] यदि कहने के अनुसार आचरण न हुआ तो उससे क्या हित ?[9]

अहिंसा का मान सब धर्मों में है। जैन और बौद्ध धर्मों की तो यह मानों नींव है। अहिंसा को परम धर्म कहा गया है। महाभारत[10] के अनुशासन पर्व में भीष्म ने युधिष्ठिर के प्रति अहिंसा की व्याख्या में बतलाया है कि अहिंसा धर्म के पालन के चार उपाय हैं: मन, वाणी, और कर्म से हिंसा न करना और मांस न खाना। इनमें से एक अंश की भी कमी होने पर अहिंसा-धर्म का पालन नहीं हो सकता। जैसे चार पैरों वाले तीन पैरों से खड़े नहीं रह सकते, उसी प्रकार अहिंसा भी केवल तीन ही कारणों से नहीं टिक सकती। जैसे हाथी के पैर के चिन्ह में सभी प्राणियों के पदचिन्ह समा जाते हैं, उसी प्रकार अहिंसा-

---

१—जा० ग्रं०, पृ० ४४, पं० २-७
२—तु० दोहा०, दो० २३६
३—रसखान, सवैया ३
४—तु० सत०, दो० ७३२
५—तु० सत, दो० १२८
६—तु० सत०, दो० २८३
७—क० ग्रं०, पृ० ५७, पं० ११-१२
८—क० ग्रं०, पृ० ३८, पं० ६
९—क० ग्रं०, पृ०, ३८, पं० ८
१०—महाभारत अनु० प० अध्याय १४४, श्लोक ३-४

धर्म में सभी धर्मों का समावेश हो जाता है। जीव मन, वाणी और क्रिया के द्वारा हिंसा के दोष से मुक्त हो जाता है। महात्माओं ने हिंसा-दोष के तीन कारण बतलाये हैं : मन (मांस खाने की इच्छा), वाणी (मास खाने का उपदेश) और स्वाद (प्रत्यक्ष रूप में मास का स्वाद लेना)। ये तीनों ही हिंसा के आधार हैं।" हिंसा की निंदा करके हिन्दी के सभी भक्ति-कालीन कवियों ने अहिंसा की प्रशंसा की है।

जायसी हिंसा को कठोरता से उत्पन्न हुई मानते हैं। "जो मनुष्य पर-मांस खाते हैं वे निष्ठुर हैं। मनुष्य आते समय भी रोता है और जाते समय भी रोता है, पर भोगादि में उसकी लिप्सा नष्ट नहीं होती। वह जानता है कि यह शरीर नष्ट होगा, फिर भी दूसरे के मांस से अपने मांस का पोषण करता है। यदि जगत् में आमिषाहारी न हों तो बधिक पक्षियों को क्यों पकड़े ?"[1] अतः मांस का खाना पाप है। महाभारत[2] में मोह वश मांस खाने वाले अविवेकी मनुष्य को अत्यंत नीच माना गया है। जायसी के स्वर में स्वर मिलाते हुए कबीर कहते हैं। "दूसरे जीव को मारकर अपने जीव का प्रतिपालन करनेवाले लोग प्रत्यक्ष रूप में अपने जन्म को हार रहे हैं।"[3] कबीर अपने अहिंसा के सिद्धान्त में दुर्बल को सताना भी हिंसा मानते हैं, वे एक साखी में कहते हैं।

दुर्बल को न सताइये, जाकी मोटी हाय।
मुई खाल की सास सों, सार भसम ह्वै जाय॥

मलूकदास हिंसा को अज्ञानजन्य मानते हैं। वे कहते : "पीड़ा सबको समान होती है, किन्तु अज्ञानी उसे नहीं देखता। जब काँटे की नोक तक बड़ा कष्ट देती है तब उस गले के कटने पर जिसे काटने वाला बड़े स्वाद से खाता है, न जाने जीव को कितना भारी कष्ट होता होगा।"[4]

अहिंसा की प्रतिष्ठा होने पर निर्वैरिता[5] सिद्ध हो जाती है, जो समदर्शिता का परिणाम है। "जो सबको समान देखते हैं उन्हें विरोध के लिए कोई अवकाश ही नहीं होता।[6] समता आने पर मित्र और शत्रु के साथ एक सा व्यवहार होने लगता है,[7] "पक्ष, अपक्ष और कटु भाषण का त्याग हो जाता है और परिणाम

१—जा० ग्रं०, पृ० ३६, पं० १६-२२

२—महाभारत, अनु० प० अध्याय ११४ श्लोक ११

३—क० ग्रं०, पृ० २३६, पं० २०   ४—म० बा०, पृ० ३७, पं० १८-१६

५—पा० यो० द०, द्वितीय साधन पाद, ३५

६—तु० सत० ४७८ दो० : तु० की०—अ० रा०

७—गीता १२.१८

में शीतलता मिलती है," उसी शीतलता के अन्वेषक को तुलसीदासजी 'सकल जीव सम जान'[२] का उपदेश करते हैं।

ब्रह्मचर्य को शारीरिक तप[३] माना गया है। "वाणी, शरीर और मन की पवित्रता, क्षमा, सत्य, धैर्य और स्मृति—ये श्रेष्ठ गुण प्रायः सभी धर्मों के मनुष्यों में देखे जाते हैं, किन्तु ब्रह्मचर्य तो शास्त्रों में साक्षात् ब्रह्म का ही स्वरूप माना गया है। यह सब धर्मों में श्रेष्ठ है। इसके द्वारा पुरुष परम गति प्राप्त कर सकते हैं।"[४] इसकी महिमा का गान जितना योग शास्त्र[५] ने किया है उससे अधिक भक्ति-ग्रन्थों ने। नारदीय भक्ति सूत्र[६] में स्त्री के चरित्र का सुनना भी वर्जित बतलाता गया है।

तुलसीदास[७] भी स्त्री से बचने का उपदेश देते हैं। कबीर का तो ब्रह्मचर्यविषयक बड़ा कठिन आदेश है। उनका कहना है कि "जो जरा मरण से मुक्त होना चाहता है वह स्वप्न में भी वीर्य-क्षरण न होने दे।"[८] नानक कहते हैं कि "वीर्यपात के कारण अनुताप करना पड़ता है, अतः उपस्थेन्द्रिय को सयत रखना चाहिए।"[९] "कोई ब्रह्मचार पथ लागे" कहकर जायसी[१०] ने भी ब्रह्मचर्य की सराहना की है।

सन्तों के चरणों में 'अड़सठ[११]' तीर्थों का निवास रहता है। सन्त भगवान् का ही रूप होते हैं, दोनों में कोई अन्तर नहीं है।[१२] सत्संग से भगवच्चरणों में अनुराग होता है, इससे उसे भक्ति का साधन[१३] माना गया है। उससे ज्ञान की

१—क० ग्रं०, पृ० ६३, पं० ३-४   २—तु० सत०, दो० ५५४

३—गीता १७.१४ तथा छा० उप० ८४.३

४—महाभारत शा० प० (कल्याण, पृ० १३१६ पर उद्धृत) अध्याय १६१, श्लोक ६-७

५—पा० यो० द०, द्वि० सा० पा०, ३०   ६—ना० भ० सूत्र, ६३

७—तु० दोहा०, दो० २६६   ८—क० ग्रं०, पृ २००, पं० १२

९—प्रा० सं०, पृ० २८१, पं० १८, पृ० २३५, पं० १६

१०—जा० ग्रं० पृ० १४, पं० १०

११—मीरां पदा०, पृ० १८, पद ३३, पं० ४ : तु० की० भाग० १.१३.१० तथा ४.३०.३७

१२—वि० प०, स्तु० ५३, पं० १८ : तु० की० भाग० ११.२६.३४

१३—तु० सत, ४५६, सूरसागर, पृ० ५२ पं० २६, प्रा० सं०, पृ० २२४, पं० २० : तु० की० अ० रा०, अर० कां०, श्लो० २२

पत्ति[1] और पातकों का विनाश[2] होता है और "अनायास ही भवोच्छेद हो जाता है, परन्तु सत्संग की प्राप्ति बड़े भाग्य से होती है।"[3] भक्ति ग्रन्थों ने उसकी बढ़-बढ़ कर प्रशंसा की है। भागवत[4] के स्वर में स्वर मिलाकर तुलसीदास[5] ने तो यहाँ तक कहा है कि "स्वर्ग और अपवर्ग का सम्पूर्ण सुख सत्संग के क्षणमात्र के सुख की भी समता नहीं कर सकता।"

सहनशीलता सत्स्वभाव का भूषण है। सहनशक्ति सबको नहीं मिलती। "कुशब्द को केवल संत ही सह सकते हैं, दूसरे नहीं सह सकते।" सहनशीलता अभिमान के त्याग और दीनता के ग्रहण से मिलती है। "जो मार्ग के रोड़े की तरह, पाखंड और अभिमान त्याग कर दीन और सहनशील बन जाता है उसी को भगवत्प्राप्ति होती है[7]।" जिस प्रकार संतजन विनीत होते हैं, उसी प्रकार दुर्जन दुर्विनीत होते हैं। परन्तु "संत खल वचनों को ऐसे निर्विकार भाव से सहते रहते हैं, जैसे पर्वत बूँदों का आघात सहता रहता है।" क्षमा, जो बड़ों का धर्म[9] है, सहनशीलता की सहचरी है। "उत्तम पुरुष, सहनशीलता और क्षमा के साथ, निंदा की दशा में भी विचलित नहीं होते[10]।"

सन्तोष महात्माओं का अनुपम धन[11] है। इसकी समता का कोई अन्य धन नहीं है[12]। सन्ताचरण की सूची में तुलसीदास[13] ने उसे प्रथम श्रेणी में

१—रा० च० मा०, पृ० ७३३, दो० १८,
सूरसागर पृ० ५२ पं० २०, मीरां पदा० पृ० ८, पं० ६

२—रा० च० मा०, पृ० ७३५, अर्द्धा० ६,
तु० की० भाग० ११.१६ ३१
तु० की० भाग० माहा० २.७६ तथा रा० चं०, २३.६

३—रा० च० मा०, ० १००६, अर्द्धा० ६, सूरसागर, पृ० ५२, पं० २१
तु० की० भाग० ११.२.२६ तथा ११.२६ ३२

४—भाग० १. १८. १३

५—रा० च० मा०, पृ० ७५७, दो० ४

६—क० ग्रं०. पृ० ६३. २

७—क० ग्रं०, पृ० ६५, पं० ६-१०

८—रा० च० मा०, पृ० ७३१:
बुंद अघात सहहिं गिरि कैसे, खल के बचन संत सहँ जैसे।

९—देखिये: रहीम 'क्षमा बड़ेन को चाहिये'

१०—मा० का० कन्दला, हिं० के कवि और काव्य, भाग ३, पृ० २१७, पं० १३-१४

११—गीता १२. १४. १६, तथा १०. ५

१२—देखिये: गो धन, गज धन, बाजि धन, और रतन धन खानि।
जब आवै सन्तोष धन, सब धन धूरि समान।

१३—वि० प०, स्तुति १७२

रक्खा है। जब तक तृष्णा रहती है विश्राम नहीं मिलता। तृष्णा का मूलनाश सन्तोष से अप्रयास ही हो जाता है। जो शान्ति चाहते हैं उन्हें सन्तोष की शरण लेनी पड़ती है। "सन्तोष के बिना उन्हें विश्राम नहीं मिल सकता[१]।" इसीलिए "बड़ाई (अहंभाव) के साथ-साथ लोभ (तृष्णा) को धो डालने का भी उपदेश किया गया है[२]।"

शास्त्र की आज्ञा का विरोध करके दूसरे का धन लेना स्तेय कहलाता है[३]। वह पाप है। सब धर्मों में उसकी निंदा की गई है। रहीम कहते हैं "चोरी आदि अधर्म का धन होली की भाँति नष्ट हो जाता है[४]।" अतः अस्तेय ही मनुष्य का धर्म है। नानक[५] ने अस्तेय को उदासीन का उत्कृष्ट गुण माना है।

अधिक बोलना महापुरुषों को शोभा नहीं देता। तत्व की प्राप्ति बकने से नहीं होती। इसीलिए ब्रह्मसूत्र[६] और कठोपनिषद्[७] में तर्क का निषेध किया गया है। महर्षि नारद[८] भी भक्त के लिए वाद का निषेध करते हैं। भागवत[९] में तो मौन को धर्म का लक्षण माना है। "बोलने से तत्व विलीन होता है और विकार बढ़ते हैं[१०]।" "हाँ, सन्तों के साथ वाणी-विलास करना (धर्म-चर्चा करना) हितकर है, किन्तु असन्तों के सामने मौन रहने में ही कल्याण है[११]।" "मूर्ख से बकवास करने में कोई लाभ नहीं है, उससे हार मान कर चुप रहना ही भला है[१२]।"

परोपकारी को "परोपकार के समान अन्य धर्म नहीं दीख पड़ता[१३]।" निस्सन्देह वह सन्तों का स्वभाव होता है,[१४]। उसमें दया की प्रतिष्ठा रहती है जो धर्म का कारण[१५] होने से दैवी सम्पत्ति मानी गई है। "दीन के दुःख से

१—भाग० १. १८. १३ २—रा० च० मा०, पृ०.७५७, दो० ४

३—देखिये, पा० यो० द०, द्वि० सा० पा०, पृ० २२३

४—रहीम दो, २३१

५—प्रा० सं०, पृ० १६७, पं० ७ : तु० की० वि० पु० ३. ७. २२

६—ब्र० सू० २. ११

७—कठोप० १. २. ६ तथा देखिये, शिव सं० ५ २३०

८—ना० भ० सू० ७४, ९—भाग० ७. ११. ८-१२

१०—क० ग्रं०, पृ० १०६, पं० ३-४ ११—क० ग्रं०, पृ० १०६, पं० ५

१२—म० बा० पृ० ३८, पं० ८-६ तथा तु० स०, दो०५५८

१३—रा० च० मा०, पृ० १०१६, अर्द्धा० १

१४—रा० च० मा०, पृ० ११०७, अर्द्धा० ६: तु० की०—भाग० ११. ११. २६ तथा भाग० ११ १४. १७ 'महन्तोऽखिलजीववत्सलाः'

१५—तु० सत०, २१२ तु० की०, गीता १६. २

महापुरुष के हृदय में दया का उमड़ आना कोई विस्मय की बात नहीं है[1] ।" दया भगवान के रिझाने[2] का विशेष साधन है ।

"परनिंदा एक बड़ा पाप[3] है" । "अज्ञानी पुरुष ही दूसरों की निंदा करते हैं, किन्तु जो राम नाम में लीन रहते हैं उन्हें और कुछ अच्छा नहीं लगता[4] ।" दूसरों की बुराई अस्मिता से उत्पन्न होती है । उसी से अपनी बड़ाई की भावना उदित होती है । अपनी बड़ाई की भावना में दूसरों की छुटाई की भावना भी सन्निविष्ट रहती है । अहंकार के मिटने पर दैन्य आ जाता है और अपने से छोटा कोई और नहीं दीख पड़ता । वही अपने निर्दोष होने की अवस्था है । "अपने भले होने की दशा में जग भला दीखता है, फिर किसी को बुरा कैसे कहा जा सकता है[5] ।"

"परनिंदक से अलग रहना ही अच्छा है[6] ।" "जो निंदा करता है वह नरक में जाता है[7] ।" जो मनुष्य दूसरों की निंदा करके अपना यश चाहते हैं उनके मुख पर अमिट कालिमा लग जाती है[8] ।

तुलसी जे कीरति चहहिं, पर कीरति को खोय ।
तिनके मुँह मसि लागि है, मिटै न मरिहैं धोय ।

उपर्युक्त गुण महात्माओं के स्वभाव में संस्थित रहते हैं । इनके बिना मनुष्य आध्यात्मिक स्तर पर ठहर नहीं सकता । भक्ति, ज्ञान आदि के पोषक तत्व इन्हीं में सन्निहित रहते हैं । घटाते-घटाते इन्हें थोड़े से मूलभूत गुणों तक ले जाया जा सकता है और बढ़ाते-बढ़ाते इनकी संख्या तीस से भी अधिक की जा सकती है । अतः किसी विशेष संख्या का निश्चित करना उचित नहीं है । उपर्युक्त तालिका में केवल नमूने दिये गये हैं ।

१—रहीम दो०, १२२; तु० की०-भाग० ११ ११. ३१
२—म० बा०, पृ० १८, शब्द ७, पं० ५
३—रा० च० मा०, पृ० ११०८,
तु० की० मार्कण्डेय पुराण (कल्याण पृ० ७६), अ० १५. ३६
४—क० ग्रं० पृ० ८२, पं० ५-६ तु० की० वि० पु० ३. ७. २६
५—म० बा०, पृ० २०, पं० ७-८
६—म० बा०, पृ० २०, पं० ८
७—मीरा पदा०, पृ० १८, पद ३३
८—तु० दोहा०, ३८६

—०—

षष्ठ अध्याय

मन और उसका प्रसार

मन चंचल, प्रबल और बड़ा ढीठ है। यह कभी स्थिर नहीं रहता, शरीर में निवास करता हुआ भी विश्व भर में घूम आता है। दूर और पास, छोटी और बड़ी, ऐसी कौनसी चीज है जहाँ यह न पहुँच पाता हो? जब हम सोते हैं यह तब भी घूमता रहता है। इसे रोकना, वश में करना, सरल काम नहीं है। बड़े बड़े लोग इससे हार मान चुके हैं यह मतवाले हाथी से भी अधिक दुर्निग्रह है। अनेक उपायों से वश में किया हुआ भी यह किसी न किसी छिद्र से निकल भागता है। इसे जहाँ से रोको वहीं जाता है, जिसे करने के लिए मना करो उसी को यह करता है। विषयों में यह इतना लीन हो जाता है कि मान-अपमान तक का कोई ध्यान नहीं रहता। लज्जा को वासना पर बलि कर देता है। इसलिए मन पर विजय पाना बड़ी भारी सिद्धि प्राप्त करना है। ज्ञात नहीं, महापुरुषों ने अपने मुख से इस मन को कितना न कोसा होगा, जब कि उनकी लेखनी ने इसकी करतूतों को इतना व्यग्र होकर अंकित किया है।

तुलसीदास मन की शिकायत में कहते हैं: "यह मन अति चंचल है। कभी विश्राम नहीं लेता। सहजानंद को भूलकर दिन रात इन्द्रियों की खींच-तान में भ्रमण करता रहता है। विषयों के कारण उसे असह्य दुःख सहने पड़े हैं। कठिन जाल में फँसा रहा है, फिर भी वह उन्हें नहीं तजता। जानता हुआ भी अजान-सा रहता है। वह अनेक जन्मों से अनेक कर्म करता चला आ रहा है। उन्हीं के कीच में लिप्त हो रहा है। विवेक-जल के बिना उसकी शुद्धि संभव नहीं है" अतः दादू मन के मूँड़ने का आदेश करते हैं।[२] 'सब मल इस मन से ही उत्पन्न होते हैं और यही उन सबको नष्ट भी करता है। मन को निर्मल करने के लिए साधु-आचरण की आवश्यकता है'[३] कबीर मन की करामात की अभिव्यक्ति इन विस्मयसूचक शब्दों में करते हैं: "काया रूपी देवालय है, मन रूपी ध्वजा है जिसके लहराने का कारण विषय है। मन के

१—वि० प०, स्तु० ८८.   २—दा० बा०, पृ० ६, पं० १४-५

३—दा० बा० पृ० ८, पं० १३

चंचल होने से यह देवालय भी डगमगा कर विनाशोन्मुख हो जाता है।[१]" इसलिए वे "इस उन्मत्त मन को, इधर उधर दौड़ने की दशा में, हृदय में ही अंकुश से घेर घेर कर लौटा लाने को[२]" *मीराँ ने भी यही भाव व्यक्त किया है। कहते हैं। "मन के मरने पर ही आपा मिट सकता है और तभी मुक्ति संभव है।[३]" मन क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में मानों कबीर कहते हैं: "यह सब कुछ मन ही है। मन अति विलक्षण है। वही गोरख है और वही साक्षात् गोविंद है, वही साधन है और वही साध्य है।" "वह पानी से अधिक पतला, धुँए से अधिक क्षीण, और पवन से अधिक उतावला है[५]"

सूरदास इस हठी मन से हार कर माधव की शरण लेते हैं और पुकार करते हैं: "यह मन सदा देखता रहता है कि इस शरीर में दुःख ही दुःख है, इसका नाश अवश्यंभावी है, पर यह मोह में फँसा हुआ है। निरतर चारों ओर आतुर होकर घूमता रहता है। जिस प्रकार शुक भूल भूल कर सेंवल के फूल पर आता है, उसी प्रकार यह हठी बार बार जन्म-मरण और संयोग-वियोग में पड़ता है। उलूक की भाँति यह दिनकर रूपी आपको नहीं मानता है। अपनी आदत से लाचार है। हे कृपालु! मुझे अज्ञानजन्य पीड़ा से मुक्त कीजिए।[६] फिर एक अन्य पद में वे प्रभु के सामने मन की मूढ़ता की कलई खोलते हुए कहते हैं। "हे माधव, यह मन अति नीच है। मत्त गज के समान उन्मत्त रहता है और कुछ सोच-विचार नहीं करता। यह अज्ञान तिमिर में सुख मानकर मग्न होता चला जाता है, तेली के बैल की भाँति लोलुप है, पतंग की सी इसकी आसक्ति है और कपि की भाँति गुंजा रूपी विषयों का संग्रह करके दुःख-रूपी शीत का निवारण करना चाहता है।'[७]

"यदि यह मन विकारों को छोड़ दे तो फिर भेद-भाव से उत्पन्न सांसारिक दुःख, भ्रम और भारी शोक क्यों हो? शत्रु, मित्र, और उदासीन इन तीनों को मन ने ही हठ के कारण मान रक्खा है। उनके सम्बन्ध में अनेक कल्पनाएँ मन से ही उत्पन्न होती हैं, जैसे मणि में भोजन, वस्त्र, पशु, और अनेक प्रकार की वस्तुएँ रहती हैं, वैसे ही इस मन में स्वर्ग, नरक, जड़, चेतन और अनेक लोक सन्निहित रहते हैं। जैसे विटप में पुतली और सूत में वस्त्र,

१—क० ग्रं०, पृ० ३०, पं० १३-१४

२—का० ग्रं०, पृ० २६, पं० १६-२० *मीरां पदा०, पद १०६, पं० ६-७

३—क० ग्रं०, पृ० ७४.४ ४—क० ग्रं०, पृ० २६, पं० १

५—क० ग्रं०, पृ० २६, पं० ५-६ ६—सू० सा० पृ० ६ पं० २३-२६

७—सूरसागर पृ० ९-१०

अनिर्मित दशा में पहले से ही विद्यमान रहते हैं, उसी प्रकार इस मन में नाना शरीर पहले से ही विद्यमान रहते हैं जो अवसर पाकर प्रकट हो जाते हैं। राम की भक्ति के जल से परिशुद्ध हो जाने पर इस मन में अप्रयास ही विवेक उत्पन्न हो जाता है।[1]"

"मन की दो अवस्थाएं हैं एक शुद्ध और दूसरी अशुद्ध। जब वह सांसारिक भोगादि में लगा रहता है तब अशुद्ध होता है। जब वह जगत् के विषयों से मुड़कर दूसरी ओर लीन हो जाता है, तब प्रभु से मिलन कराता है, और सारी द्विविधा जल जाती है।[2]"

जहाँ तुलसी आदि सगुण कवि भक्ति में लीन होकर, अथवा भगवदनुग्रह से मन के शुद्ध होने की बात कहते हैं, वहाँ निर्गुण कवि योग साधना को भी मन के निग्रह करने का उपाय बतलाते हैं। सूफियों का 'फना' भी मनोनिग्रह का ही अन्य नाम है।

मन के सम्बन्ध में ऐसे विचार नए नहीं हैं। यजुर्वेद संहिता[3] में इसे सब क्रियाओं का कारण माना गया है और उसके 'शिव संकल्प' होने की कामना की गई है क्योंकि वह मनुष्यों को बिल्कुल उसी प्रकार लिए फिरता है जैसे चतुर सारथी बागडोर से वेग वाले घोड़ों को। वह हृदय में स्थित होकर सब को चलाता है और बड़ा ही वेगवाला है। गीता[4] में मन को दुर्निग्रह और चंचल माना गया है। उसे बन्धन और मोक्ष का कारण[5] कहा गया है। ब्रह्मबिन्दूपनिषत् (मंत्र १-४) में मन विषयक ये ही भाव प्रकट किये गये हैं। मैत्र्युपनिषत्[6] ने मन को देखने, सुनने, विचारने, श्रद्धा-अश्रद्धा, धृति, अधृति, लज्जा, भय आदि सब का मूल कारण माना है।

१—वि० प०, स्तु० १२४ ३—यजुर्वेद, अ० ३४, मं० १-६

२—प्रा० सं०, पृ० ३४, पं० ५-६ : तु० की० ब्रह्मबिन्दूपनिषत्, नं० १

४—गीता-असंशयं महाबाहो, मनो दुर्निग्रहं चलम्

५—गीता-मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयोः

६—मनसा ह्येव पश्यति, मनसा शृणोति कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव। देखिये Thirty-two u. p. p. 438

सप्तम अध्याय

योग-साधना

भारत में योग-शास्त्र की मान्यता प्राचीन काल से ही चली आ रही है। इसके प्रवर्तक पतंजलि ऋषि माने जाते हैं। उन्होंने योग को अष्टांग माना है। कालान्तर में योग का इतना प्रचार हो गया कि अनेक धर्मों और सम्प्रदायों ने इसे ग्रहण कर लिया। उनकी विशेषताओं के कारण मूल योग साधना का रूप परिवर्तित होता चला गया। कबीर आदि के योग का स्वरूप परिवर्तन के साँचे में ही ढला प्रतीत होता है।

योग साधना क्रियामूलक होने से वह गुरु-मुख से सीखने की वस्तु रही है। उसका अभ्यास पुस्तक-साध्य नहीं है। इसका प्रमाण अपढ़ लोगों में भी इसके प्रचार का रहना है। फिर भी योग-सिद्धान्तों के निरूपण के लिये अनेक ग्रंथों की रचना होती रही है। अनेक सिद्धान्तों का निरूपण जिस प्रकार संस्कृत साहित्य में मिलता है उसी प्रकार हिन्दी में भी। सिद्धान्तों में समता होने से हिन्दी में उनके संस्कृत से आने की ओर अनुमान दौड़ने लगता है, परन्तु निश्चित प्रमाण न होने से प्रभाव की सिद्धि संभव नहीं है। अतः संस्कृत और हिन्दी के बीच में योग की श्रृंखला को परंपरा की कड़ियों के अनुमान द्वारा सिद्ध करना अधिक सरल और समीचीन है।

योग की मान्यता सर्वसम्मत है। सगुणोपासक कवियों ने भी उसका विरोध नहीं किया। "भक्ति पंथ को जो अनुसरै, सो अष्टांग योग को करै"[1] कहकर सूरदास ने भक्ति में योग-साधना के सहयोग की स्थापना की है, परन्तु सूरसागर में योग-प्रकरण एक दो स्थलों पर ही मिलते हैं। उनमें स्पष्टतः भागवत का अनुकरण है। "सून्यो सहज में बसहिं मुरारी[2]" अथवा "षट्दल अष्ट द्वादशदल निर्मल अजपा जाप जपाली[3]" जैसी किसी प्रभाव विशेष से लिखी हुई बातें सूरसागर में और नहीं हैं। अन्य किसी भक्त ने योग के कायिक रूप पर ध्यान नहीं दिया। तुलसीदास ने साधना-रूप में योग की प्रशंसा की है, परन्तु न तो उन्होंने उसकी साध्यता स्वीकार की है और न अपनी किसी रचना में उसकी

१—सूरसागर, पृ० ४६, पं० ५　　२—सूरसागर, पृ० ७०६, पं० २४

३—सूरसागर, पृ० ६८६, पं० १२

विवेचना में घुसने का प्रयास ही किया है। तथ्य तो यह है कि भक्ति से निकल कर अन्यत्र भ्रमण करने का उन्होंने अवकाश ही ग्रहण नहीं किया। केशव[1] ने अपनी रचना की केवल एक दो पंक्तियों में पूरक, कुंभक, रेचकादि के साधने का उल्लेख किया है। शारीरिक क्रियाओं की सहायता से मन को निग्रहीत कैसे किया जाय, इस प्रश्न का उत्तर केवल निर्गुण कवियों ही का विषय रहा है, परन्तु विषय की गहराई में जितने संत-कवि गये हैं उतने सूफी नहीं गये।

कहा जाता है कि रामानंद, कबीर, नानक, दादू आदि सभी संत चौरासी सिद्धों (८००-११७५ ई०) की टकसाल के सिक्के थे। रामानंद की कवितायें दुर्लभ हैं, पर कबीर के संबंध से उनका समय निश्चित करने में विशेष आपत्ति नहीं होती। अनेक विद्वानों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि रामानंद और उनके शिष्य कबीर ने, चौदहवीं शताब्दी के अन्त और पन्द्रहवीं शताब्दी के आरंभ में, अपनी कवितायें कीं। "यदि बारहवीं शताब्दी के अंत से चौदहवीं शताब्दी के अंत तक कविताप्रवाह जोड़ा जा सके, तो सिद्ध और संत-कविता-प्रवाह के एक होने में आपत्ति नहीं हो सकती। यह जोड़ने वाली शृंखला नाथ-पंथ की कवितायें हैं। हम कबीर संबंधी कहावतों में गोरख और कबीर का विवाद अक्सर सुनते हैं। महाराज देवपाल (८०९-८४९ ई०) के समकालीन गोरखनाथ पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में कबीर से विवाद करने नहीं आ सकते। वस्तुतः वहाँ हमें गोरखनाथ की जगह उनके 'नाथ-पंथ' को लेना चाहिए। मुसलमानों के प्रहार और अपनी भीतरी निर्बलताओं के कारण बौद्ध-धर्म विलीन होने लगा। उससे शिक्षा ग्रहण कर आत्म-रक्षार्थ 'नाथ-पंथ' धीरे धीरे अनीश्वरवादी से ईश्वरवादी[2] हो गया। कबीर के समय वही एक ऐसा पन्थ था, जिसकी वाणियों और सत्संगों का प्रचार सर्वसाधारण में अधिक था। सुदूर प्रान्तों में फैली हुई 'नाथ पंथ' की गद्दियाँ नाथ पंथ के विशाल विस्तार को बतलाती हैं। यह विस्तार वस्तुतः उन्हें अपने चौरासी सिद्धों से, पैतृक संपत्ति के रूप में मिला था।[3]"

"नाथ-पंथ के चौरासी सिद्धों का उत्तराधिकारी सिद्ध हो जाने पर फिर कबीर से सम्बन्ध जोड़ने में दिक्कत नहीं रहती। कबीर स्वयं चौरासी सिद्धों को भूले न थे, तभी तो उन्होंने कहा है।

धरती अरु असमान बि, दोई तूंबड़ा अवध।
षट दर्शन ससे पड्या, अरु चौरासी सिध।

क० ग्रं०, पृ० ५४

१—रा० च० २५.२२.३१ २—देखिये, गो० प० पृ० ८ श्लोक ५
३—पु० त० निबंधावली: पृ० १६१

"यहाँ चौरासी सिद्धों से विरोध प्रकट करने से कबीर उनकी टकसाल के न थे ऐसा समझने की आवश्यकता नहीं। वस्तुतः कबीर आदि ने सिद्धों के ही निर्गुण, योग और विचित्र ढंग को अपना कर नाथ-वंश के राज्य पर धावा किया (चंदन की कुटकी भली, नाँ बबूर अमरांउँ। बैस्नों की छपरी भली ना साषत का बड़गाँव[1]) और शताब्दियों के संघर्ष के बाद वे विजयी हुए। यदि आप 'भक्तमाल' के भक्तों के व्यवसाय, कुल, रहन-सहन को मिलावें, तो यह विचार-सादृश्य भली भाँति प्रकट हो जायगा[2]।"

जिस योग की नाथ-पंथ में मान्यता रही है उसे 'हठयोग' का नाम दिया जाता है। उसी का प्रभाव संत और सूफी कविता में प्रतिबिंबित दीख पड़ता है। "कुछ लोगों का कहना है कि हठयोग के दो संप्रदाय हैं—एक प्राचीन जिसके प्रवर्तक मार्कण्डेय और दूसरा अर्वाचीन जिसके प्रवर्तक नाथ हैं[3]।" "मार्कंडेय के मत में योग को अष्टांग माना गया है,[4]" किन्तु "नाथों ने योग के अंगों में से यम-नियम निकाल दिये हैं और उसे षडंग बना दिया है[5]।" "यदि इस परंपरा का कोई ऐतिहासिक आधार है तो इसका अर्थ यह है कि नाथों ने प्राचीन मृतप्राय योग-विद्या को केवल नवजीवन दिया और यही मत अधिक उचित भी प्रतीत होता है[6]।"

"परन्तु प्रश्न होता है कि राजयोग के समृद्ध होते हुए भी हठयोग की क्या आवश्यकता थी? हठयोग अपनी उच्च और पूर्ण स्थिति में राजयोग की ही एक सीढ़ी है, इस बात को स्वयं सिद्धों ने स्वीकार किया है। पातंजलि योगदर्शन राजयोग के सिद्धान्तों पर ही आश्रित है। इसी प्रकार बौद्धों और जैनों की योग पद्धति भी राजयोग पर आश्रित है, यद्यपि इन सबमें सरल हठ क्रियाओं की उपयोगिता भी स्वीकार की गई है[7]।"

१—क० ग्रं०, पृ० ५२ २—पु० त० निबंधावली: पृ० १६४

३—देखिये, गोपीनाथ कविराज: "सम आस्पेक्ट्स आफ दी हिस्ट्री एंड डाक्ट्रिन्स आफ दी नाथाज, पृ० ३०

द्विधा हठः स्यादेकस्तु
गोरक्षादि सुसाधितः।
अन्यो मृकण्डपुत्राद्यैः
साधितो हठसंज्ञकः॥

४— " "

५—आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा। ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि वदन्ति षट्। गो० पं०, पृ० ८

६—देखिये, गोपीनाथ कविराजः "सम आस्पेक्ट्स आफ दी हिस्ट्री एंड डाक्ट्रिन्स आफ दी नाथाज," पृ० ३०

७— " " " "

हठयोगियों के विचार से राजयोग का अभ्यास साधारण व्यक्तियों के लिए, जिनका मन पर अधिकार नहीं है, बिल्कुल असभव है। सावधानी और समुचित रूप से मत्र-योग और ध्यानाभ्यास करने से ही राजयोग की पूर्णता सिद्ध होती है, किन्तु इनमें मन के स्थिरीकरण की आवश्यकता होने से साधारण मनुष्यों के वश की बात नहीं है। ऐसी परिस्थिति में हठयोग ही उपयोगी सिद्ध हो सकता है, क्योंकि इसमें उस मानसिक शक्ति की आवश्यकता नहीं जो दूसरे प्रकार के योगों में अनिवार्य है। यान्त्रिक ढग की शारीरिक क्रियाएँ इसका आधार होने से, यही एक मात्र वैज्ञानिक योग है। हठ का सार वायु विजय है[1]।

इस देश में यह बात बहुमान्य है कि बिन्दु (शुक्र), वायु (प्राण-वायु) और मन का परस्पर इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि एक के निरोध से अन्य दोनों का भी सहज ही में निरोध हो जाता है[2]। बिन्दु का निरोध सफल ब्रह्मचर्य के आचरण से ही मानकर, हठयोगी, "प्राण-निग्रह को मनोनिग्रह का साधन[3] बनाते हैं। मनोनिग्रह ही उनके प्रयास का लक्ष्य है, किन्तु प्राण-निग्रह (प्राणायाम) की सरलता के लिए वे कुछ अन्य अभ्यासों का भी उपयोग करते हैं, यथा, १. आसन, २. मुद्रा, और ३. नादानुसधान।

आसन का नियमित अभ्यास शरीर को हलका, स्वस्थ और स्थिर बनाने में बड़ा सहायक होता है। एक बार सिद्ध होने पर इन गुणों की मन में प्रतिक्रिया होती है। मुद्रा के अभ्यास से कुंडलिनी शक्ति, जिसके पथदर्शन के बिना आध्यात्मिक ज्ञान सम्भव नही है, जाग्रत हो जाती है। नादानुसधान के अभ्यास से मन की चचलता मिट कर स्थिरता आती है। "जब अनाहत नाद सुनाई देने लगता है तो मन शून्य में विलीन हो जाता है[4]।" मन के स्थैर्य की दशा

१—गो० प०, पृ० ५५, श्लोक ६०, ६१

२—"मनः स्थैर्ये स्थिरो वायुस्ततो बिन्दुः स्थिरो भवेत्" ह० यो० प्र० ४, २८

३—"लीन्हे सिधि साँसा मन मारा"
गुरू मछंदरनाथ संभारा। जा० ग्र०, पृ० ११६, पं० २
तु० की०: "पवनो लीयते यत्र मनस्तत्र विलीयते" ह० यो० प्र०, ४, २३
तथा "यतो मरुत्तत्र मनः" ह० यो० प्र०, ४, २४

४—गगन गरजि मन सुंनि समाना, बाजे अनहद तूरा। क० ग्रं०, पृ० ६०, पं० १८

तु० की० : बद्धं तु नादबंधेन मनः संत्यक्तचापलम्।
प्रयाति सुतरां स्थैर्यं छिन्नपक्षः खगो यथा।
ह० यो० प्र०, ४, ६२

में प्राण ब्रह्मरन्ध्र में लीन होकर शान्तावस्था समुत्पन्न कर देता है। ये सब क्रियाएँ अन्योन्याश्रय हैं।

नादाभ्यास समुन्नित रूप से तभी हो सकता है जब कि अन्तर्ध्वनि श्रवण-विषय बन जाय। "वस्तुत: यह ध्वनि उस समय सुनी जा सकती है जब वायु सुषुम्ना में प्रवेश करती है और इसकी अनेक शाखाएँ जो युगों से मलयुक्त चली आती हैं, शुद्ध हो जाती हैं[१]।" नाड़ियों की शुद्धि हो जाने पर तुरत ही अनाहत नाद सुनाई पड़ने लगता है। नाड़ी शोधन के लिए आसन और मुद्रा के अभ्यास की आवश्यकता होती है। इसके विपरीत, आसन-सिद्धि उस समय तक असम्भव है जब तक कि शरीर के स्थायित्व के विरोधी सूक्ष्म कारणों का विनाश न हो जाय। कुंडलिनी का जागरण, जोकि मुद्रादि अनेक क्रियाओं का मुख्य लक्ष्य है, वास्तव में आसनों की सफलता से सम्बद्ध है। इन सब यांत्रिक (Mechanical) चेष्टाओं का उद्देश्य उस दिव्य शक्ति को मुक्त और कृतिशील करना है, जो, मनुष्य के भीतर, भौतिक भार के नीचे सुषुप्त पड़ी रहती है। जब तक शक्ति का मार्ग बन्द (अवरुद्ध) रहता है वह आगे चल नहीं सकती। अतः उसके मार्ग की शुद्धि उक्त क्रियाओं से ही की जाती है।

शरीर की स्वस्थता और शुद्धता हठयोग का एक मुख्य उद्देश्य है। आसन, प्राणायाम, मुद्रा और नादानुसधान, हठयोग के ये चारों अंग इस शास्त्र के शारीरिक आधार की ओर संकेत करते हैं। आसनों का सनियम अभ्यास शरीर को रोगों से मुक्त कर, स्वास्थ्य और शक्ति को बनाये रखता है, और प्राणायाम से योगी लोग अपनी नाड़ियों का परिशोधन करते हैं।

साधारणतया यह माना जाता है कि पिंड और ब्रह्मांड में बहुत कुछ साम्य है। इस ज्ञान के सम्बन्ध में सब हठयोगी एकमत हैं। इस भाव-द्वारा हम ईसाइयों के इस विश्वास को, कि ईश्वर ने मनुष्य को अपना प्रतिरूप बनाया है, बड़ी अच्छी तरह समझ सकते हैं। 'जो पिंडे सो ब्रह्माडे'[२] से कबीर ने और 'जो बरम्हंड सो पिंड है[३]' से जायसी ने इसी मत की पुष्टि की है।

कहा जाता है कि मानव देह में अनेकों नाड़ियाँ[४] और नाड़ी-केन्द्र हैं। योग की भाषा में केन्द्रों को चक्र या कमल कहते हैं। "उनमें दैवी शक्ति क्रमशः

१—जब कुंभक भरि पुरि जीना।
तब बाजे अनहद बीना। क० ग्रं०, पृ० ३०८, पं० ५
तु० की० : ह० यो० प्र०, ४, ६८

२—क० ग्रं० पृ० १६६, ३२८ तु० की० : शिव सं० २, ५

३—जा० ग्रं० पृ० ३४६, पं० ६ ४—प्रा० सं०, पृ० ११, पं० २

बढ़ती हुई मात्रा में अन्तर्निहित है[१]।" "नाड़ियाँ प्राणवाहिनी नालियाँ हैं। ये शरीर में सहस्रों की संख्या में हैं। जैसे अश्वत्थ-पत्र में अनेक सूक्ष्म सूत्र होते हैं। उसी प्रकार शरीर नाड़ियों से व्याप्त है[२]।" भूतशुद्धि तंत्र बहत्तर सहस्र, प्रपंचसार तंत्र तीन लाख, और शिवसंहिता तीन लाख पचास हजार नाड़ियाँ बतलाता है। इनकी संख्या कुछ भी हो, इनमें से थोड़ी सी ही योग दृष्टि से उपयोगी हैं।

मन की शुद्धि अधिकांशतः शरीर की शुद्धि पर निर्भर होने से हठ साधना का प्रथम उद्देश्य शरीर और उसकी नाड़ियों का शोधन है। नाड़ियों की अशुद्धि जिस प्रकार कुंडलिनी शक्ति के ऊर्ध्वगमन को रोकती है, उसी प्रकार उनकी शुद्धि उसकी सहायक बनती है। नाड़ीशोधन प्राणायाम द्वारा संपन्न किया जाता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि योगियों ने नाड़ियों की संख्या के सम्बन्ध में अपने ढंग से विवेचना की है। नानक ने नौ सौ में से नौ नाड़ियों को प्रमुख माना है[३]। पर इडा, पिंगला और सुषुम्ना इन तीन नाड़ियों की उपयोगिता को सभी ने स्वीकार किया है। इडा को चन्द्रा और पिंगला को सूर्या नाड़ी भी कहते हैं। इन्हीं से हम श्वास लेते हैं[४]। ये दोनों नाड़ियाँ काल सूचक हैं और सुषुम्ना काल का भक्षण[५] करती है। इडा पिंगला जब तक सुषुम्ना में प्रवेश नहीं करती हैं तब तक वायु ब्रह्मरंध्र[६] में नहीं पहुँचता। अतः सिद्धि प्राप्त करने के लिये चन्द्र सूर्य को एकत्रित[७] करने की (सुषुम्ना में वायु प्रवेश करने की) बात कही जाती है।

उक्त "तीनों नाड़ियों को क्रमशः गंगा, यमुना और सरस्वती भी कहते हैं[८]।" मूलाधार इन तीनों का संगम स्थल है, अतः उसे युक्त त्रिवेणी कहते हैं। आधार कमल के ऊपर इडा और पिंगला दाएँ से बाएँ और बाएँ से दाएँ ओर को बदलती हुई, कमलों का चक्कर लगाती हुई, जाती हैं। जब वे भ्रकुटि-मध्य में स्थित आज्ञाचक्र में पहुँचती हैं तो उनका प्रवेश सुषुम्ना में होता है (बटी हुई

१—आर्थर एवेलनः दी सर्पेंट पावर पृ० १२६-३०

२—शांडिल्य उप०, खं० १

३—प्रा० सं०, पृ० १४ तथा प्रा० सं०, पृ० ११, पं० २

४—चाँद सुरज दूनों सुर चलहीं जा० ग्रं०, पृ० ३५०, पं० १

५—ह० यो० प्र०, ४.१७

६—"नित गढ़ बचि चलै ससि सूरू" जा० ग्रं०, पृ० १८, पं० २१

७—"चन्द सूर एकंतरि कीया" क० ग्रं०, पृ० १६०, पं० १

८—शिव सं० ५.१७४

रस्सी की सी गाँठ बन जाती है), उसे मुक्त त्रिवेणी कहते हैं। आज्ञा-चक्र को मुक्त त्रिवेणी इसलिये कहा जाता है कि तीनों नदियाँ (नाड़ियाँ) जो इस स्थल पर फिर मिल जाती हैं, यही से अलग अलग बहने लगती हैं। हिन्दी कविता के योग प्रवाह में केवल यही स्थल 'त्रिवेणी[1]' नाम से विख्यात है। यहाँ पहुँचकर मन पवित्र[2] हो जाता है।

आज्ञा चक्र से गुजरने पर इडा को 'वरणा' और पिंगला को 'असी' कहते हैं, और चक्र को 'वाराणसी' अथवा 'काशी' कहा जाता है[3]। कबीर "काया में इसी काशी को खोजने का उपदेश देते हैं। यहीं तो ज्योतिः स्वरूप 'ब्रह्म' का प्रकाश हो रहा है।"[4]

जिस प्रकार तीन नाड़ियाँ अति प्रसिद्ध हैं, वैसे ही षट्चक्र प्रसिद्ध हैं। वे सुषुम्नामार्ग पर स्थित हैं। पहला चक्र मूलाधार कहलाता है क्योंकि वह सुषुम्ना का मूल है। वहाँ कुंडलिनी का निवास है। गुद द्वार में इसकी अधोमुख स्थिति है। इसे चतुर्दलकमल कहते हैं। दूसरा स्वाधिष्ठान चक्र लिंग मूल में है। यह ऊर्ध्वमुख है और षट्दल कमल कहलाता है। तीसरा ऊर्ध्वमुख मणिपूर चक्र नाभि मूल में है। यह दश दल है। चौथा अनाहत चक्र हृदय में है। यह ऊर्ध्वमुख द्वादशदल कमल है। पाँचवाँ विशुद्ध चक्र कंठ स्थान में है। यह ऊर्ध्वमुख और षोडशदल कमल है। छठा भ्रूमध्य में आज्ञा चक्र है। यह ऊर्ध्वमुख द्विदल कमल है। इसके ऊपर ब्रह्मरंध्र में सहस्रदल कमल या सहस्रार चक्र है। यह सातवाँ चक्र है। इसे निर्गुण साहित्य में 'भंवर गुफा,' 'शून्य,' 'औंधा कुआ' आदि संज्ञायें भी दी गई हैं। इन चक्रों के भिन्न-भिन्न वर्णों और देवताओं की कल्पना भी की गई है, किन्तु हिन्दी के कवियों ने इस प्रकार की भिन्नता को अक्षरशः[5] स्वीकार नहीं किया है। जायसी ने सात चक्रों के संबंध से इस शरीर में सप्त खंड की कल्पना की है और सातों खंडों को क्रमशः शनि खंड, बृहस्पति खंड, मंगल खंड आदित्य खंड, शुक्र खंड, बुद्ध खंड और (सातवाँ कपाल में) सोम खंड नाम दिया है[6]।

सभी हठयोगी हिन्दी कवियों ने चक्रों की स्थिति को स्वीकार किया है, किन्तु

१—"त्रिकुटी संधि त्रिवेणी रहता" प्रा० सं०, पृ० ११२, पं० १

२—"त्रिवेणी बिभूति करै मन मजन" क० ग्रं०, पृ० १५८, पं० ७

३—इडा हि पिंगला ख्याता वरणासीति होच्यते।
वाराणसी तयोर्मध्ये विश्वनाथोऽत्र भाषितः शि० सं०, ५.१३३

४—क० ग्रं० पृ० २१३, पं० १८

५—देखिये, क० ग्रं०, पृ० ८८ तथा प्रा० सं०, पृ० ६२-६३

६—जा० ग्रं० पृ० ३५६-५७
हि० सा० सं० प्र०—१७

उनके नाम के सम्बन्ध में कुछ मतभेद है। यहाँ अनाहत चक्र की विशेषता ध्या
में रखनी है क्योंकि "अनाहत शब्द" जिसके विषय में हठयोगी बड़े सतर्क
यही होता है[१]। यह शब्द किन्ही दो पदार्थों के टकराने के विना ही उत्पन्न हो
के कारण अनाहत (unstruck) कहलाता है। यही शब्द ब्रह्म की ध्वनि
जो प्राणरूप है। पुरुष (जीवात्मा) का निवास अनाहत चक्र में होने के कारण भ
इसका बड़ा महत्व है। डाक्टर बड़थ्वाल[२] ने हृदय चक्र और अनाहत चक्र
को एक ही माना है, पर "सर्पेंट पावर[३]" के लेखक, आर्थर एवेलन हृदय चक्र
की स्थिति अनाहत के नीचे मानते हैं। हृदय चक्र अष्टदल कमल है, परन्तु
अनाहत चक्र द्वादश दल है। इससे स्पष्ट है कि अनाहत और हृदय चक्र के
सम्बन्ध में उक्त दोनों विद्वानों में मतभेद है। हृदय चक्र (अष्टदल कमल) और
अनाहत चक्र (द्वादशदल कमल) एक ही चक्र के दो नाम नहीं दीख पड़ते,
जैसा कि डा० बड़थ्वाल का विचार है और न दो चक्रों की स्थिति एक ही स्थान
में उचित प्रतीत होती है। उक्त चक्रों का जिक्र कबीर ने भी किया है। "अष्टदल
कमल में श्रीरंग केलि करते हैं[४]" और "द्वादशदल कमल के भीतर श्रीकमलाकांत
विश्राम कर रहे हैं[५]।" इन दोनों चक्रों की स्थिति को कबीर ने स्पष्ट नहीं
किया है।

मूलाधार में कुंडलिनी सुषुप्तावस्था में पड़ी है और सहस्रार में अनन्त पुरुष
का, जिसको परम शिव भी कहते हैं, निवास है। कुंडलिनी के सुषुप्त होने की
दशा में बाह्य सृष्टि चलती रहती है। "मुद्रादिक के अभ्यास से वह जाग्रत हो
जाती है[६]" "पवन के उलटने (सुषुम्ना में प्रवेश करने) पर षट् चक्रों का भेदन
हो जाता है[७]" और "वायु विंदु के साथ गगन में जा पहुँचती है[८]"। इसी को
"शिव-शक्ति समागम या रवि शशि मिलन[९]" भी कहते हैं। इस अवस्था में
मोह-पिपासा नष्ट हो जाती है और बाह्य सृष्टि का पुरुष में लय हो जाता है।

१—देखिये, विश्वेश्वर तंत्र, प्राणतोषिनी, पृ० १४ पर उद्धृत

२—देखिये, बड़थ्वालः "दी निर्गुण स्कूल आफ हिन्दी पोएट्री" पृ० १३४

३—आर्थर एवेलनः "दी सर्पेंट पावर" पृ० १३६

४—क० ग्रं० पृ० ८८, पं० ५ ५—क० ग्रं०, पृ० २६६, पं० ११

६—ह० यो० प्र०, ३.५

७—क० ग्रं०, पृ० ६१, पं० १ तथा पृ० ६०, पं० १७

८—क० ग्रं०, पृ० १६८, पं० ७ : तु० की०, गो० प०, पृ० २४, श्लोक ४६.

९—क० ग्रं०, पृ० १३, पं० ६ : तु० की, प० ३५, श्लोक ७३

सहस्रार में स्थित चन्द्र से अमृत स्रवित होता रहता है। इसी को कबीर ने "निर्झर झरै[१]" कहा है। वह अमृत सर्वसुलभ नहीं है। सामान्य व्यक्तियों को उसका ज्ञान नहीं होता। "वह इडा नाड़ी से बहकर मूलाधार में स्थित सूर्य में पहुँचकर भस्म होता रहता है। इसीलिए इस देह को जरा ग्रस लेती है[२]"। जो योगी उसका रहस्य जानते हैं "वे ही गंगा को उलट कर सुषुम्ना में वायु प्रवेश करके अमृत धार का आस्वादन करते हैं[३]"। "यह अमृत उन्हें भंवर गुफा के घाट पर मिलता है जहाँ वे जन्म-मृत्यु से मुक्त हो जाते हैं[४]।"

कुंडलिनी के जागरण और चक्र-भेदन के लिए प्राणायाम की बड़ी उपयोगिता है। प्राणायाम के निरन्तर अभ्यास से कुंडलिनी शक्ति, जो मूलाधार[५] में निष्क्रिय पड़ी रहती है, जग जाती है। वह अनेक चक्रों का भेदन करती हुई और उनमें बँधी हुई शक्ति को मुक्त करती हुई, ऊपर चढ़ती है। चक्र-भेदन के साथ-साथ साधक को उच्चतर अनुभूति होती जाती है और अपूर्व शक्ति से परिचय होता चला जाता है। जब त्रिकुटि का आज्ञा चक्र प्रभावित होने लगता है तभी से यथार्थ आध्यात्मिक जीवन प्रारम्भ होता है। कुंडलिनी के ब्रह्मरंध्र में पहुँचने पर मन बहिर्मुख से अन्तर्मुख होकर बिल्कुल शान्त हो जाता है।

कहते हैं कि "मन साँस के साथ बँधकर दशम द्वार (ब्रह्मरंध्र) में पहुँचता है और साँस के मरने पर वह विलीन हो जाता है[६]।" हठयोगी प्राण और मन को अन्योन्याश्रय मानते हैं। "जो प्राण-निग्रह कर लेता है उसका मनोनिग्रह हो जाता है और जो मनोनिग्रह कर लेता है, उसका प्राण निग्रहीत हो जाता है[७]।" देखना यह है कि प्राण और मन का यह सम्बन्ध बनता कैसे है ? जायसी कहते हैं: "शरीर रूपी तुरंग पर मन का शासन है और मन के शिर पर प्राण है। प्राण ही मन के फँसाने के लिए नाद (अनाहत) रूपी पाश तैयार करता है[८]।"

"प्राणायाम के अभ्यास से अनाहतचक्र में वर्तमान ब्रह्मग्रंथि का भेदन होने पर हृदयाकाश में विचित्र क्वणक सुन पड़ता है, उसे अनाहतनाद कहते

१—क० ग्रं०, पृ ८८, पं० १० २—ह० यो० प्र०, ३ ७७

३—क० ग्रं०, पृ० १११, पं० १३ ४—क० ग्रं०, पृ० ८८, पं० ८-१०

५—लययोगसंहिता तंत्र : 'आधारपद्मे प्रकृतिः सुप्ता कुंडलिनी स्थिता' निर्गुण स्कूल आफ हिन्दी पोएट्री बाई डा० बड़थ्वाल में पृ० १३७ पर उद्धृत.

६—जा० ग्र०, पृ० १०५, पं० १६-२१ : तु० की०, ह० यो० प्र०, ४.२३

७—ह० यो० प्र०, ४.२१

८—जा० ग्रं०, पृ० ३५२ : तु० की०. ह० यो० प्र०. ४.२६

हैं। नाद की यह पहली अवस्था है। जब कंठ में वर्तमान विष्णुग्रंथि का भेदन होता है तो अतिशून्य में (कंठावकाश में) भेरी नाद के समान अनेक नादों का संमर्द सुनाई पड़ने लगता है। नाद की यह घटावस्था है। जब महाशून्य (भूमध्याकाश) में शब्द सुनाई पड़ता है तब नाद की परिचयावस्था होती है। जब अनिल रुद्र-ग्रंथि का भेदन करके शर्वपीठ (परम शून्य अथवा ब्रह्मरन्ध्र) में पहुँचता है उस समय वीणा का सा शब्द होता है। इसे निष्पत्ति अवस्था कहते हैं।[१]"

"कुंभक के सफल प्रयोग (अभ्यास) से अनाहत शब्द सुनाई देने लगता है,[२]" इस बात को कबीर भी मानते हैं। "अनाहत शब्द परम आकर्षक होता है।[३]" "जब वह परम शून्य में सुनाई पड़ने लगता है तो मन शून्य में विलीन हो जाता है।[४]" "उस समय जाति, वर्ण आदि के सब भेद-भाव मिट जाते हैं[५]।" "सहजावस्था की प्रपत्ति से भीतर-बाहर समरसत्व आ जाता है और अन्तर विलीन हो जाता है। जैसे सरोवर में पड़े हुए घड़े के भीतर और बाहर जल ही जल होता है। उसमें कोई अन्तर नहीं होता, उसी प्रकार इस अवस्था में भीतर और बाहर आत्मस्थिति के अतिरिक्त कोई और प्रतीति नहीं होती। सब अन्तर मिट जाता है।[६]" "जिस प्रकार जल में लवण-कण विलीन होकर तदाकार हो जाता है उसी प्रकार मन विलीन होकर आत्माकार हो जाता है।[७]" कबीर आदि इसी अवस्था को उन्मनी, मनोन्मनी या सहज कहते हैं। राजयोग, समाधि, अमरत्व, शून्याशून्य, परमपद, अमनस्क, निरालंब, निरंजन, जीवन्मुक्ति और तुरिया इसी के पर्यायी शब्द हैं।[८]

आसन चौरासी बतलाये जाते हैं, परन्तु योगी उन सबको नहीं अपनाते। प्रायः पद्मासन और वज्रासन[९]" की ही प्रशंसा की गई है। नानक[१०] पद्मासन पर बैठने का ही उपदेश देते हैं। अन्य कवियों ने भी अनेक आसनों के पीछे भटकने की अभिलाषा प्रकट नहीं की।

१—देखिये, ह० यो० प्र०, ४. ६६-७६ २—क० ग्रं०, पृ० ३०८, पं० ५

३—रै० बा०, पृ० २७, पं० २ ४—क० ग्रं०, पृ० ६०, पं० १८

५—म० बा०, पृ० ४, पं० २२

६—क० ग्रं०, पृ० १०३, पद ४४ : तु० की० ह० यो० प्र० ४-५६

७—क० ग्रं, पृ० १३, दो० १६ : तु० की० गो० प०, पृ० ६०, श्लोक ८६

८—देखिये, ह० यो० प्र०, ४० ३-४ ९—देखिये, गो० प०, पृ० ६, श्लो० १०

१०—"पदमासन करि बैठहु मीता" प्रा० सं०, ११, पं० १३

निर्गुण कविता के योग प्रवाह में अनेक बातें परंपरा के अनुरूप ले ली गई हैं और अनेक परिवर्तित कर दी गई हैं। निर्गुणमत में सुरति-शब्द-योग का बहुत प्रचलन रहा है। इसे सन्त कवियों का आविष्कार तो नहीं कह सकते, पर, हाँ, प्रधानता इसे संत मत में ही मिली है। 'सुरति' या 'सुरत' की उत्पत्ति 'स्रोत' से मानकर कुछ विद्वान् उसका अर्थ 'मन का प्रवाह'[1], बतलाते हैं। शब्द को सुरति का आश्रय बतलाया गया है। "शब्द आकाश का गुण है। जब तक शब्द सुनाई पडता है तब तक आकाश की कल्पना रहती है! मन के साथ शब्द के विलीन हो जाने पर निःशब्द परंब्रह्म को ही परमात्मा कहते हैं।"[2] जब तक योगी का मन शब्द से लगा रहता है तब तक सुरति अवस्था रहती है, शब्द के साथ मन के विलय की अवस्था 'निरति' कहलाती है। गुरु द्वारा शब्द मार्ग पर लगाई हुई सुरति निरति में विलीन हो जाती है। यही वह निराधार शून्यावस्था है जिसे पतंजलि ने असंप्रज्ञात समाधि कहा है। नादबिन्दूपनिषद् मंत्र ३०, ३८, ४१, ४५ में शब्द-योग का विस्तारपूर्वक निरूपण किया गया है जिसका अभिप्राय संतों के सुरति-शब्द-योग का सा ही दीख पड़ता है।

डाक्टर पी० डी० बड़थ्वाल 'सुरति' की व्युत्पत्ति 'स्मृति'[3] से मानते हैं। उनका कहना है कि सुरति दिव्य स्मृति का दूसरा नाम है जिसे व्यक्ति अपने साथ लाता है। वह शिशु में सद्य होती है और आयु के साथ शनैः शनैः क्षीण होती चली जाती है, किन्तु सत्संग द्वारा उस पर जमा हुआ मल हट जाता है और निखर कर (निर्मल होकर) प्रबल हो जाती है।[4]

'सुरति' की व्युत्पत्ति किसी प्रकार मानी जाय, उसके अंतिम रूप के सम्बन्ध में दोनों मत अभिन्न हैं। 'स्रोत' और 'स्मृति' दोनों अर्थों में 'सुरति' का सम्बन्ध मन से ठहरता है। 'सुरति' मन को लेकर चलती है। शनैः शनैः सुरति मन से अपना सम्बन्ध बढ़ाती रहती है। सम्बन्ध की एक वह अवस्था आती है जब सुरति और मन अभिन्न हो जाते हैं। "सुरति में शब्द और मन स्थिर हो

१—देखिये, कल्याण साधनांक पृ० ३८०

२—ह० यो० प्र० ४·१०१

३—छान्दोग्य उपनिषद् ने स्मृति स्मरण को आकाश से उत्कृष्ट माना है। स्मृति का अभाव होने पर आकाशादि की सत्ता का ज्ञान भी नहीं हो सकता: देखिये, छां० उप०, शांकरभाष्य, पृ० ७३७-३८

४—डाक्टर पी० डी० बडथ्वाल: "निर्गुण स्कूल आफ हिन्दी पोएट्री" पृ० १०६, १०७

जाता है[१] ।" "सुरति आनन्द रूपी सुधा की प्यास है[२] ।" "सुरति का काम समाप्त होने पर आनन्द की अवाप्ति और अमरत्व की प्राप्ति हो जाती है[३] ।" कबीर इसी को "सुरति का निरति में समाना" कहते हैं। यही "निराधार निरति (समाधि, लय) अवस्था" है[४] ।

'अजपा' जप-सम्बन्धी एक साधना है। सत कवियों ने इसे गोरख-पंथ से लिया है। मन की एकाग्रता और प्राणायाम की साधना 'अजपा' जप की प्रथम सीढ़ी है। गोरक्ष पद्धति[५] में 'अजपा' को एक प्रकार की गायत्री कहा गया है। इसके समान दूसरा 'जप' नहीं है। जीव के श्वास के साथ यह जप चलता रहता है। निर्गुण मत में 'अजपा' का रूप कुछ परिवर्तित मिलता है। यहाँ वह नाम या शब्द (ओ३म्) के जप की अन्तिम सीढ़ी है। कबीर ने "अजपा के साथ उन्मनी मुद्रा[६]" का सम्बन्ध स्थिर किया है। धर्मदास के शब्दों में "अजपा 'सोऽहं' का जप है। इसमें न कर हिलता है और न जीभ चलती है। प्राण और मन का निग्रह इस जप की अनिवार्य दशा है[७] ।" मलूकदास के शब्दों में "सुमिरन या जप ऐसा होना चाहिए कि उसे कोई दूसरा न देख सके, यहाँ तक कि होंठ भी न हिलने पाएँ, साथ ही प्रेम को गुप्त रक्खा जाय। राम के जप के लिए न माला की आवश्यकता है, न हाथ की और न जीभ की। उनके जप की निष्पत्ति तो हरि-द्वारा होती रहती है, और वे स्वयं विश्राम करते हैं[८] ।" इसी प्रकार कबीर भी "कर की माला को छोड़कर मन की माला[९]" फेरने को कहते हैं। उनका कहना है :—"ध्यानपूर्वक 'नाम सुमिरन' करते रहो, मुख से कुछ न बोलो। बहिर्मुखता छोड़कर अन्तर्मुख हो जाओ[१०] ।" निस्सन्देह "मन के मस्त होने पर (निमग्न होने पर) मुख से बोलने का अवकाश ही कहाँ रहता है[११] ?" दादू कहते हैं :— "स्मरण के स्वाभाविक होने पर, मन एकाग्र हो जाता है और मुख से कुछ न बोलने पर भी 'हरिजाप' भीतर ही भीतर चलता रहता है[१२] ।" "अजपा जपत

१—प्रा० स०, पृ० ५, पं० ५ २—क० ग्रं०, पृ० २७६, पं० १२

३—क० ग्रं०५, पृ० ६०, पं० २० ४—क० ग्रं०, पृ० १४, प० ६

५—गो० पं०, पृ० २२-२३, श्लो० ४२-४५

६—"अजपा जाप उनमनी तारी" क० ग्रं०, पृ० १५८, पं० ५

७—ध० दा० श०, पृ० ५७·२ ८—म० बा०, पृ० ३६, पं० ६-१२

९—"करका मनका छांड़ के, मन का मनका फेर०" कबीर

१०—कबीर : सं० बा० स०, पृ० ६

११—कबीर : सं० बा० सं०, II, पृ० १७.

१२—दादू : सं० बा० सं०, I, पृ० ४४.

सुंनि अभि अन्तर[१]" कह कर कबीर भी 'शून्य' और 'अजपा' का साहचर्य घोषित करते हैं।

शब्द का इतिहास बहुत प्राचीन है। भिन्न-भिन्न मतों में इसका भिन्न-भिन्न अर्थ लिया गया है। वेदों में शब्द 'शब्द-ब्रह्म' का वाचक है। उपनिषदों में 'शब्द-ब्रह्म' ओ३म्कार[२] के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। कठोपनिषद् का कहना है कि "यह अक्षर ही ब्रह्म है, यह अक्षर ही पर है, इस अक्षर को ही जानकर जो जिसकी इच्छा करता है, वही उसका हो जाता है[३]।" निर्गुणमत में शब्द का प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थों में किया गया है। वह कहीं 'ओंकार' का वाचक है, कहीं अनाहत (अनहद) का और कहीं गुरु के उपदेश या शब्द का। प्राण संगली (पृ० १-२) में 'ओंकार' का विशद वर्णन करते हुए गुरु नानक कहते हैं :—"दृश्य और अदृश्य जगत् में ऐसा कुछ भी नहीं जिसका वाचकत्व 'ओ३म् द्वारा न होता हो[४]।" उनके शब्दों में वह "पिता-रूप" है। दादू "शब्द को गुरु-द्वारा दिया हुआ ज्ञान" बतलाते हैं। "वह सत्य मात्र है जो उन्हें उस सहजावस्था में ले पहुँचता है जिसमें प्रियतम का निवास है[७]।" वे मन को शब्द में लगाने का आदेश करते हैं। "सहजावस्था में विलीन करने का एकमात्र साधन शब्द ही है[८]।" "शब्द ही बन्धन है, शब्द ही मुक्ति है, शब्द ही सृष्टि है और शब्द ही प्रलय है[९]।" "शब्द निरालम्ब और ज्योतिःस्वरूप है तथा आदि अन्त की सीमा से परे है[१०]।" "शब्द सुनाई पड़ता है, दीखता नहीं है. बिना देखे परिचय नही होता। संसार में (जगत् में) शब्द को सुनते सब हैं, परन्तु देखता बिरला ही है। जब सूक्ष्म स्थूल को खालेता है उस समय शब्द का साक्षात्कार हो जाता है[११]।" नानक ने "अनाहत शब्द और गुरु वाणी को एक ही[१२]" पद दिया है। प्राण[१३] संगली में शब्द का आशय 'अनाहत शब्द', 'सोऽहं शब्द', 'ओंकार शब्द और 'गुरु-शब्द' लिया गया है।

१—क० ग्रं०, पृ० १५६, पं० ११

२—देखिये, बृ० उप०, ५·११ तथा शांकर भाष्य, पृ० ११७८, तथा प्र० उप०, ५·२

३—दादू: सं० बा० सं०, I, पृ० ४४

४—प्रा० सं०, पृ० १, प० ५ : तु० की० मा० उप०, १·१

५—प्रा० सं०, पृ० ३, पं० ११

६—दा० बा० ३·८

७—दा० बा० ३६

८—दा० बा०, पृ० ३, पं० ८-११

९—दा० बा०, पृ० २३, पं० ५-६

१०—प्रा० सं०, पृ० १४०, पं० ७

११—प्रा० सं०, पृ० १७, पं० ६-८

१२—प्रा० सं०, पृ० ७६, पं० ८

१३—प्रा० सं०, पृ० ८७

शब्द से भी अधिक अर्थों में होकर शून्य को निकलना पड़ा है। हम इसे सबसे पहले ऋग्वेद में देखते हैं जहाँ ऋषि सृष्टि से पूर्व की दशा का वर्णन इन शब्दों में करते हैं "उस समय न तो सत् था, न असत् था[१]।" "उस समय न मृत्यु थी न अमरता[२]।" "उस समय उसके सिवा और कोई न था[३]।" "कौन जान सकता है, कौन कह सकता है कि यह अद्भुत सृष्टि कहाँ से आई, किससे उत्पन्न हुई !"[४]

उपनिषदों[५] में आत्मा की व्याख्या से भी शून्येतर अर्थ की प्रतीति नहीं होती। ऋषियों ने ब्रह्म के वर्णन के लिए, वैसा कुछ न पाकर, चिन्तित होकर 'ऋण-मार्ग'[६] का ही आश्रय लिया है।

धीरे धीरे 'नेति नेतिवाद' ने ऋण-पक्ष (negative side) को छोड़कर धन-पक्ष (positive side) में 'निर्वाण' का अर्थ ग्रहण कर लिया। माध्यमिक आचार्यों ने शून्य को इतना अपनाया कि अपने मतवाद को 'शून्य वाद' नाम दे दिया। "यह शून्य 'अभाव' से नितान्त भिन्न है। यह एक अनिर्वचनीय परम तत्व का सूचक है[७]।" "बौद्ध दर्शन में अनिर्वचनीय शब्द का प्रयोग चतुष्कोटि (अस्ति, नास्ति, तदुभयं तथा नोभयं)—विमुक्त तत्व के लिए है।" माध्यमिक आचार्यों ने "इस समस्त नानात्मक प्रपंच को इसी शून्य का विवर्त माना है[८]।" "परम तत्व की ही सत्यता सर्वतोभावेन माननीय है, परन्तु उसका स्वरूप इतना अकथनीय, अज्ञेय है कि हम यह नहीं कह सकते हैं कि वह सत् है, या असत् है, या इन दोनों को सवलित करने वाला सत्-असत् दोनों हैं, या दोनों में से कोई भी नहीं है। इसकी सूचना देने के लिए 'शून्य' का व्यवहार इस दर्शन में किया गया है[१०]।"

तंत्र साहित्य में शून्य का प्रयोग कुछ भिन्न अर्थ में किया गया है। गायत्री तंत्र के अनुसार "न्यास या प्राणायाम के बिना भी सर्वशुद्धि शून्योपासना से

१—ऋग्वेद, १२९·१ २—ऋग्वेद, १२९·२
३—ऋग्वेद, १२९·१ ४—ऋग्वेद १२९·६
५—देखिये, बृ० उप० ४.४.२२ तथा के० उप० १·३
६—देखिये, बृ० उप०, ४·४·२२ 'स एव नेति नेति।'
७—बलदेव उपा०, भा० द०, पृ० २१९-२०
८—बलदेव उपा०, भा० द०, पृ० २१९
९—बलदेव उपा०, भा० द०, पृ० २२०
१०—बलदेव उपा०, भा० द०, पृ० २२०

ही हो जाती है,[१]" कामधेनु तंत्र पुष्टि करता है कि "शून्य ज्ञान सर्वशून्यपर है, वह परम शून्य है, वह निष्कलंक, निरसत्य, एवं शुद्ध है। उसका प्रकाश कोटि सूर्य के प्रकाश के समान है,[२]" "साधक को उस शून्य का जप करना चाहिए जो हृदयाकाश में प्रकाश कर रहा है[३]"। "ज्ञानसंकलिनी तंत्र का कहना है कि "परमात्मा शून्य है, उसमें मन का निलय हो जाता है[४]"। "शून्य तत्त्व प्राण है[५]"। "मन को शून्य में लगाना ही ध्यान है। अन्य कोई ध्यान उपयुक्त नहीं है[६]"। इस प्रकार तंत्रों में शून्य को सर्वबोध (ज्ञान) निधि बना दिया गया है। परमेश्वर महादेव इसी की पुष्टि करते हुए कहते हैं: "मैं रुद्र हूँ, शून्य हूँ, तथा सर्वव्याप्त और निरूपाधि हूँ[७]"

निर्गुण कवियों ने 'शून्य' को सब अर्थों में अपनी विशेषता के पुट के साथ स्वीकार किया है। यहाँ तक कि उनके सहज, समरस, एकरस आदि के सिद्धान्त में भी 'शून्य' की कल्पना मिल गई है।

कबीर को शून्य के केवल निषेध-पक्ष से संतोष नहीं दीख पड़ता, इसी से वे पुकार उठते है "निरंजन, आपका निवास कहाँ है? वहाँ कुछ है अथवा केवल 'शून्य' है ?[८]" क्या 'शून्य' में प्रेम को निहित किया जा सकता है ? इसके उत्तर में कबीर कहते हैं: "जो राम को भूलकर अपना प्रेम 'शून्य' में निहित कर देता है, वह अपने को खो बैठता है।"[९] हमारे शरीर में 'अनहद' बाजा बजता रहता है, पहले घन-गर्जना आदि शब्द सुन पड़ते हैं, फिर क्रमशः शब्द के सूक्ष्म होते-होते मन 'शून्य' में समा जाता है।[१०]" "शून्य'-मंडल में 'मंदला' बजता रहता है"[११] "हमारे उर में ही गंगा यमुना है, और उर में ही सहज 'शून्य' या लय घाट है, जहाँ से उन्हें पार किया जा सकता है, काल का अतिक्रमण हो सकता है।[१२]" "सहज 'शून्य' एक ऐसा वृक्ष है जिसमें विश्व व्याप्त है[१३]।" "'शून्य' अनंत है, वह सब सीमाओं से परे है"[१४]। "यह 'शून्य'-मंडल रिक्त नहीं है, यहाँ तो एक पुरुष का निवास है।[१५]" "वह परम

१—गायत्री तंत्र, परिच्छेद १
२—कामधेनु तंत्र, पटल ११
३—कामधेनु तंत्र, पटल २१
४—ज्ञान संकलिनी तंत्र, ३३
५—ज्ञानसंकलिनी तंत्र, ३४
६—ज्ञान संकलिनी तंत्र, ५४
७—ज्ञानसंकलिनी तंत्र, ८५
८—क० ग्रं० पृ० १४३, पद १६४
९—क० ग्रं०, पृ० २३९, पं० २६
१०—क० ग्रं०, पृ० ९०, पद ७
११—क० ग्रं०, पृ० ११०, पं० २१
१२—क० ग्रं०, पृ० १८, लै अंग ३
१३—क० ग्रं०, पृ० २९६, पं० ९
१४—क० ग्रं०, पृ० १३, पं० ११
१५—क० ग्रं० पृ० ९७ पं० २

दशा है। कबीर के मत से यह वह स्थिति है "जिससे भक्त को सहज ही में भगवान् मिल जाता है।[१]" इस अवस्था में मनोवृत्तियाँ, जो बंधन का कारण हैं, नष्ट हो जाती हैं और समरसता आ जाती है। उस समय न कोई मित्र रहता है न शत्रु, कोई वस्तु सुखद या दुःखद नहीं रहती। "विषयों से इन्द्रिय-सम्पर्क होने पर भी मन में कोई विक्षोभ नहीं हो पाता।[२]" "काम, लोभ, मोहादि स्वतः नष्ट हो जाते हैं, साधक और साध्य एक हो जाते हैं।[३]" दादू के मत से यह अवस्था उस समय प्राप्त होती है जब प्राण और मन एक दूसरे में विलीन हो जाते हैं।[४]" नानक इसे वह अवस्था मानते हैं "जब दशम द्वार खुल जाता है और शशिगृह (ब्रह्मरंध्र) में निवास हो जाता है।[५]" हठयोग प्रदीपिका[६] में सहजावस्था को 'समाधि', 'लय', 'शून्य', 'मनोन्मनी' आदि के अर्थ में ही ग्रहण किया गया है। अतः संत कवि 'सहज' का अर्थ ग्रहण करने में हठयोग की परंपरा से अधिक दूर नहीं गये दीख पड़ते हैं।

१—क० ग्रं०, पृ० ४२, पं० ५-६
२—क० ग्रं०, पृ० ४२, पं० १-२
३—क० ग्रं०, पृ० ४२, पं० ३-४
४—दा० बा०, 1, पृ० ७७, पं० ६
५—प्रा० सं०, पृ० ६५, पं० १०
६—ह० यो० प्र०, ४.३-४

अष्टम अध्याय

भक्ति-भावना

इस निबंध के काल-क्षेत्र में आने वाला हिन्दी साहित्य एक प्रकार से भक्ति-प्राण कहा जा सकता है। निर्गुण और सगुण, दोनों क्षेत्रों में भक्ति का प्रमुख स्थान है। सूफी कविता में भारतीय भक्ति-धारा का रूप विलसित नहीं हो सका है, परन्तु सूफियों की प्रेम-साधना भक्ति ही की एक वैदेशिक पद्धति है।

भक्ति का उदय और विकास

भारतीय भक्ति की मूल धारा शिव, शक्ति, विष्णु (राम-कृष्ण) आदि के संबंध से अनेक शाखाओं में प्रचलित पाई जाती है, किन्तु इस निबंध में हमारा मन्तव्य जिस शाखा से है, उसका रूप वैष्णव-भक्ति का है। निर्गुण मत तक में वैष्णव भक्ति के अनेक तत्व मिलते हैं। सगुण और निर्गुण भक्ति का मूल अन्तर आलंबन (ब्रह्म के व्यक्ताव्यक्त स्वरूप) का है। निर्गुणियों ने अव्यक्तोपासना की पद्धति को सूफियों से सीखकर भी वैष्णव भक्ति के अनेक तत्वों को स्वायत्त कर लिया है। यों तो कबीर आदि की कविता में 'शक्ति' का जिक्र भी अनेक बार आया है, पर उससे शक्ति की उपासना का अभिप्राय व्यक्त नहीं होता। वहाँ शक्ति-संचालन शारीरिक क्रिया मात्र रहती है, जिसका अभ्यास हठयोग में किया जाता है। वहाँ शक्ति प्रेम का 'आलंबन' नहीं है जिस प्रकार शाक्तों में उसे माना जाता है। इस कारण हमने अपना विवेचन वैष्णव-भक्ति तक ही सीमित रक्खा है।

"भक्ति शब्द का जन्म 'भज्' धातु से हुआ है जिसका अर्थ सेवा करना माना गया है। अतएव भगवान् की सेवा करने की स्थिति में ही भक्ति का स्वरूप बनता है।[1]" हिन्दू-धर्म में भक्ति का पदार्पण कब हुआ, यह निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता, परन्तु यह अनिश्चित नहीं है कि इसका उद्‌गम भारतीय है। इसका बीज वेद-मन्त्रों में पाया जाता है।[2] प्राचीन आर्य-जाति ने आरंभ ही से सम्पूर्ण जगत् में कार्य करने वाली प्राकृतिक शक्तियों को देव-रूप में ग्रहण किया था। "देव-पूजा से संबंधित वेद-मंत्रों में भक्ति और श्रद्धा छलकती दीख

१—देखिये, वैष्णव फेथ एंड मूवमेंट इन बेंगाल, पृ० २७६

२—जदुनाथ सिनहाः कल्चरल हेरिटेज आफ इंडिया, II, पृ० ४८ पर

तत्व वर्ण-अवर्ण, धूप-छाया आदि से परे है। वह न कहीं आता है, न जाता है। वह सहज शून्य में व्याप्त हो रहा है[१]।" "जहाँ कुछ भी नहीं बताया जाता वहाँ भी कुछ है, केवल पहचानने की देर है। इसलिए कुछ न देखकर निराश होकर भाग न जाइये, जमे रहिये[२]"। "जिसने गुरु की शिक्षा को हृदयंगम कर लिया है, वही सहज शून्य में रसास्वादन कर सकता है।[३]" "मैंने 'शून्य'-मंडल में घर बना लिया है जिससे रस में विभोर रहूँ।[४]" "मेरा मार्ग निर्विकल्प है और आसन 'शून्य'-गुहा में है।[५]" "उपाधिजन्य भ्रम दूर होने पर ही समझना चाहिये कि मन 'शून्य' में समा गया।[६]" "जब व्यष्टि-शून्य समष्टि-शून्य में मिल जायगा उस समय हम पवन के समान हो जायँगे, समदर्शी बन जायँगे।[७]" 'शून्य' में समाने के लिए मृत्यु अनिवार्य नहीं है। साधक "जीवित ही 'शून्य' में समा सकता है।[८]"

"जीवित ही 'शून्य' में विलीन होने पर जन्म-मरण का भय भाग जाता है।"[९] कबीर की तरह जायसी भी 'शून्य' को विभु एवं कारण-रूप मानते हैं। उनकी समझ में "स्थूलमात्र का कारण 'शून्य' है[१०]।" "जो शून्य से परिचित हो जाता है, जायसी उसी को सिद्ध कहते हैं।[११]" "'शून्य' में मन-रूपी वृक्ष उसी प्रकार स्थित है जैसे काया में जीव, काठ में अग्नि, और दूध में घी है।[१२]"

कबीर का 'शून्य' स्थलानुरूप रंग बदलता दीख पड़ता है, किन्तु जायसी का 'शून्य' प्रायः अपना निश्चित अर्थ लेकर अवतीर्ण होता है।

धर्मदास की शब्दावली में 'शून्य' प्रायः एकार्थी ही दीख पड़ता है। कदाचित् जिस 'शून्य-प्रासाद' के भीतर शिव-शक्ति का निवास है,[१३]" उसी से अमृत बरसता है[१४]" और "उसी 'शून्य-अटारी में अगम, अगोचर एवं अविनाशी पुरुष का निवास है।[१५]"

कबीर की तरह दादू भी 'शून्य' को केवल अभावसूचक नहीं मानते। वे

१—क० ग्रं०, पृ० २६६, पं० १६-१७
२—क० ग्रं०, पृ० १९८, पं० १४
३—क० ग्रं०, पृ० १११, पं० १६.
४—क० ग्रं०, पृ० १३८, पं० ६
५—क० ग्रं०, पृ० ३३८, पं० २३
६—क० ग्रं०, पृ० २८३, प० १०
७—क० ग्रं०, पृ० २७१, पं० १०
८—क० ग्रं०, पृ० २८६, पं० ६
९—क० ग्रं०, पृ० २८६, पं० ५-६
१०—जा० ग्रं०, पृ० ३४८, पं० ३
११—जा० ग्रं०, पृ० ३६५, पं० १५
१२—जा० ग्रं०, पृ० ३६६, पं० ७-८
१३—ध० दा० श०, पृ० ५८
१४—ध० दा० श०, पृ० ३३
१५—ध० दा० श०, पृ ५७

"सब को 'शून्य'-मार्ग से आने वाला और 'शून्य' से ही जानेवाला[१]" मानते हैं। दादू शून्य को चार प्रकार का मानते हैं—"तीन शून्य आकार से संबंधित और चौथा निर्गुण। आकार-शून्य का एक भेद काया-शून्य, दूसरा आत्म-शून्य, और तीसरा परम-शून्य है। काया-शून्य में पंच भूत इन्द्रियों का निवास है, आत्म-शून्य में प्राण-प्रकाश है, परम-शून्य में ब्रह्म से मिलन होता है। निर्गुण-शून्य में असीम एवं अनंत ब्रह्म का निवास है। वह आकार से परे है। उसी को ब्रह्म-शून्य भी कहा गया है।[२]"

मलूकदास "शून्य-महल को अपना महल[३]" कहते हैं, उसी को वे "गगन-मंडल[४]" तथा "गगन-गुफा[५]" कहते हैं।

"पवन को उलट कर मन को शून्य में समा देने की बात[६]" नानक ने भी पारंपरिक ढंग से कही है। "पृथ्वी और आकाश, सब कुछ विश्व शून्य से उत्पन्न हुआ है।[७]" कबीर की तरह नानक भी "शून्य में सहज समाधि[८]" लगाने की बात करने हैं। उनका विश्वास है कि "शून्य-शून्य कहने वाले बहुत हैं, परन्तु समझता कोई बिरला ही है। वस्तुतः शून्य है क्या ?, शून्य-ध्यान में प्रभु बैठा हुआ है। शून्य-ध्यान में अकेला रहने पर गुरु-शिष्य का अन्तर मिट जाता है।"[९] "जो शून्य को जानता है, वही सन्यासी है।[१०]" इसके अलावा नानक एक शून्य-शब्द भी मानते हैं। उसी से ओ३म्कार, पवन, अग्नि आदि की उत्पत्ति हुई है।[११]"

कबीर आदि संतों का 'सहज' सहजयानी सिद्धों की केवलावस्था का प्रतीक है। इसी को सिद्धों ने 'शून्य-पद' कहा है। उन्होंने 'शून्य' और 'सहज' शब्द का व्यवहार एक साथ किया है। "यह परंपरा (अर्थात् 'शून्य' और 'सहज' का साथ-साथ प्रयोग) नाथपंथी योगियों में ज्यों की त्यों चली आई है तथा कबीर और उनके अनुयायियों ने भी इसे लुप्त नहीं होने दिया।[१२]" कबीर आदि ने 'सहज' का प्रयोग प्रायः 'शून्य' एवं 'समाधि' के विशेषण के रूप में ही किया है और कई जगह इन्ही के अर्थ में भी इसका प्रयोग हुआ है। यही नहीं इसका प्रयोग 'निरति' और 'सुख' के अर्थ में भी हुआ है। सहजावस्था आत्मा की स्वाभाविक

१—दा० बा० T , पृ० ८६, पं० ६
२—देखिये, दा० बा० ⊥, पृ० ५०-५१
३—म० बा०, पृ० २३, पं० ८
४—म० बा०, पृ० ४, पं० २२
५—म० बा०, पृ० २१, शब्द १३
६—प्रा० सं०, पृ० १६६, पं० १६
७—प्रा० सं०, पृ० १६६, पं० ७
८—प्रा० सं०, पृ० ६, पं० १६
९—प्रा० सं०, पृ० ६७, पं० ६-७
१०—प्रा० सं०, पृ० ६, पं० १७
११—प्रा० सं०, पृ० २०२
१२—हजारीप्रसाद दिवेदी : कबीर, पृ० ७०

दशा है। कबीर के मत से यह वह स्थिति है "जिससे भक्त को सहज ही में भगवान् मिल जाता है।[१]" इस अवस्था में मनोवृत्तियाँ, जो बंधन का कारण हैं, नष्ट हो जाती हैं और समरसता आ जाती है। उस समय न कोई मित्र रहता है न शत्रु, कोई वस्तु सुखद या दुःखद नहीं रहती। "विषयों से इन्द्रिय-सम्पर्क होने पर भी मन में कोई विक्षोभ नहीं हो पाता।[२]" "काम, लोभ, मोहादि स्वतः नष्ट हो जाते हैं, साधक और साध्य एक हो जाते हैं।[३]" दादू के मत से यह अवस्था उस समय प्राप्त होती है जब प्राण और मन एक दूसरे में विलीन हो जाते हैं।[४]" नानक इसे वह अवस्था मानते हैं "जब दशम द्वार खुल जाता है और शशिगृह (ब्रह्मरंध्र) में निवास हो जाता है।[५]" हठयोग प्रदीपिका[६] में सहजावस्था को 'समाधि', 'लय', 'शून्य', 'मनोन्मनी' आदि के अर्थ में ही ग्रहण किया गया है। अतः संत कवि 'सहज' का अर्थ ग्रहण करने में हठयोग की परंपरा से अधिक दूर नहीं गये दीख पड़ते हैं।

१—क० ग्रं०, पृ० ४२, पं० ५-६

२—क० ग्रं०, पृ० ४२, पं० १-२

३—क० ग्रं०, पृ० ४२, पं० ३-४

४—दा० बा०, ⊥, पृ० ७७, पं० ६

५—प्रा० सं०, पृ० ६५, पं० १०

६—ह० यो० प्र०, ४.३-४

अष्टम अध्याय

भक्ति-भावना

भक्ति का उदय और विकास

इस निबंध के काल-क्षेत्र में आने वाला हिन्दी साहित्य एक प्रकार से भक्ति-प्राण कहा जा सकता है। निर्गुण और सगुण, दोनों क्षेत्रों में भक्ति का प्रमुख स्थान है। सूफी कविता में भारतीय भक्ति-धारा का रूप विलसित नहीं हो सका है, परन्तु सूफियों की प्रेम-साधना भक्ति ही की एक वैदेशिक पद्धति है। भारतीय भक्ति की मूल धारा शिव, शक्ति, विष्णु (राम-कृष्ण) आदि के संबंध से अनेक शाखाओं में प्रचलित पाई जाती है, किन्तु इस निबंध में हमारा मन्तव्य जिस शाखा से है, उसका रूप वैष्णव-भक्ति का है। निर्गुण मत तक में वैष्णव भक्ति के अनेक तत्व मिलते हैं। सगुण और निर्गुण भक्ति का मूल अन्तर आलंबन (ब्रह्म के व्यक्ताव्यक्त स्वरूप) का है। निर्गुणियों ने अव्यक्तोपासना की पद्धति को सूफियों से सीखकर भी वैष्णव भक्ति के अनेक तत्वों को स्वायत्त कर लिया है। यों तो कबीर आदि की कविता में 'शक्ति' का जिक्र भी अनेक बार आया है, पर उससे शक्ति की उपासना का अभिप्राय व्यक्त नहीं होता। वहाँ शक्ति-संचालन शारीरिक क्रिया मात्र रहती है, जिसका अभ्यास हठयोग में किया जाता है। वहाँ शक्ति प्रेम का 'आलंबन' नहीं है जिस प्रकार शाक्तों में उसे माना जाता है। इस कारण हमने अपना विवेचन वैष्णव-भक्ति तक ही सीमित रक्खा है।

"भक्ति शब्द का जन्म 'भज्' धातु से हुआ है जिसका अर्थ सेवा करना माना गया है। अतएव भगवान् की सेवा करने की स्थिति में ही भक्ति का स्वरूप बनता है।[१]" हिन्दू-धर्म में भक्ति का पदार्पण कब हुआ, यह निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता, परन्तु यह अनिश्चित नहीं है कि इसका उद्‌गम भारतीय है। इसका बीज वेद-मन्त्रों में पाया जाता है।[२] प्राचीन आर्य-जाति ने आरंभ ही से सम्पूर्ण जगत् में कार्य करने वाली प्राकृतिक शक्तियों को देव-रूप में ग्रहण किया था। "देव-पूजा से संबंधित वेद-मंत्रों में भक्ति और श्रद्धा छलकती दीख

१—देखिये, वैष्णव फेथ एंड मूवमेंट इन बंगाल, पृ० २७६

२—जदुनाथ सिनहाः कल्चरल हेरिटेज आफ इंडिया, II, पृ० ४८ पर

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥

धीरे-धीरे भगवान् कृष्ण के भक्ति-मार्ग से लोकधर्म-पक्ष या कर्म-पक्ष हटता गया और उपासना में उनका लोकरक्षा और लोकमंगलवाला यह व्यापक स्वरूप तिरोहित होता गया एवं केवल ऐसे स्वरूप की प्रतिष्ठा की प्रवृत्ति बढ़ती गई जो अत्यन्त घनिष्ठ प्रेम का आलंबन हो सके। श्रीमद्भागवत इसी प्रवृत्ति का अत्यन्त मधुर फल है। उक्त ग्रंथ में यह सूचित करके कि 'सात्वत धर्म या नारायण ऋषि का धर्म नैष्यकर्म्य लक्षण है (भाग १. ३. ८ तथा ११. ४. ६) यह स्पष्ट बताया गया है कि 'उक्त नैष्कर्म्य धर्म में भक्ति को पूरी प्रधानता नहीं मिली थी। इससे भागवत पुराण कहा गया (भाग० १. ५. १२), आगे चलकर यही भागवत पुराण तो कृष्णोपासक भक्तों के प्रेमलक्षणाभक्ति-योग का प्रधान ग्रंथ हुआ और उसमें प्रकाशित श्रीकृष्ण का रूप प्रेम या भक्ति का आलंबन।[१] "भागवत ने रामोपासक भक्तों में भी प्रचुर सम्मान प्राप्त कर लिया।

गीता और भागवत पुराण ये ही वैष्णव भक्ति मार्ग के दो प्रधान ग्रंथ हैं जिनमें गीता प्राचीन है और भक्ति का कर्म-ज्ञान समन्वित व्यापक रूप प्रत्यक्ष करती है। उसके पीछे भागवत में कर्म और ज्ञान के क्षेत्र से अलग भक्ति का एक स्वतंत्र क्षेत्र तैयार किया गया। पीछे भक्ति के सिद्धान्त-पक्ष के प्रतिपादन के लिए कुछ छोटे-छोटे ग्रंथ भी बने, जैसे शाडिल्य सूत्र, नारद सूत्र, नारद पांचरात्र। इनमें से पिछले दो ग्रंथ तो भागवत के बाद के हैं।[२] शाडिल्य सूत्र उसके पहले का हो सकता है।

श्रीमद्भागवत के आविर्भाव के उपरान्त भक्ति ने जो बाह्य और आभ्यन्तर स्वरूप प्राप्त किया उसके प्रवर्तकों में चार मुख्य आचार्य दिखाई पड़ते हैं—रामानुज, मध्व, निम्बार्क और वल्लभ। इन्होंने अपनी अपनी रुचि और भावना के अनुसार उपासना की पद्धतियाँ चलाई। रामानुज श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के, मध्व ब्रह्म-सम्प्रदाय के, वल्लभ पुष्टिमार्ग (वल्लभ-सम्प्रदाय) के और निम्बार्क सनक-सम्प्रदाय के प्रवर्तक माने जाते हैं। पाचरात्र का प्रामाण्य सबको माननीय है, परन्तु श्रीवैष्णव-मत पर पांचरात्र का विशेष प्रभाव है। वैष्णव-पुराणों में विष्णु पुराण को रामानुज ने तथा श्रीमद्भागवत को वल्लभ ने अपनाया है।[३] इन सब आचार्यों का सामान्य प्रयत्न शंकराचार्य के मायावाद अर्थात् जगत्

१—रामचन्द्र शुक्लः सूरदास—पृ० ३०-३२
२— " " "
३—देखिये, बलदेव उपा० : भा० द०, पृ० ४५६

के मिथ्यात्व का प्रतिषेध था। ये भक्त होने के साथ साथ दार्शनिक भी थे। इन्होंने उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र के चिंतन से ब्रह्म के स्वरूप का बोध प्राप्त करके उक्त मतों में अपनी रुचि और भावना का प्रकाशन किया है।

श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण के मधुर रूप का विशेष वर्णन होने से भक्ति-क्षेत्र में गोपियों के ढंग के प्रेम का,[1] माधुर्य-भाव का, रास्ता खुल गया। "सब संप्रदायों के कृष्ण-भक्त भागवत में वर्णित कृष्ण की ब्रजलीला को ही लेकर चले क्योंकि उन्होंने अपनी प्रेमलक्षणाभक्ति के लिए कृष्ण का मधुर रूप ही पर्याप्त समझा। वे कृष्ण को केवल प्रेम क्रीड़ा के एकान्त-क्षेत्र में रख कर ही देखते रहे। श्रद्धा का अवयव, जो महत्व की भावना में निमग्न करता है, छूट जाने से वे (कृष्ण-भक्त) कृष्ण के लोक रक्षक और लोक मंगलकारी स्वरूप को सामने न ला सके। भगवान् के धर्म स्वरूप को इस प्रकार किनारे रख देने से उसकी ओर आकर्षित होने और आकर्षित करने की प्रवृत्ति का विकास कृष्ण-भक्तों में न हो पाया। फल यह हुआ कि कृष्णभक्त कवि अधिकतर फुटकल शृंगारी पदों की रचना में ही लगे रहे। उनकी रचनाओं में न तो जीवन के अनेक गंभीर पक्षों के मार्मिक रूप स्फुरित हुए न अनेकरूपता आई।[2]"

भागवत के पीछे जितने कृष्णोपासक सम्प्रदाय चले उन्होंने कृष्ण को वात्सल्य और शृंगार के आलंबन के रूप में ही लिया। उन्हें गोपी-वल्लभ की प्रेममूर्ति ही आराधन के उपयुक्त दीख पड़ी। यद्यपि कृष्ण का आविर्भाव भी लोककंटक आततायियों का पराभव करके धर्म की शक्ति और सौन्दर्य का प्रकाश करने के लिए कहा गया है, पर कृष्णभक्तों ने भगवान् के स्वरूप में केवल सौन्दर्य ही देखा। इसके विपरीत रामोपासक भक्त-सम्प्रदाय शक्ति, शील और सौन्दर्य, तीनों विभूतियों से समन्वित 'राम' में अपने हृदय को लीन करता आया यद्यपि भगवान् के इसी रूप में धर्म के पूर्ण रूप की भावना संनिहित रही है, फिर भी कृष्ण का सौन्दर्य (लीलादि) में भक्त-हृदय को खींचता रहा है।

वैष्णव भक्ति की परंपरा में प्रेम के आलंबन राम और कृष्ण ही रहे हैं। कृष्ण का रूप भागवत काल से लेकर अब तक एक ही प्रकार का बना रहा है। वे विष्णु का अवतार माने जाते रहे हैं, किन्तु रामानंद के पश्चात् कबीर आदि निर्गुण सन्तों के हाथों में पड़कर 'राम' अपने रूप और गुण को खोकर 'निर्गुण' मात्र रह जाते हैं। यद्यपि "बैस्नों की छपरी भली" कह कर कबीर वैष्णव भक्ति का समर्थन करते हैं, परन्तु "ना दशरथ घरि औतरि आवा, ना जसवै लै गोद

१—तुलना कीजिए : ना० म० सू० २१

२—रामचन्द्र शुक्ल : सूरदास, पृ० १३१-३२

पड़ती है।[१]" "वरुण' सविता, उषादि के विषय में रचे गये, आत्म-विभोर करदेने वाले, वेद-मंत्रों को पढ़ कर सच्ची भक्ति की अनुभूति न करना असंभव है, चाहे उसका दार्शनिक आधार कितना ही अपूर्ण क्यों न हो।[२]" मंत्रकाल में ही ब्रह्मरूप में एक ऐसी शक्ति की भावना कर ली गई थी जिसमें अग्नि, वायु, वरुण, इन्द्र इत्यादि देवताओं के रूप में ग्रहण की गई भिन्न-भिन्न शक्तियों का समाहार था।[३]"

शतपथ ब्राह्मण के अनेक उद्धरणों से यह भली भाँति प्रमाणित हो जाता है कि एक समष्टि-शक्ति मंत्रकाल में ही नाना रूपों और व्यापारों-द्वारा व्यक्त होने वाली भिन्न-भिन्न शक्तियों का प्रतिनिधित्व करने लग गई थी और भावुक ऋषि-भावना उसके हृदयग्राही स्वरूप की खोज में प्रवृत्त हो गई थी। आगे चलकर उन देवताओं का ही तत्व-दृष्टि से एक में समाहार करके ब्रह्मवाद की प्रतिष्ठा कर दी गई। ब्रह्म की प्रतिष्ठा से धर्म के इतिहास में दो नई बातों का समावेश हो गया। एक तो ब्रह्म नाम से वाच्य परम शक्ति का ग्रहण और दूसरी उस परम शक्ति की नाना रूपों में अभिव्यक्ति। आगे चलकर ये दोनों तत्व भक्ति के आधार के लिये अनिवार्य सिद्ध हुए।

भक्ति-मार्ग का शिलान्यास वस्तुतः आरण्यकों और उपनिषदों के उपासना कांड में हुआ दीख पड़ता है जो ज्ञानकांड का ही एक अंग है। इस ज्ञान कांड के दो मार्ग हैं—एक तो विशुद्ध ज्ञान को लेकर चलने वाला निवृत्ति-परक ज्ञान-मार्ग और दूसरा हृदय-पक्ष-समन्वित ज्ञान को लेकर चलने वाला कर्म-परक ज्ञान-मार्ग। कर्म-परक ज्ञानमार्ग में कर्म के साथ बुद्धि और हृदय दोनों का योग आवश्यक ठहराया गया था। जहाँ से कर्म में हृदय-तत्व को कुछ अधिक स्थान देने की प्रवृत्ति हुई वहीं से भक्ति मार्ग का आरंभ हो गया अथवा यों कहिए कि मनुष्य की बुद्धि और उसके हृदय का स्वाभाविक ढंग से संचालन आरंभ हो गया।

१—देखिये, जदुनाथ सिनहाः कल्चरल हेरिटेज आफ इंडिया II, पृ० ४८
डाक्टर सील के "कम्पेरेटिव स्टडीज इन वैष्णविज्म एंड क्रिश्चियैनिटी" से उद्धृत

२—देखिये, जदुनाथ सिनहाः क० हे० आफ इं०, II, पृ० ४८
वेलवेल्कर और राणाडे के 'हि० आफ इं० फि०' से उद्धृत.

३—देखिये, ऋग्वेद १-२। १६४-६४
इंद्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यस्स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं, यमं, मातरिश्वानमाहुः॥

उपनिषदों में भक्ति के विकसित रूप को देखने की चेष्टा करना तो व्यर्थ है। हाँ, उनमें उसके अनेक तत्वों की खोज अवश्य की जा सकती है। वेदों में जो शक्ति सर्वोत्कृष्ट मानी जा चुकी थी, वही उपनिषदों में आनंदस्वरूप और मानव-आनंद का स्रोत[1] भी मानली गई, जब वह शक्ति रस और आनंदमय दीख पड़ी तो मानव-आकर्षण का केन्द्र बन गई। उसके पाने की चेष्टा करना स्वाभाविक बन गया, परन्तु, क्या उसे अपने प्रयत्नों से सब पा सकते हैं? उपनिषद कहते हैं, नहीं: "वह आत्मा (ब्रह्म) न तो प्रवचन से प्राप्त करने योग्य है और न मेधा तथा बहु श्रवण से ही प्रापणीय है। वह जिसका वरण करती है, उसी को उसकी प्राप्ति होती है। उसके प्रति वह अपने स्वरूप को व्यक्त कर देती है,[2]" इसमें स्पष्ट रूप से भक्ति का 'अनुग्रह' सिद्धान्त सन्निहित है। श्वेताश्वतर उपनिषद् ६.२३ में 'अनुग्रह' के सिद्धान्त की ओर और भी प्रबल संकेत किया गया है। उसी से 'प्रपत्ति'[3] भी ध्वनित होती है। 'भक्ति' शब्द का प्रयोग सबसे पहले उपनिषदों[4] में ही किया जाता है; किन्तु जिस भक्ति का बीज-न्यास वेद-मंत्रों में और प्रस्फुटन उपनिषदों में होता है, वह महाभारत-काल के आसपास पूर्ण विकास को प्राप्त होती है।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि हमारा विवेचनीय विषय केवल वैष्णव-भक्ति है जिसकी 'रामभक्ति' और कृष्ण-भक्ति, दो प्रमुख शाखाएं हैं। वैष्णव भक्ति का तात्विक निरूपण सबसे पहले भगवद्गीता में मिलता है, जो महाभारत का एक अंग है। "महाभारत-काल के आसपास भगवान् का जो उपास्य स्वरूप सामने रहा वह बहुत व्यापक था। वह लोक-रक्षा और लोक-मंगल का प्रत्यक्ष साधन करने वाली धर्मशक्ति का स्वरूप था जिसमें शक्ति, शील, सौन्दर्य, ऐश्वर्य—सब का समन्वय था। उसका आकर्षण लोक-धर्म में आनन्द-पूर्वक प्रवृत्त कराने वाला आकर्षण था। गीता में अवतार का उद्देश्य लोक मे धर्म की संस्थापना स्वयं भगवान् द्वारा कहा गया है:—

यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

१—तै० उप०, २ ७: 'रस ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति' तथा 'एष ह्येवानन्दयति,' तथा बृह० उप० ४.३,३२. "एषोऽस्य परमानन्द एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति."

२—कठ उप० १.२.२३ तथा मुं० उप० ३.२.३

३—देखिये, श्वे० उप०, ६.२३ तथा २.७

४—देखिये, श्वे० उप०, ६.२३.

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥

धीरे-धीरे भगवान् कृष्ण के भक्ति-मार्ग से लोकधर्म-पक्ष या कर्म-पक्ष हटता गया और उपासना में उनका लोकरक्षा और लोकमंगलवाला यह व्यापक स्वरूप तिरोहित होता गया एवं केवल ऐसे स्वरूप की प्रतिष्ठा की प्रवृत्ति बढ़ती गई जो अत्यन्त घनिष्ठ प्रेम का आलंबन हो सके। श्रीमद्भागवत इसी प्रवृत्ति का अत्यन्त मधुर फल है। उक्त ग्रंथ में यह सूचित करके कि 'सात्वत धर्म या नारायण ऋषि का धर्म नैष्कर्म्य लक्षण है (भाग १. ३. ८ तथा ११. ४. ६) यह स्पष्ट बताया गया है कि 'उक्त नैष्कर्म्य धर्म में भक्ति को पूरी प्रधानता नहीं मिली थी। इससे भागवत पुराण कहा गया (भाग० १. ५. १२), आगे चलकर यही भागवत पुराण तो कृष्णोपासक भक्तों के प्रेमलक्षणाभक्ति-योग का प्रधान ग्रंथ हुआ और उसमें प्रकाशित श्रीकृष्ण का रूप प्रेम या भक्ति का आलंबन।[1] "भागवत ने रामोपासक भक्तों मे भी प्रचुर सम्मान प्राप्त कर लिया।

गीता और भागवत पुराण ये ही वैष्णव भक्ति मार्ग के दो प्रधान ग्रंथ हैं जिनमें गीता प्राचीन है और भक्ति का कर्म-ज्ञान समन्वित व्यापक रूप प्रत्यक्ष करती है। उसके पीछे भागवत में कर्म और ज्ञान के क्षेत्र से अलग भक्ति का एक स्वतंत्र क्षेत्र तैयार किया गया। पीछे भक्ति के सिद्धान्त-पक्ष के प्रतिपादन के लिए कुछ छोटे-छोटे ग्रंथ भी बने, जैसे शाडिल्य सूत्र, नारद सूत्र, नारद पाचरात्र। इनमें से पिछले दो ग्रंथ तो भागवत के बाद के हैं।[2] शाडिल्य सूत्र उसके पहले का हो सकता है।

श्रीमद्भागवत के आविर्भाव के उपरान्त भक्ति ने जो बाह्य और आभ्यन्तर स्वरूप प्राप्त किया उसके प्रवर्तकों में चार मुख्य आचार्य दिखाई पड़ते हैं— रामानुज, मध्व, निम्बार्क और वल्लभ। इन्होंने अपनी अपनी रुचि और भावना के अनुसार उपासना की पद्धतियाँ चलाईं। रामानुज श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के, मध्व ब्रह्म-सम्प्रदाय के, वल्लभ पुष्टिमार्ग (वल्लभ-सम्प्रदाय) के और निम्बार्क सनक-सम्प्रदाय के प्रवर्तक माने जाते हैं। पाचरात्र का प्रामाण्य सबको माननीय है, परन्तु श्रीवैष्णव-मत पर पांचरात्र का विशेष प्रभाव है। वैष्णव-पुराणों में विष्णु पुराण को रामानुज ने तथा श्रीमद्भागवत को वल्लभ ने अपनाया है।[3] इन सब आचार्यो का सामान्य प्रयत्न शंकराचार्य के मायावाद अर्थात् जगत्

१—रामचन्द्र शुक्लः सूरदास—पृ० ३०-३२
२— " " "
३—देखिये, बलदेव उपा० : भा० द०, पृ० ४५६

के मिथ्यात्व का प्रतिषेध था। ये भक्त होने के साथ साथ दार्शनिक भी थे। इन्होंने उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र के चिंतन से ब्रह्म के स्वरूप का बोध प्राप्त करके उक्त मतों में अपनी रुचि और भावना का प्रकाशन किया है।

श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण के मधुर रूप का विशेष वर्णन होने से भक्ति-क्षेत्र में गोपियों के ढंग के प्रेम का,[1] माधुर्य-भाव का, रास्ता खुल गया। "सब संप्रदायों के कृष्ण-भक्त भागवत में वर्णित कृष्ण की ब्रजलीला को ही लेकर चले क्योंकि इन्होंने अपनी प्रेमलक्षणाभक्ति के लिए कृष्ण का मधुर रूप ही पर्याप्त समझा। वे कृष्ण को केवल प्रेम क्रीड़ा के एकान्त-क्षेत्र में रख कर ही देखते रहे। श्रद्धा का अवयव, जो महत्व की भावना में निमग्न करता है, छूट जाने से वे (कृष्ण-भक्त) कृष्ण के लोक रक्षक और लोक मंगलकारी स्वरूप को सामने न लासके। भगवान् के धर्म स्वरूप को इस प्रकार किनारे रख देने से उसकी ओर आकर्षित होने और आकर्षित करने की प्रवृत्ति का विकास कृष्ण-भक्तों में न हो पाया। फल यह हुआ कि कृष्णभक्त कवि अधिकतर फुटकल शृंगारी पदों की रचना में ही लगे रहे। उनकी रचनाओं में न तो जीवन के अनेक गभीर पक्षों के मार्मिक रूप स्फुरित हुए न अनेकरूपता आई।[2]"

भागवत के पीछे जितने कृष्णोपासक सम्प्रदाय चले उन्होंने कृष्ण को वात्सल्य और शृंगार के आलंबन के रूप में ही लिया। उन्हें गोपी-वल्लभ की प्रेममूर्ति ही आराधन के उपयुक्त दीख पड़ी। यद्यपि कृष्ण का आविर्भाव भी लोककंटक आततायियों का पराभव करके धर्म की शक्ति और सौन्दर्य का प्रकाश करने के लिए कहा गया है, पर कृष्णभक्तों ने भगवान् के स्वरूप में केवल सौन्दर्य ही देखा। इसके विपरीत रामोपासक भक्त-सम्प्रदाय शक्ति, शील और सौन्दर्य, तीनों विभूतियों से समन्वित 'राम' में अपने हृदय को लीन करता आया यद्यपि भगवान् के इसी रूप में धर्म के पूर्ण रूप की भावना संनिहित रही है, फिर भी कृष्ण का सौन्दर्य (लीलादि) में भक्त-हृदय को खींचता रहा है।

वैष्णव भक्ति की परंपरा में प्रेम के आलंबन राम और कृष्ण ही रहे हैं। कृष्ण का रूप भागवत काल से लेकर अब तक एक ही प्रकार का बना रहा है। वे विष्णु का अवतार माने जाते रहे हैं, किन्तु रामानंद के पश्चात् कबीर आदि निर्गुण सन्तों के हाथों में पड़कर 'राम' अपने रूप और गुण को खोकर 'निर्गुण' मात्र रह जाते हैं। यद्यपि "बैस्नों की छपरी भली" कह कर कबीर वैष्णव भक्ति का समर्थन करते हैं, परन्तु "ना दशरथ घरि औतरि आवा, ना जसवै लै गोद

१—तुलना कीजिए : ना० भ० सू० २१.

२—रामचन्द्र शुक्ल : सूरदास, पृ० १३१-३२

खिलावा[1]" द्वारा वे 'अवतारवाद' या 'सगुण' पक्ष का निराकरण ही करते हैं। उन्होंने भक्ति को अव्यक्त में निहित कर जिस कायिक साधना का प्रचार किया है उससे भक्ति का सच्चा और वास्तविक रूप बाधित होकर, वह जटिल और दुरूह बन गई है। वैष्णव-भक्ति का आधार तो मनुष्य की सहज रागात्मिका वृत्ति है। उसमें ऐसी जटिलता के लिये अवकाश कहाँ है! उसमें प्रेम का वह सरल रूप है जिसे सब लोग स्वभावतः जानते हैं। सूर, तुलसी आदि सगुण भक्तों की प्रवृत्ति भक्तिमार्ग का इसी सरलता और सुगमता की ओर रही है। वे स्वरूप को मन में लाने के लिए (रूपस्मरण के लिए) आँखे मूँदते हैं और ध्यान करते हैं, 'अनाहत नाद' के सहारे, सुरति को निरति में लीन करके निर्गुण और अव्यक्त तक पहुँचने के लिए नहीं।

भक्ति-भावना की सरलता और यथार्थता को बाधित करने वाला था बौद्धों और शैवों का, योग नाम से प्रचलित, साधनात्मक रहस्यवाद जिसका संतमत में समावेश हो गया था। वह पहले भारतवर्ष मे आने वाले फारस के रहस्यवादी सूफियों ने आत्मसात् कर लिया था। उसका सूफीमत में आगम बौद्धों के सहजिया सम्प्रदाय से 'नाथपंथ' में होकर हुआ था। सूफियों की देखा देखी कबीर-पंथ में भी उसकी प्रवृत्ति आ गई।[2] उसी का आलोचना करते हुए तुलसीदास कहते हैं :

गोरख जगायो जोग, भगति भगायो लोग,
निगम नियोग सो तो कलि ही छरो सो है।

कवितावली उ० काण्ड, ८४।

इस प्रकार कबीर-पंथ में वैष्णव भक्ति का रूप विकृत हो गया, क्योंकि उसमें प्रेम का आलंबन सगुण और व्यक्त के स्थान पर निर्गुण' एवं 'अव्यक्त' बनाया गया जो रागात्मिका वृत्ति का विषय नहीं बनता। इसका कारण सूफी-प्रभाव था। "हमारे यहाँ का भक्तिमार्ग ब्रह्म का उभयात्मक स्वरूप लेकर चला था। उसे सगुण भक्तिमार्ग कहने का अभिप्राय यह है कि वह प्रेम का वास्तविक संचार हृदय का सचमुच रमण, ब्रह्म के उतने ही स्वरूप के भीतर मानता है जितना व्यक्त अतः सगुण है। प्रेम का संचार वहीं तक हो सकता है। अतः भारतीय भक्ति मार्ग का आरंभ ही से यही पक्ष रहा और अब तक है। 'सगुण' विशेषण जो उसके साथ लगने लगा, वह पीछे, जब कबीर द्वारा प्रवर्तित भक्ति मार्ग 'निर्गुण'

१—क० ग्रं०, पृ० २४२, पं० २१-२२

२—देखिये, रामचन्द्र शुक्ल : सूरदास, पृ० ४४-४५

के नाम से प्रसिद्ध हुआ। 'निर्गुण' और अव्यक्त को लेकर कभी कोई भक्तिमार्ग भारतीय आर्य-धर्म के भीतर नहीं चला।[1]"

वैष्णव भक्ति की कृष्णाश्रयी शाखा में 'माधुर्य भाव' की प्रतिष्ठा भी दीख पड़ती है जिसका जन्म संभवतः भागवत से हुआ है। कृष्णोपासना में भगवान् के स्वरूप में केवल लोकरञ्जन की खोज की गई है जिसका आधार प्रेम है और प्रेम का भी प्रतिफलन दो रूपों में हो रहा है—वात्सल्य प्रेम के रूप में और दाम्पत्य प्रेम के रूप में। पहले का आलंबन बालकृष्ण और दूसरे का गोपीवल्लभ प्रेम-मूर्ति कृष्ण हैं। भगवान् कृष्ण के प्रति गोपियों का प्रेम दाम्पत्य भाव के रूपमें है और इष्ट-सान्निध्य पति-पत्नी-समागम के रूप में अंकित किया गया है। भगवान् के प्रति प्रियतम-भावना को 'माधुर्य भाव' और प्रेमानुभूति को 'मधुर रस' का नाम दिया गया है।

विचार करने पर कृष्णोपासना में दाम्पत्य भावना के दो पक्ष मिलते हैं, लीलापक्ष और ध्यानपक्ष। लीलापक्ष में प्रेमजन्य आनंद का रूप वस्तुपरक और ध्यानपक्ष में आत्मपरक होता है। लीलापक्ष में गोपियाँ कामिनी के रूप में श्री कृष्ण को प्रेम करती हैं और उसी रूप में अपने प्रेम की तृप्ति करती और चाहती हैं। इस क्षेत्र में भक्त लोग राधा और कृष्ण के परस्पर प्रेम की भावना द्वारा 'मधुर रस' में लीन होते हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे किसी काव्य में नायक-नायिका के प्रेम व्यापार को पढ़-सुनकर पाठक या श्रोता शृंगार रस में मग्न होता है[2]। ध्यानपक्ष में भक्त अपने में गोपियों की भावना उसी प्रकार करता है जिस प्रकार नाटकादि में नट अपने में अनुकार्य की भावना करता है। आश्रय के स्त्री (जैसे मीरां) होने की दशा में ध्यानपक्ष में किसी आरोप की आवश्यकता का न होना संभव है, पर पुरुष उपासक के ध्यान में तो वह शृंगार आलंकारिक आरोप मात्र रहेगा। ध्यानपक्ष की सफलता भाव तीव्रता पर निर्भर है। आरोप में जितनी तद्रूपता होगी रसानुभूति उतनी ही आत्मपरक और गंभीर होगी।

यह तो रही भारतीय भक्ति भावना में माधुर्य भाव की स्थिति जिसमें लीलापक्ष और ध्यानपक्ष दोनों का साहचर्य है; पर सूफियों और ईसाई भक्तों का माधुर्य भाव इससे भिन्न है। वहाँ केवल ध्यानपक्ष है, ध्यान भी निराकार ईश्वर का। अतः पति के रूप का मूल में ही आरोप करना पड़ता है। "कृष्ण-भक्तिमार्ग में जो कृष्ण लिए गये हैं वे वास्तव में शृंगार के आलंबन थे, पर

१—रामचन्द्र शुक्लः सूरदास, पृ० ४५

२—देखिये, रामचन्द्र शुक्ल : सूरदास, पृ० ८६

पैगम्बरी मजहबों के भक्तिमार्ग में खुदा को प्रियतम या माशूक का जो रूप दिया गया है, वह आरोप मात्र है—अज्ञात के प्रति रहस्य भावना या कल्पना मात्र है। सारांश यह है कि सूफियों और ईसाई भक्तों में माधुर्य भाव रहस्यवाद का एक अंग है, पर कृष्णोपासकों में वह भगवान् की विज्ञात नरलीला का एक अंग है। दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि कृष्णोपासकों में माधुर्य भाव से उपासना सर्वत्र नहीं है—कहीं वात्सल्य भाव है, कहीं सख्य भाव और कहीं सेव्य-सेवक-भाव। उनके श्रवण, कीर्तन ध्यान में जो मधुर रस है, वह लीला रस है।[1]"

संत काव्य में माधुर्य भाव का समागम सूफियों के प्रभाव से हुआ है। सन्तों की निर्गुणोपासना पर सूफियों का प्रभाव होते हुए भी हम उसे भारतीय भक्ति के प्रभाव से मुक्त नहीं पाते। सिद्धान्त-रूप से 'सगुण' का वहिष्कार करते हुए भी 'निर्गुण' कवि उसके बिना अपना काम नहीं चला सके हैं। निःसहायता की दशा में कबीर भी अम्बरीष की रक्षा करने वाले, सुदर्शन चक्र को धारण करने वाले, भगवान् विष्णु की शरण लेने के लिए व्यग्र हो उठते हैं। अतः इस अध्याय में 'निर्गुण कविता' में भी उन भावों की खोज की गई है जो भारतीय परंपरा से ग्रहण किये गये हैं।

भक्ति का स्वरूप

भक्ति का मूल तत्व भगवान् की सेवा करना है। सेवा का यह भाव न तो सेव्य के भय के कारण उदित होता है और न सेवक के स्वार्थ के कारण, उसमें केवल शुद्ध प्रेम की प्रेरणा होती है। भक्त और दुनियादार की प्रेम-पद्धति एक सी होती है। विनयपत्रिका के एक पद में यही लक्षण दिखलाते हुए तुलसीदास कहते हैं : 'क्या अच्छा हो कि यह मन सहज ही राम के चरणों में इस प्रकार लग जाय जैसे वह देह, गेह, धन, पुत्र, कलत्र आदि में सहज ही मग्न हो जाता है। तभी समझिये कि भक्ति का उदय हो गया, भगवान् के चरणों मे दृढ़ प्रेम हो गया। बस, फिर क्या है ? द्वन्द्वों से मुक्ति मिल जायगी, अभिमान दूर हो जायगा, ज्ञान में तल्लीनता हो जायगी, विषयों से विरति हो जायगी, अनेक परीक्षाओं में सफलता मिलेगी, सर्वहितैषिता और मन की निर्मलता सिद्ध हो जायगी ? भला, फिर सुख-निधि चतुर भगवान् राम प्रसन्न हो कर वशीभूत क्यों न होंगे ? किन्तु यह राम के अनुग्रह से ही संभव हो सकता है[2]।" अतः तुलसीदास भगवान् से इसी प्रकार के प्रेम की याचना करते हैं कि "हे रघुनाथ जिस प्रकार कामी को स्त्री

१—देखिये, रामचन्द्र शुक्ल : सूरदास, पृ० ८६

२—वि० प०, २०४

और लोभी को धन प्रिय लगता है उसी प्रकार आप मुझे निरन्तर प्रिय लगते रहें।[1]" संभवतः ऐसी प्रेम-पद्धति की शिक्षा तुलसीदास को भक्त प्रह्लाद से मिली है। वे भी विष्णु पुराण[2] में भगवान् से ऐसी ही भक्ति की याचना करते हैं। पार्थिव प्रेम और भगवत्प्रेम की पद्धति एक होते हुए भी दोनों की स्थितियों में प्रथित अन्तर है। आसक्ति के सब पार्थिव लक्ष्य नश्वर होने से सान्त हैं, किन्तु भक्ति का लक्ष्य अनश्वर और अनन्त है।

जब अनुरक्ति का प्रभाव अनेक से एक की ओर, सान्त से अनन्त की ओर, जगत् से भगवान् के चरणों की ओर मुड़ जाता है, उसी दशा में भक्ति का रूप बनता है। विनयपत्रिका में भक्ति का यही रूप सामने रखते हुए तुलसीदास कहते हैं: "जिसे श्रीराम और सीता प्रिय नहीं हैं उसे करोड़ों वैरियों के समान समझ कर छोड़ देना चाहिये, चाहे वह अपना परम स्नेही ही क्यों न हो। ० ० ० ० ० ० जिसके कारण राम के चरणों में स्नेह हो, वही सब प्रकार से हितैषी, पूज्य और प्राणों से भी अधिक प्रिय है। बस यही हमारा सिद्धान्त है।[3]" यही अनन्य भक्ति का लक्षण है।

राम के पूछने पर उनके निवासोचित स्थान बतलाते हुए वाल्मीकि उक्त लक्षण ही की ओर सकेत करते हुए कहते हैं: 'हे तात, स्वामी, सखा, माता, पिता, गुरु—सब कुछ जिनके तुम्हीं हो उनके मन-मदिर में तुम दोनों भाई सीता सहित निवास करो।[4]"

और वनगमन के लिए उद्यत लक्ष्मण राम के प्रति अपनी विनयोक्ति में उसी अनन्यता का परिचय इस प्रकार देते हैं: "हे नाथ मैं स्वभाव से कह रहा हूँ मेरा विश्वास कीजिए कि मैं आपके सिवा और किसी को माता, पिता और गुरु नहीं समझता। हे दीनबन्धो; सर्वान्तर्यामिन्; जगत् में जहाँ तक स्नेह और नाते हैं तथा शास्त्र में जिनके प्रति प्रीति और विश्वास की बात कही गई है मेरे लिये तो वह सब कुछ आप ही हैं"

१—कामिय नारि पियारि जिमि, लोभिय प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरतर, प्रिय लागहु मोहि राम।
तुलसीदास

२—या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु।
वि० पु०, १. २०.१६

३—वि० प०, १७४ : तु० की, ना० भ० सू०, ११

४—रा० च० मा०, पृ० ४६७ ५—रा० च० मा०, पृ० ४१५

अनन्य भक्ति का यह लक्षण नया आविष्कार नहीं है। शांडिल्य के "सा परानुरक्तिरीश्वरे" इस सूत्र में इसी लक्षण की ओर संकेत है और नारद ने "सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा"[२] द्वारा इसी की पुष्टि की है। भक्ति की परमता केवल परमात्मा में सिद्ध होती है, क्योंकि जगत् के अनित्य नानात्व के नित्य समाहार की प्रतीति उसी में होती है। जब तक नानात्व के साथ संबंध रहेगा प्रेम परमता को प्राप्त न हो सकेगा। नानात्व से अनानात्व में, अनेकत्व से एकत्व में पहुँच कर ही प्रेम अपने अखंड रूप में प्रकट हो सकेगा, नानात्व की तुच्छता सामने आ जायगी और प्रेम का आलम्बन समष्टि-संबंध का प्रतीक सर्वोत्कृष्ट प्रतीत होने लगेगा। कदाचित् प्रेम की ऐसी ही अवस्था में सूरदास लिखते हैं: "भक्त का भगवान् जैसा कोई दूसरा स्वामी नहीं है। सेवक को जिस प्रकार भी सुख मिले भगवान् उसे उसी प्रकार रखता है। वह भूखे को भोजन, प्यासे को जल और नंगे को वस्त्र देता है। वह अपने भक्त के साथ उसी प्रकार लगा फिरता है जैसे घर-वन से जाते-आते समय गाय अपने बछड़े के साथ लगी फिरती है। वह अत्यत उदार, चतुर, अभिलाषा पूर्ण करनेवाला, और निर्धन के लिए करोड़ों कुवेर के समान है। वह याचना करनेवाले अपने भक्त की प्रतिज्ञा रखता है, संकट पड़ने पर तुरन्त दौड़ा आता है, ऐसा प्रणवीर है। वह महा कृतघ्न पुरुषों तक के लिए करोड़ों उपकार करता है और एक को भी हृदय में नहीं लाता।[३]"

इसी प्रकार विनयपत्रिका (पद १६२) में तुलसीदास 'बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर, राम सरिस कोउ नाहीं' से राम के औदार्य की अनुपमता प्रतिष्ठित करते हैं। अनन्य प्रेम की दशा में भक्त को भगवान् में ऐसे अनन्त गुणों का दर्शन होता रहता है जो उसके आकर्षण का केन्द्र बने रहते हैं।

भक्ति स्वयं फलरूपा[४] है, अतः वह निर्हेतुक है और परानुरक्ति भी निष्काम भक्ति ही को कह सकते हैं। भक्ति का यह स्वरूप गीता,[५] भागवत आदि तक ही सीमित नहीं है, आगे भी बढ़ा चला आता है और इससे प्रभावित होकर रसखान घोषणा कर उठते हैं कि "शुद्ध और अखड प्रेम वह है जिसके लिए यौवन, गुण, रूप और धन की अपेक्षा नहीं है, जो स्वहित या स्वार्थ से रहित है और जिसमें कामना का लेश तक नहीं है,[७]"

१—शां० भ० सू०, २ | २—ना० भ० सू०, २
३—सू० सा०, पृ० ३ | ४—ना० भ० सू०, ३०
५—गीता ६,२७ २८ तथा गीता १२,११ | ६—भाग० १,२,६
७—बिनु जोबन गुन रूप धन, बिनु स्वारथ हित जानि,
सुद्ध कामना ते रहित, प्रेम सकल रसखानि।

प्रेम की अखंडता निष्काम भक्ति में ही रह सकती है, अतः गीता में भगवान् ने स्थान स्थान पर 'निष्कामत्व' का उपदेश दिया है। वे अर्जुन से कहते हैं "हे कौन्तेय ! तू जो करे, जो खाए, जो हवन में होम करे, जो दान में दे, जो तप करे, वह सब मुझे अर्पण करके कर, इससे तू शुभाशुभ फल देने वाले कर्म बन्धन से छूट जायगा और फलत्यागरूपी समत्व को पाकर, जन्म मरण से मुक्त होकर मुझे पाएगा,[1]" इसी उपदेश को मानों अंगीकार करके कबीर भक्तोचित सहज दैन्य के साथ अपने समर्पण में अनासक्ति का भाव भर कर कहते हैं : "मेरा क्या है ? मेरा तो कुछ नहीं, जो कुछ है सब तेरा ही है, तेरा तुझे सौंपने में मेरा क्या लगता है[2]" ।

भक्ति अमृतस्वरूपा[3] कही जाती है, उसमें लोकोत्तर माधुर्य होता है। "जिस प्रकार मूक गुड़ के स्वाद को व्यक्त नहीं कर सकता, उसी प्रकार भगवत्प्रेम वाणी-द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता।[4]" इस रस को जो चखता है वही जानता है।

भक्ति-विभोर भक्त को भगवान् के सिवा और कुछ नहीं दीखता, जिधर देखता है उधर उसे भगवान् का ही दर्शन होता है। "नेत्र, वाणी, मन—शरीर का कोना कोना प्रियतम का आवास बन जाता है।[5]" यही तो भगवदासक्ति की वह अवस्था होती है, जिसमे पर छवि के लिए कोई अवकाश नहीं रहता। इसी की मानों अनुभूति करके रहीम कहते हैं: "नेत्रों में तो प्रियतम की रूप-माधुरी बसी हुई है, दूसरे का सौन्दर्य कहाँ समाएगा? वह अपने आप ही लौट जायगा, जैसे सराय को भरी देख कर पथिक स्वत ही लौट जाता है।[6]" सूरदास की गोपियों के हृदय में भी नन्द-नन्दन के सिवा और किसी के लिए

१—गीता ९,२७,२८ तथा १२,११ तथा देखिये, ना० भ० सू०, ६५

२—मेरा मुझ में कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा,
तेरा तुझको सौंपता, का लागै है मेरा, । क० ग्रं०, पृ० १९
तु० की०, ना० भ० सू०, ६५

३—देखिये, ना० भ० सू०, ३

४—कहै कबीर गूंगै गुड़ खाया बूझै तो का कहिये, क० ग्रं०, पृ० १३१
तु० की०, ना० भ० सू०, ५१,५२

५—नन्द० ग्र०, पृ० १२६ : तु० की०, ना० भ० सू०, ५५

६—प्रीतम छवि नैनन बसी, पर छवि कहाँ समाय।
भरी सराय रहीम लखि, आप पथिक फिरि जाय।

स्थान नहीं है। भला, उनके होते हुए किसी और को कैसे बुलाया जा सकता है। इसी अवस्था में प्रेमी, प्रेम और प्रिय में कोई अन्तर नहीं रहता।[२]

भगवान् भक्ति द्वारा ही मिलते हैं, परन्तु भक्ति हर किसी को मिलती भी तो नहीं, केवल उसी को मिलती है जिस पर भगवान का अनुग्रह होता है।[३] सच तो यह है कि "भगवान् को केवल प्रेम (भक्ति) प्यारा है।[४]" प्रेम के कारण ही भक्त भगवान् में और भगवान् भक्त में निवास करते हैं। भरत भक्ति की इसी स्थिति में हैं। भरत के प्रेम ने राम को इतना मुग्ध कर लिया है कि "जगत् राम को जपता है और राम भरत को जपते हैं। प्रेम का यह आकर्षण, भक्ति का यह जादू भगवान् ने गीता में स्वयं स्वीकार किया है। वे कहते हैं: "यद्यपि मैं सब प्राणियों में समभाव से रहता हूँ, मुझे किसी से राग-द्वेष नहीं है, किन्तु जो मुझे भक्तिपूर्वक भजते हैं वे मुझमें और मैं उनमें रहता हूँ।" तुलसीदास ने भगवान् की इस प्रवृत्ति को बृहस्पति के मुख से इन्द्र के प्रति इन शब्दों में व्यक्त करवाया है: "यद्यपि राम समदर्शी हैं, उन्हें किसी के प्रति राग-द्वेष नहीं है, वे किसी के पाप पुण्य या गुण-दोष को ग्रहण नहीं करते, उन्होंने सारे संसार के लिए कर्म प्रधान कर रक्खा है, जो जैसा करता है वैसा फल पाता

१—देखिये, सूरदास :

"नाहिन रह्यो हिय महं ठौर।
नन्दनन्दन अछत कैसे आनिये उर और।"

२—देखिये, रहीम :

प्रेम हरी को रूप है, त्यों हरि प्रेम सरूप।
एकहि ह्वै द्वै में लसै, ज्यों सूरज अरु धूप।

३—तुम्हरिहि कृपा तुम्हहिं रघुनन्दन।
जानहिं भगत भगत उर चन्दन।

रा० च० मा०, पृ० ४६४

तु० की०, "भगवत्कृपालेशाद्वा" ना० भ० सू०, ३८

४—रा० च० मा०, पृ० ४७२ : "रामहिं केवल प्रेम पियारा,,
तु० की, महाभारत, १२·३४३·५४-५५

५—रा० च० मा०, पृ० ५४४ "भरत सरिस को राम सनेही।
जगु जप राम रामु जप जेही।"
तु० की. गीता ६·२६ ,मयि ते तेषु चाप्यहम्'

६—गीता ६·२६

है, तथापि वे भक्त-अभक्त के हृदय के अनुसार सम-विषम विहार करते हैं।[1]" "उन्हें अपने दास से अधिक प्रीति होती है।[2]"

भक्ति पापों को नष्ट कर देती है। भगवान् की शरण में आजाने पर पापी भी पुण्यात्मा हो जाते हैं। अपावन को पावन करना, अशरण को शरण देना तथा अरक्षित की रक्षा करना भगवान् का स्वभाव है। इसी भाव को व्यक्त करते हुए रामचरित मानस में भरत राम से कहते हैं : "हे नाथ आपकी रीति, सुन्दर स्वभाव और बड़ाई जगत् में विख्यात है। इनकी वेद शास्त्रों में बड़ी प्रशंसा है। क्रूर, कुटिल, दुष्ट, कुमति, कलंकी, नीच, निःशील, निरीश और निःशंक को भी, सामने शरण में आया हुआ सुनकर, एक बार प्रणाम करते ही, आप तुरन्त अपना लेते हैं। उनके दोषों को हृदय में न लाकर आप उनके गुणों की ही प्रशंसा साधु मंडली में करते हैं।[3]" गीता में भगवान् ने भक्ति की महिमा और अपने स्वभाव का ऐसा ही वर्णन किया है।

भक्ति-रस का स्वाद ले लेने पर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष सब तुच्छ एवं हेय दीख पड़ते हैं। भक्त तो शरीर की उपयोगिता तक भक्ति के सम्बन्ध से ही मानता है। यदि इस शरीर का उपयोग भगवान् की भक्ति के लिए नहीं हुआ तो यह व्यर्थ है। अतः तुलसीदास कहते हैं "जिन्होंने अपने कानों से भगवान् की कथा नहीं सुनी उनके कान साँप के बिल के समान हैं। जिन्होंने अपनी आँखों से संतों के दर्शन नहीं किये उनकी आँखें मोरपंख पर बनी हुई आँखों के समान हैं। वे शिर, जो हरि गुरु के पद मूल में नहीं झुकते, कड़वी तूँबी के समान हैं। जिन्होंने अपने हृदय में ईश्वर भक्ति को धारण नहीं किया वे प्राणी जीवित दशा में भी मृतक के समान हैं। जो जीभ राम के गुणों का गान नहीं करती वह मेंढक की जीभ के समान है। वह हृदय वज्र से भी अधिक कठोर है जो हरि-चरित्र को सुन कर गद्‌गद नहीं होता।[4] भक्ति के बिना शरीर की व्यर्थता का ऐसा ही वर्णन भागवत[5] में मिलता है। सम्भवतः भक्तों में यह भाव-परंपरा बना कर चला आया है। दादू भी भक्ति के बिना जीवन को व्यर्थ समझते हुए कहते हैं : "यदि जीवन भक्ति से सरक्षित नहीं है तो करोड़ वर्षों तक जीवित रहने अथवा अमर होने से भी क्या लाभ ?[6]"

१—रा० च० मा०, पृ० ५४५ २—देखिये, रा० च० मा०, पृ० ६६१

३—रा० च० मा०, पृ० ६१७ : तु० की, गीता १८'६६ तथा ६'३०

४—रा० च० मा०, पृ० ११५ ५—देखिये, भाग० २. ३ २०-२४

६—दा० बा० I, पृ० ६६ पं० १२ १३

भक्ति के साधन

संस्कृत साहित्य के भक्ति ग्रंथों में भक्ति के अनेक साधनों का वर्णन मिलता है जिनमें सत्संग को प्रमुख माना गया है। सत्संग की महिमा का वर्णन करते हुए स्वयं भगवान् कृष्ण उद्धव से कहते हैं: "जगत् में जितनी आसक्तियाँ हैं उन्हें सत्सग नष्ट कर देता है। यही कारण है कि सत्सग मेरी प्रसन्नता का, मुझे वश में कर लेने का, जैसा सफल साधन है, वैसा साधन न योग है, न साख्य, न धर्म-पालन और न स्वाध्याय। तपस्या, त्याग, इष्टापूर्त और दक्षिणा से भी मैं वैसा प्रसन्न नहीं होता। कहाँ तक कहूँ व्रत, यज्ञ, वेद, तीर्थ और यम-नियम भी सत्संग के समान मुझे वश में करने में समर्थ नहीं है।[1]" सतसग अमोघ[2] होता है। उसके अमित प्रभाव को सब भक्त एक मत से मानते चले आये हैं। तुलसीदास कहते हैं: "प्राणी भक्ति को, जो स्वतंत्र और सकल सुखों का आकर है, सत्संग बिना नहीं पाते।[3]" इसका कारण बतलाते हुए वे कहते हैं: "सत्सग बिना भगवद्वार्ता नहीं होती, भगवद्वार्ता बिना मोह नहीं मिटता, और मोह का नाश हुए बिना भगवान् के चरणों में दृढ़ प्रेम नहीं होता। बिना प्रेम के योग, जप, ज्ञान, वैराग्य आदि साधनों से भी भगवान् की प्राप्ति नहीं होती।[4]" "यदि स्वर्ग और मोक्ष के सुखों को एक साथ एक पलड़े में और पलभर के सत्संग के सुख को दूसरे पलड़े में रखकर तोला जाय तो वे सत्संग के बराबर नहीं हो सकते;[5]" परन्तु क्षण भर का सत्संग भी दुर्लभ है।[6]" सत्संग की प्राप्ति बड़े भाग्य से होती है और उससे प्रयास बिना ही भव-बन्धन (आवागमन) नष्ट हो जाता है।[7] सच यह है कि "सत्संग के समान दूसरा कोई लाभ नहीं है, परन्तु वह भगवान् की कृपा से ही होता है।[8]"

सत स्वयं अनन्य भक्त होता है, इसीलिए सत समागम से भक्ति का प्रादुर्भाव होता है।[9] भक्ति साहित्य में सत और भगवान् में अंतर नहीं माना गया।

१—भाग० ११. १२-१-२   २—देखिये, ना० भ० सू०, ३९

३—रा० च० मा०, पृ० १०२०   ४—रा० च० मा०, पृ० १०३५

५—रा० च० मा०, पृ० ७५७ : तु० की, भाग० १ १८ १३

६—रा० च० मा०, पृ० ११११२ : तु० की०, ना० भ० सू० ३९

७—रा० च० मा०, पृ० १००९   ८—रा० च० मा०, पृ० १११५ तथा वि० प०, स्तु० १३६, पद १०, पं० ३ तु० की०, ना० भ० सू०, ४०

९—देखिये, रै० बा०, पृ० ३७, पं० २३ : तु० की, अ० रा०, अर०, कां०, ३,३७ ३९ तथा रा० च० मा०, पृ० ६६८ भगति तात अनुपम सुख मूला, मिलइ जो संत होहिं अनुकूला,

विनयपत्रिका[1] में 'संत भगवंत अतर निरंतर नहीं किमपि' से और सूरसागर[2] में 'हरि हरिभक्त एक नहिं दोई' से भगवान् और सन्त (भक्त) की एकता प्रकट की गई है। "साधु प्रतषि देव[3] है" से हम कबीर के हृदय में साधुओं (संतों) के प्रति इसी भावना का दर्शन करते हैं। संत समागम और भगवत् समागम दोनों अन्योन्याश्रय हैं। पहले से दूसरे की और दूसरे से पहले की प्राप्ति होती है,[4]। "साधु-संतों की सेवा से हरि प्रसन्न होते हैं[5]।" भगवान् भक्तों के वश में हैं। भगवान् को पाने के लिए भक्तों (संतों) से प्रेम बढ़ाना चाहिये[6]। कबीर 'साधुसंगति को ही वैकुंठ' कहते हैं।[7]

गुरु को भी भक्ति का एक साधन माना गया है। यों तो गुरु संतों की श्रेणी में होने से भक्ति का सत्संग से अलग साधन नहीं बनता, परन्तु शिष्य के साथ गुरु का संबंध सामान्य संत की अपेक्षा प्रगाढ़तर होता है, अतः भक्ति-ग्रंथों में गुरु का निरूपण भक्ति के पृथक् साधन के रूप में किया गया है। हिन्दी-साहित्य ने गुरु की महिमा को उसी प्रकार अक्षुण्ण रक्खा है जिस प्रकार वह संस्कृत साहित्य में मिलती है। भक्त का धर्म सीखने के लिए साधक को गुरु की बड़ी आवश्यकता होती है। दूसरी बात यह है कि गुरु अपने अनुभव के रहस्य का उद्घाटन करके शिष्य के साधन-पथ को परिशुद्ध बना देता है। भगवान् को प्रसन्न करने वाले भाव और आचरण की क्रियात्मक शिक्षा शिष्य को गुरु से ही मिलती है।[8]

सद्गुरु के मिलने से संशय और भ्रम समूह मिट जाता है।[9]" मनुष्य शरीर इस संसार सागर में एक पोत है, भगवान् का अनुग्रह अनुकूल पवन है और सद्गुरु उसका केवट है।[10] गुरु की आवश्यकता और कृपा का वर्णन उपनिषदों[11] ने भी किया है। शंकर श्वेताश्वतर उपनिषद के भाष्य में गुरु महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं: "जैसे तपे हुए मस्तक वाले पुरुष के लिए जलाशय के खोजने के सिवा

१—वि० प०, पद ५७, अंतिम पंक्ति २—सू० सा०, पृ० ३२, पद १६६
३—क० ग्रं०, पृ० ४४, पं० ५ तथा पृ० २७३, ३०
४—देखिये, दा० बा०, I, पृ० ६४, पं० २२
५—व्यासजीः भ० मा० सा०, पृ० २११
६—देखिये, सू० सा०, पृ० २४, पद १२७
७—क० ग्रं०, पृ० २६३, ६८: तु० कीः अ० रा० अ० कां०, ३,३६
८—देखिये, भाग० ११,३, २१-२२
९—रा० च० मा०, पृ० ७३५ १०—रा० च० मा०, पृ० १०१६
११—देखिये, श्वे० उप०, ६,२३

और कोई उपाय नहीं है तथा क्षुधातुर पुरुष को भोजन के सिवा और कोई उसकी शान्ति का साधन नहीं है, उसी प्रकार गुरु-कृपा के बिना ब्रह्मविद्या का प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है।[1]" गीता[2] में गुरु पूजा को शारीरिक तपों में परिगणित किया गया है। तुलसीदास ने अपनी रचनाओं में गुरु को कुछ कम सम्मान नहीं दिया। उन्होंने गुरु को न केवल हरि-भक्ति का साधन कहा है वरन् गुरु की पूजा को हरि-भक्ति का ही एक प्रकार बतलाया है[3]। गुरु-पूजा को हरि-पूजा कहकर तुलसीदास ने कोई नया मार्ग तैयार नहीं किया। अध्यात्म रामायण[4] के रचयिता की भी गुरु-पूजा के संबंध में यही भावना रही है। गुरु-महिमा का वर्णन करते हुए तुलसीदास कहते हैं: "जो गुरु के चरणों की धूलि को शिर पर धारण करते हैं, गुरु के प्रति श्रद्धावान् हैं, वे मानों सकल वैभव को आत्मसात् कर लेते हैं।[5]" मलूकदास गुरु के प्रति श्रद्धा इन शब्दों में व्यक्त करते हैं: "केवल गुरु शब्दों में विश्वास-ही संसार सागर से पार ले जा सकता है।[6]" नानक का कहना है कि "गुरु-सेवा से सब सन्तापों का नाश हो जाता है।[7]"

भारतीय संस्कृति के इतिहास से विदित होता है कि वैदिक काल से ही गुरु को अनुपम श्रद्धा और विश्वास का केन्द्र माना गया है। गुरु को जितनी मान्यता वैष्णव सम्प्रदायों में दी गई है अवैष्णव-संप्रदायों में भी संभवतः उससे कुछ कम नहीं दी गई। योग-सम्प्रदायों में तो गुरु को और भी अधिक महत्व दिया गया दीख पड़ता है, क्योंकि क्रियापरक होने से योगमार्ग की सफलता गुरु के मार्गदर्शन से संबंधित रहती है। शिवसंहिता[8] में गुरु को पिता, माता और साक्षात् देव माना गया है तथा मन, वाणी और कर्म से गुरु की सेवा करने का उपदेश दिया गया है। कबीर पंथ में गुरु को योगपरंपरा[9] के अनुकूल ही महत्व दिया गया है। संभवतः कबीर-पंथ ने गुरु-महत्व को नाथपंथ से पैतृक सम्पत्ति के रूप में ही ग्रहण किया है।

'यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ' इस वाक्य से श्वेताश्वतर उपनिषद (६.२३) ने प्राचीन काल में ही गुरु को देव-समता प्रदान कर दी थी। धीरे-धीरे

१—देखिये, श्वे० उप०, ६,२३ 'शांकर भाष्य,' २—गीता, १७,१४
३—देखिये, रा० च० मा०, पृ० ६६८, दो० ४२
४—देखिये, अ० रा०, १०, २४ ५—रा० च० मा०, पृ० ३५४
६—म० बा०, पृ० १८, पं० ७ ७—प्रा० सं०, पृ० २२५, पं० ६
८—शि० सं०, ३,१३
९—देखिये डाक्टर पी० डी० बड़थ्वाल: दी निर्गुण स्कूल आफ हिन्दी पोएट्री: पृ० १६७ फुटनोट

भेद हट गया और गुरु और देव में अभेद हो गया।[१] अभेद की यही भावना हमें हिन्दी के भक्त-कवियों के हृदय में मिलती है, 'गुरु गोविंद तो एक है' कहकर कबीर[२] ने दोनों में अभेद ही स्वीकार किया है। वल्लभ सम्प्रदाय[३] में भी अभेद ही माना गया है। दोनों का अभेद स्वीकार करते हुए भी कबीर और तुलसीदास गुरु की दिशा में कुछ और प्रगति कर गये हैं। तुलसीदास कहते हैं: "विधाता के कोप से गुरु रक्षा कर सकते हैं, परन्तु गुरु के विरोध से रक्षा करने वाला जगत् में कोई नहीं है।[४]" तुलसीदास ने तो गुरु को केवल विधाता से ही बड़ा दिखलाया है, किन्तु कबीर गुरु को और बड़ा सिद्ध करने की चेष्टा करते हुए कहते हैं: "वे मनुष्य, जो गुरु को और कहते हैं, अंधे हैं, याद रहे हरि के रूठने पर गुरु का आश्रय रहता है, परन्तु गुरु के रूठने पर कहीं आश्रय नहीं मिल सकता।[५]"

भक्ति के अनेक साधनों में से पूर्वोक्त दो ही प्रमुख हैं। इनके महत्व का अनुमान इसी से हो सकता है कि कुछ भक्ति-ग्रथों में इन्हें (सत्संग और गुरुसेवा) भक्ति के प्रकारों में स्थान दिया गया है। भागवत में तो भगवान् ने उद्धव के प्रति भक्ति के अनेक साधनों का निरूपण इस प्रकार किया है: "जो मेरी भक्ति प्राप्त करना चाहता हो वह मेरी अमृतमयी कथा में श्रद्धा रक्खे, निरन्तर मेरे गुण, लीला और नामों का संकीर्तन करे, मेरी पूजा में अत्यन्त निष्ठा रक्खे और स्तोत्रों के द्वारा मेरी स्तुति करे। मेरी सेवा-पूजा में प्रेम रक्खे और सामने साष्टांग लेटकर प्रणाम करे; मेरे भक्तों की पूजा मेरी पूजा से बढ़कर करे और समस्त प्राणियों में मुझे ही देखे। अपने एक-एक अंग की चेष्टा केवल मेरे ही लिए करे; वाणी से मेरे ही गुणों का गायन करे और अपना मन भी मुझे ही अर्पित कर दे। मेरी प्राप्ति की कामना के अतिरिक्त सारी कामनाएँ छोड़ दे; मेरे लिए धन, भोग और प्राप्त सुख का भी परित्याग कर दे और जो कुछ यज्ञ, दान हवन, जप, व्रत और तप किया जाय वह सब मेरे लिए ही करे। उद्धव जी! जो मनुष्य इन धर्मों का पालन करते हैं और मेरे प्रति आत्मनिवेदन कर देते हैं, उनके हृदय में मेरी प्रेममयी भक्ति का उदय होता है।[६]" अध्यात्म रामायण में भक्ति के उक्त साधन राम ने लक्ष्मण को संक्षेप में इस प्रकार कहे हैं: "मेरे भक्त का संग करना, निरन्तर मेरी और मेरे भक्तों की सेवा करना, एकादशी आदि का व्रत करना, मेरे पर्व-दिनों को मनाना, मेरी कथा के सुनने, पढ़ने और उसकी व्याख्या

१—देखिये, शि० सं० ३,१३ २—क० ग्रं०, पृ० ३,२६

३—देखिये, अ० पदा० पृ० ८३, १४०, १७६, २०४, २२४

४—रा० च० मा०, पृ० १६० ५—क० ग्रं०, पृ० २,४

६—भाग० ११,१९ २०—२४

करने में सदा प्रेम करना, मेरी पूजा में तत्पर रहना, मेरा नाम कीर्तन करना— इस प्रकार जो निरन्तर मुझमें लगे रहते हैं उनकी मुझमें अविचल भक्ति अवश्य हो जाती है।[१]" तुलसीदास ने संभवतः इन दोनों से भाव लेकर अपने ढंग से राम द्वारा संक्षेप में इस प्रकार कहलाया है : "पहले तो ब्राह्मणों के चरणों में अत्यन्त प्रीति हो और वेदोक्त विधि से अपने अपने धर्म में तत्परता हो, इसका फल फिर यह हो कि विषयों में वैराग्य हो जाय। जब वैराग्य उत्पन्न हो जाता है, तब मेरे धर्म (भगवद्धर्म) में अनुराग उत्पन्न हो जाता है, श्रवणादिक नौ प्रकार की भक्ति दृढ़ हो जाती है और चित्त में मेरी लीलाओं पर अतिशय प्रीति हो जाती है। साथ ही सन्तों के चरण कमलों में अत्यन्त प्रेम हो; मन, कर्म और वचन से भजन करने का दृढ़ नियम हो; मुझे गुरु, पिता, माता, बन्धु, पति और देवता आदि सब कुछ जाने और दृढ़ता से मेरी सेवा करे; मेरे गुण गाते हुए शरीर पुलकित हो जाय; वाणी गद्‌गद हो जाय; कामादि, मद और दंभ से रहित हो जाय; हे तात! मैं निरन्तर ऐसे मनुष्य के वश में रहता हूँ, जिनको मन, वचन और कर्म से मेरी ही गति है, जो निष्काम होकर मेरा भजन करते हैं, मैं उन लोगों के हृदय कमल में सदा विश्राम करता हूँ।[२]"

भक्ति के साधनों के वर्णन में तुलसीदास ने जो विशेष बात कही है वह है ब्राह्मणों की सेवा। निःसन्देह तुलसीदास ने ब्राह्मणों को वही सम्मान प्रदान किया है जो उन्हें सनातन धर्म में परंपरा से मिलता चला आया है। गीता में भगवान् कृष्ण ने भी ब्राह्मणों की पूजा की शारीरिक तपस्याओं[३] में गणना की है। भागवत में नारद युधिष्ठिर को ब्राह्मणों का गौरव दिखलाते हुए कहते हैं—"हे युधिष्ठिर! मनुष्यों में भी ब्राह्मण विशेष सुपात्र हैं, क्योंकि वह अपनी तपस्या, विद्या और सन्तोष आदि गुणों से भगवान् के वेदरूप शरीर को ही धारण करता है। महाराज! हमारी और आपकी तो बात ही क्या? ब्राह्मण तो सर्वात्मा भगवान् श्रीकृष्ण तक के इष्टदेव हैं। उनके चरणों की धूलि से तीनों लोक पवित्र होते हैं।'[४]

निर्गुण कवियों के अतिरिक्त उन सब भक्तों ने, जो वैदिक धर्म में आस्था रखते हैं, ब्राह्मणों का महत्व स्वीकार किया है। कबीर आदि ने जहाँ अवतारवाद का खंडन किया है वहाँ तीर्थादि और जाति-पाँति को भी पाखंड एवं ढकोसलामात्र कहा है। कबीर कहते हैं : "सब एक ज्योति से उत्पन्न हुए हैं,

---

१—अ० रा०, अर० कां०, ४.४८—५०   २—रा० च० मा०, पृ० ६६८-६६

३—देखिये, गीता १७.१४   ४—भागवत ७.१४.४२

फिर कौन ब्राह्मण और कौन शूद्र[1]"? नानक भी जाति-पांति का खंडन करते हुए 'ब्राह्मण' की परिभाषा करते हैं कि "ब्राह्मण वही है जो ब्रह्म को पहचाने।[2]"

भक्ति के प्रकार

भागवत में भक्ति को 'नवलक्षणा[3]' और अध्यात्म रामायण में उसे 'नवविधा[4]' कहा गया है। तुलसीदास आदि ने भक्ति को 'नवधा[5]' कहा है। हिन्दी भक्ति काव्य में भक्ति के साथ 'नवधा शब्द भक्ति के नौ प्रकारों की ओर संकेत करता है। भागवत में 'नवलक्षणा' शब्द का प्रयोग भी इसी अर्थ में हुआ प्रतीत होता है; किन्तु अध्यात्म रामायण में 'नवविधा' का प्रयोग स्पष्टतः 'नवसाधना' के अर्थ में हुआ है। हम नहीं कह सकते कि 'साधन' शब्द ('विधा') प्रकार का कहाँ तक पर्यायी है, परन्तु अध्यात्म रामायण में दोनों शब्द एक ही अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। कुछ भी सही, भक्ति ग्रथों मे भक्ति के कई साधनों और प्रकारों में सामान्यतया अभेद ही माना गया है यथा, सत्संग भक्ति का साधन भी है और प्रकार भी।

यदि साधन और प्रकार के विवाद को छोड़कर भागवत की 'नवलक्षणा' और अध्यात्म रामायण की 'नवविधा' भक्ति के रूप की तुलनात्मक परीक्षा करें तो पूर्ण साम्य नहीं मिलता। जिस अन्तर से भक्ति के प्रकारों को उक्त ग्रंथों में प्रस्तुत किया गया है, लगभग उसी अन्तर से उन्हें हिन्दी-भक्ति काव्य में रक्खा गया है। तुलसीदास अध्यात्म रामायण की ओर झुके रहे हैं और केशवदास, परमानंददास आदि भागवत का दृढता से पक्ष ग्रहण किये रहे हैं।

भागवत[6] में भक्ति के नौ भेद ये माने गये हैं: श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन। विज्ञान[7] गीता में केशव ने इन्हीं नौ भेदों का वर्णन किया है। यहीं पर केशव ने भक्ति से कुछ साहित्य की ओर भी प्रगति दिखलाई है। उन्होंने भक्ति को नवरस मिश्रित प्रमाणित

१—क० ग्रं०, पृ० १०६,५७ २—प्रा० स०, पृ० २३२, पं० १

३—देखिये, भागवतः ७,५,२३ "भक्तिश्चेन्नवलक्षणा,"

४—देखिये, अ० रा०, अर० का०, १०,२७: "एवं नवविधा भक्ति।"

५—देखिये, रा० च० मा०, पृ० ६६८: "नवधा भगति कहउँ तोहि पाहीं" तथा, अ० छा० पदा० परमानददास पृ० ६६, पद ३०: "ताते नवधाभक्ति भली।"

६—"भागवतः ७.५.२३: श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनं।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।

७—देखिये, वि० गी०, पृ० २३५-३६: छंद १७२-१७४

करने की चेष्टा की है तथा श्रवण को अद्भुत से, स्मरण को करुण से, दास्य को जुगुप्सा से, पाद सेवन को भयानक से, वदन को वीर से, अर्चन को शृंगार से, सख्य को हास्य से, कीर्तन को रौद्र से और आत्मनिवेदन को शान्त से संबंधित किया है। परमानंददास[1] ने भी भक्ति के ये ही नौ प्रकार स्वीकार किये हैं। उन्होंने अपने एक पद में उक्त नौ भेदों को उदाहरणों-द्वारा इस प्रकार व्यक्त किया है: "नवधा भक्ति योगादि सबसे अच्छी है। जिस-जिसने इस (भक्ति) मार्ग को पकड़ा है, वह अनन्य भाव से इस पर चलता रहा है। श्रवण से राजर्षि परीक्षित का उद्धार हो गया, कीर्तन से शुकदेवजी कृतकृत्य हो गये, स्मरण ने प्रहलाद को निर्भय कर दिया, कमला ने पाद-सेवन से, पृथु ने अर्चन से, अक्रूर ने वंदन से, हनुमान ने हास्य से और अर्जुन ने सख्य से भगवान् को वश में कर लिया और बलि ने आत्म-समर्पण-द्वारा हरि को अपने पास बुला लिया।"

तुलसीदास ने भक्ति के नौ प्रकारों को इस प्रकार प्रस्तुत किया है: "पहली भक्ति संतों की संगति करना है। भगवत्कथा के प्रसंगों में प्रीति रखना दूसरी भक्ति है। निरभिमान होकर गुरु के चरण कमलों की सेवा करना तीसरी और निष्कपट भाव से भगवद्गुणों का गान करना चौथी भक्ति है। दृढ़ विश्वास के साथ मेरे मंत्र का जप करना पाँचवीं भक्ति है जिसका वर्णन वेद[2] में भी आया है। छठी भक्ति है दम (इन्द्रिय-निग्रह करना), शील, विरति और सदाचार में तत्परता। समदृष्टि होकर जगत् को भगवन्मय देखना और भगवान् से भी अधिक भक्तों (संतों) की पूजा करना सातवीं भक्ति है। यथा लाभ सन्तुष्ट रहना एवं कभी परदोष-दर्शन न करना आठवीं भक्ति है और सबके साथ सरल एवं निश्छल भाव रखना तथा हर्ष विषाद छोड़कर हृदय में भगवान् का पूरा भरोसा रखना नवीं भक्ति है।[3]"

१—देखिये, अ० पदा० (परमानंददास) पृ० ६६, पद ३०

२—संभवतः अनेक बार 'वेद' शब्द से तुलसीदास का अभिप्राय 'गीता' या 'भागवत' से भी रहा है।

३—रा० च० मा०, पृ० ६६८:

" प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा।
गुरु पद पंकज सेवा, तीसरि भगति अमान।
चौथि भगति मम गुनगन, करइ कपट तजि गान।
मंत्र जाप मम दृढ विश्वासा। पंचम भजन सो वेद प्रकासा।
छठ-दम सील बिरति बहुकर्मा। निरत निरंतर सज्जन धर्मा।
सातव सम मोहिमय जग देखा। मो ते संत अधिक करि लेखा।

भक्ति के उक्त प्रकारों के लिखने में गोस्वामीजी का झुकाव अध्यात्म रामायण[1] ही की ओर प्रतीत होता है क्योंकि मानस में वर्णित नवधा भक्ति का पहला, दूसरा, तीसरा, चौथा और पाँचवाँ भेद अध्यात्म रामायण के पहले, दूसरे, पाँचवें तीसरे और सातवें भेद से क्रमशः मिलता है। तुलसीदास ने छठें और मानवें भेद की रचना अध्यात्म रामायण के छठें और आठवें भेद के सम्मिलित आधार पर की है। आठवें भेद में मानसकार ने अपनी मौलिकता का समावेश किया है और नवें भेद में आत्म-निवेदन के लक्षण हैं जिसका वर्णन भागवत ने भक्ति के नौ भेदों के अन्तर्गत किया है। इस प्रकार तुलसीदास ने भक्ति के नौ भेदों में अपने ढंग की एक आकर्षक क्रान्ति पैदा कर दी है।

संभवतः संत कवियों के भक्ति निरूपण में 'कथा रति' के सिवा तुलसीदास की नवधा भक्ति के सब उपकरण मिल सकते हैं। यद्यपि नारद, अम्बरीष आदि भक्तों की कथाओं की ओर संकेत करके कबीर आदि ने उक्त अभाव की किसी अंश तक पूर्ति की है, पर सिद्धान्तरूप से वे कथादि में विश्वास नहीं रखते। वे प्रेम-मार्ग के पथिक हैं। उन्होंने केवल 'प्रेम भगति' का पल्ला पकड़ रक्खा है। इसी को वे 'नारदी भगति[2]' कहते हैं और इसी को 'भाव भगति[3]' आदि

आठव जथा लाभ संतोषा। सपनेहु नहिं देखइ परदोषा।
नवम सरल सब सन छलहीना। मम भरोस हिय हरष न दीना।"

१—देखिये, अ० रा०, अर० का०, १०.२२-२७
सतां संगतिरेवात्र साधनं प्रथमं स्मृतम्।
द्वितीयं मत्कथालापस्तृतीयं मद्गुणेरणम्।
व्याख्यातृत्वं मद्वचसां चतुर्थं साधनं भवेत्।
आचार्योपासनं भद्रे मद्बुद्ध्यामायया सदा।
पंचमं पुण्यशीलत्वं यमादि नियमादि च।
निष्ठा मत्पूजने नित्यं षष्ठं साधनमीरितम्।
मम मन्त्रोपासकत्वं साङ्गं सप्तममुच्यते।
मद्भक्तेष्वधिका पूजा सर्वभूतेषु मन्मतिः
बाह्यार्थेषु विरागित्व शमादिसहितं तथा।
अष्टमं नवमं तत्वविचारो मम भामिनि।
एवं नवविधा भक्तिः साधन यस्य कस्य वा।

२—देखिये, क० ग्रं०, 'भगति नारदी मगन सरीरा,' पृ० ८३.२७८

३—देखिये, क० ग्र०, पृ० २४५ "भाव भगति विसवास बिन, कटे न संसे सूल।'

अन्य नामों से भी पुकारते हैं। भक्ति के भेदों की ओर उन लोगों की रुचि कहीं स्पष्टतः व्यक्त नहीं होती।

भक्ति में नाम की महिमा

नाम की महिमा सब धर्मों में स्वीकार की गई है। हिन्दू-भक्ति-सम्प्रदायों में तो उसकी और भी अधिक मान्यता है। नाम के हाथ में बड़ी शक्ति मानी जाती है। ऐसा कौन सा संकट है जो नाम से न कट सकता हो? इसमें भवोच्छेदन तक की अमोघ शक्ति बतलाई जाती है। इसकी शक्ति को प्रमाणित करने के लिए भक्ति साहित्य में से 'अजामिल' जैसे कितने ही उदाहरण दिये जा सकते हैं।

ऐतिहासिक दृष्टि से भी नाम का गौरव बहुत प्राचीन दीख पड़ता है। मैं समझता हूँ सनातन धर्म के प्रभात काल में ही प्रणव ने 'नाम' के नाम पर अपना झंडा फहरा दिया था। समय समय पर जैसी जैसी वायु की प्रेरणा हुई इसका रुख भी (विष्णु, कृष्ण, राम आदि नामों के रूप में) बदलता रहा। नाम का विकासकाल संभवतः 'विष्णु सहस्रनाम' के रचनाकाल के आसपास आता है और उत्तरकालीन वैष्णव साहित्य में इसका महत्व बढ़ता ही चला जाता है। हिन्दी के भक्ति-साहित्य पर 'नाम' संबन्धी प्रभाव डालने में संस्कृत साहित्य के साथ साथ परम्परा का भी हाथ रहा है।

'नाम' को हिन्दी के निर्गुण काव्य में सगुण काव्य से कम गौरव नहीं मिला है, परन्तु दृष्टिकोण भिन्न रहे हैं। चाहे जिस पवित्र समझे जाने वाले शब्द को तोते की तरह रट डालने को निर्गुण कवि 'नाम सुमिरन' नहीं मानते। वे ऐसे नाम स्मरण को हृदय से घृणा करते प्रतीत होते हैं। उनके मतानुसार वास्तविक शक्ति भाव में है, नाम में नहीं; नाम तो भाव का बाह्य संकेत मात्र है। उन पंडितों के संबंध में जो नाम में ही शक्ति बतलाते हैं, कबीर कहते हैं: "पंडित मिथ्या बकते हैं। यदि राम कहने मात्र से जगत को मुक्ति मिल जाय तो खाड कहने से मुख भी मीठा हो जाना चाहिए। यदि पावक के कहने से पाँव जल जाय अथवा जल कहने से तृषा शान्त हो जाय और भोजन कहने से भूख का निवारण हो जाय तो मुक्ति भी सब किसी को मिल जाय[1]।" इससे स्पष्ट है कि नाम स्मरण ओठों से करने की वस्तु नहीं है, हृदय से होना चाहिए। "पढ़ाने वाले के साथ-साथ तोता

१—पंडित बाद बदन्ते झूठा।
राम कह्याँ दुनियाँ गति पावै, षाँड कह्याँ मुख मीठा।
पावक कह्याँ पाव जे दाझै, जल कहि त्रिषा बुझाई।
भोजन कह्याँ भूख जे भाजै, तौ सब कोई तिरि जाई।
क० ग्रं० पृ० १०१-४०

भी हरि नाम बोलता है, किन्तु वह हरि के वैभव को नहीं जानता और यदि कभी उड़कर वन में पहुँच जाए तो नाम का उसे कभी स्मरण भी न आएगा[१] ।" कबीर कहते हैं कि "राम-नाम जपनेवालों को भी काल घसीटे ले जा रहा है[२] ।" यदि केवल राम में शक्ति होती तो मृत्यु का इतना धृष्ट साहस न होता। इसलिए यह सिद्ध है कि निर्गुण मत में नाम स्मरण का मूल प्रेम माना गया है। प्रेम या भाव के बिना उसका कोई मूल्य नहीं है। तुलसीदास को यह मान्य नहीं है[३]। भागवत के स्वर में वे कहते हैं कि "नाम सब प्रकार से सर्वत्र कल्याण करने वाला है, चाहे उसे कोई भाव से ले या कुभाव से, क्रोध में ले अथवा आलस्य में[४] ।"

अस्तु, निर्गुण और सगुण कवियों का नाम-स्मरण के सम्बन्ध में कुछ भी सिद्धान्त हो, नाम की महिमा का गान दोनों ने एक स्वर से किया है। नाम के सम्बन्ध से भक्त कवियों के दो पक्ष दीख पड़ते हैं: 'राम'-भक्त और 'कृष्ण'-भक्त। सगुण मत की रामाश्रयी शाखा के कवि तथा निर्गुण कवि 'रामनाम' के भक्त हैं और कृष्णाश्रयी शाखा के कवि 'कृष्णनाम' के भक्त हैं, किन्तु इन दोनों के बीच में कोई गहरी अन्तर-रेखा नहीं खींची जा सकती। 'रामनाम'-भक्तों ने स्वतन्त्रता से हरि, वासुदेव आदि नामों का प्रयोग किया है, उसी प्रकार सूरदास आदि कृष्णनाम-भक्तों ने रामनाम का प्रयोग खुलकर किया है। गिरिधर गोपाल का इष्ट रखने वाली मीरां स्मरण के समय राम और कृष्ण में कोई अन्तर नहीं समझती।

उस असीम परमात्मा के अनन्त नाम हो सकते हैं। विष्णु सहस्रनाम इसका प्रमाण है, किन्तु कबीर राम[५] के पक्ष में हैं। वे लोगों को 'रा' का टोप और 'म' का कवच बनाने[६] "का उपदेश देकर परमार्थ की रक्षा का साधन बतलाते

१—नर कै साथि सूवा हरि बोलै, हरि परताप न जानै।
जो कबहूँ उड़ि जाइ जंगल में, बहुरि न सुरतै आनै।
क० ग्रं० पृ० १०१-४०

२—रामहिं राम जपंतडॉ, काल घसीट्याँ जाइ।
क० ग्रं०, पृ० ३७-१८

३—भाग० १२-१२-४६ तथा ६-२-१४

४—रा० च० मा० पृ० ३५, भाय कुभाय अनख आलस हूँ।
नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ।

५—देखिये, क० ग्रं०, पृ० १८३ : "ररा ममां दोई आखिर तारा।
कहे कबीर तिहूँ लोक पियारा।

६—'ररा करि टोप ममां करि बखतर' क०, ग्रं०, पृ० २०६.३५०

हैं। कबीर के पीछे, तुलसी साहिब और शिवदयाल को छोड़कर, लगभग सभी निर्गुणियों ने अभ्यास के लिये राम नाम को ही स्वीकार किया है[१]।

संस्कृत-भक्ति-साहित्य में नाम को शक्ति का आकार माना गया है। भागवत में बताया गया है कि "भवजाल में भटकता हुआ जीव भगवान् के पावन नाम के स्मरण से तुरन्त ही मुक्त हो जाता है।[२]" विष्णु पुराण में "श्रीकृष्ण स्मरण को तपस्यात्मक और कर्मात्मक सब प्रायश्चितों में सर्वश्रेष्ठ[३]" कहा गया है। अध्यात्म रामायण का कहना है कि "हरिनाम का स्मरण करके अज्ञजन भी हरि में लीन हो जाते हैं।[४]" "जिसकी वाणी एक क्षण भी 'राम राम' ऐसा सुमधुर गान करती है वह ब्रह्मघाती अथवा मद्यपी भी क्यों न हो, समस्त पापों से छूट जाता है।[५]" "भगवान् के नाम के सुनने या जपने से चाण्डाल भी पुण्यात्मा ब्राह्मणों के समान पूज्य हो जाते हैं।[६]" रामनाम के प्रभाव से ही वाल्मीकि ने ब्रह्मर्षि पद प्राप्त कर लिया[७] और अजामिल जैसे अनेक पापी राम-नाम लेकर पार हो गये।[८]

इसी प्रकार अन्य भक्ति ग्रंथों में भी 'नाम महिमा' का निरूपण मिला है। सबके आधार पर नाम महिमा को हम निम्न बिन्दुओं में रख सकते हैं, १—नाम कर्मों का नाश करता है, २—पापियों को पावन करता है, ३—भवसागर से तारता है, ४—सब पुण्यों की सम्मिलित शक्ति से इसकी शक्ति बड़ी है, और ५—यह अशरण का शरण है।

हिन्दी भक्ति-काव्य इन्हीं बिन्दुओं को लेकर चला है। कबीर राम-नाम की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि "यदि नाम थोड़ा भी मुख पर आ जाय तो कोटि कर्मों का जाल एक क्षण भर में नष्ट हो जाता है। 'राम' के बिना कहीं विश्राम नहीं मिलता, चाहे कोई अनेक युगों तक पुण्य क्यों न करता रहे।[९]"

१—देखिये, पी० डी० बडथ्वाल, नि० स्कू० आफ हिं० पो०, पृ० १२४

२—भाग० १.१. १४ ३—वि० पु० २.६.३७

४—अ० रा०, अर० कां०. ७ १६ ५—अ० रा०, कि० कां०, १.८४

६—भाग० ३.३ ३७ ७—देखिये, अ० रा. अयो० कां० ६.६४

८—देखिये, क० ग्रं०, पृ० १६६, पं० १७-१८

९—क० ग्रं०, पृ ६ :

कोटि क्रम पेले पलक में, जे रंचक आवे नाउँ।
अनेक जुग जे पुन्नि करै, नहीं राम बिन ठाउँ।

अन्यत्र कबीर[1] "नाम को भवसागर से तरने के लिये 'पोत'" कहते हैं। रैदास को विश्वास है कि "नाम के सहारे अनेक अधम जीवों का उद्धार हो चुका है और कितने ही पतित नाम के संसर्ग से पावन हो गये हैं।[2]" नाम के मूल्य का अंकन करते हुए नानक कहते हैं: "जो नाम को सदैव हृदय में रखते हैं उनका श्रम अवश्य सफल होगा तथा उनके मुख उज्ज्वल होकर चमकेंगे।[3]"

सूरदास भगवान् के पावन[4] नाम में "अशरण को शरण देने की एवं अधम का उद्धार करने की शक्ति" बतलाते हैं।[5] उन्हें ऐसे किसी प्राणी का ज्ञान नहीं जिसने एक बार भी नाम लिया हो और उसका उद्धार न हुआ हो।[6] अतएव वे रामनाम को बड़ी शरण मानते हैं।[7] गदाधर भट्ट "नाम के प्रताप को प्रबल पावक कहते हैं जिसमें महा महापापों तक के दाह की अमोघ शक्ति है।[8]

भागवत ने तार स्वर से घोषणा कर रक्खी है कि जब कलयुग में ध्यान, मखादि का नाम भी न होगा तब भगवन्नाम ही उनका काम सफलता से करता

१—क० ग्रं०, पृ० २४१, पं० १७:

सिरजनहार नाउँ धूँ तेरा, भौ सागर तिरवे कूँ मेरा।

२—रै० बा० पृ० २१, प १४-१५:

अनेक अधम जिव नाम गुन ऊधरै।
पतित पावन भये परसि सारं।

३ नानक: जपजी, अन्तिम दोहा, निर्गुण स्कूल आफ हिन्दी पोएट्री पृ० १०३ में उद्धृत

४—देखिये, सूरसागर: पृ० १५, पद ७२:

"पतितन में विख्यात पतित हौं पावन नाम तुम्हारो।"

५—देखिये, सूरसागर: पृ० १५, पद ६६:

तुम कृपाल करुणानिधि केशव अधम उधारन नाउँ।
× × ×
अशरण शरण नाम तुम्हरो हौ कामी कुटिल सुभाउँ।

६—देखिये, सूरसागर, पृ० ६, पद २७:

द्विज पतित मतिहीन गनिका गुन लौलीन करत अघ खीन पूतना प्रहारे।
सकृत निज हरिनाम जिन लियो अवशि कर दूरि को को न तारे।

७—देखिये, सूरसागर, पृ० २३, पद १२०: 'बड़ी है राम नाम की ओट।

८—देखिये, ब्रज माधुरी सार, पृ० ११३:

हेम हरन द्विज द्रोह मान मद, अरु पर गुरु दारागम।
नाम प्रताप प्रबल पावक के, होत जतात सलभ सम।

रहेगा।[१] इसी को ध्यान में रखकर तुलसीदास कहते हैं : "जो गति कृतयुग में पूजा से, त्रेता में मख से और द्वापर में योग से मिलती है, वही कलियुग में नाम द्वारा मिल जाती है।[२]" यही बात केशव कहते हैं कि "जब सब वेद पुराण नष्ट हो जायँगे (वेदाचार को लोग भूल जायँगे) जप, तप, तीर्थादि भी मिट जायँगे (इनमें भी लोगों की श्रद्धा न रहेगी), गो ब्राह्मण की कोई चिन्ता न करेगा, उस समय कलियुग में भी केवल नाम ही उद्धार करना रहेगा।[३]" गदाधर भट्ट 'हरिनाम' को ऐसा मंत्र कहते हैं जिसके बिना कलिकाल रूपी कराल व्याल की विष-ज्वाला से मुक्ति नहीं हो सकती।[४] इतना ही नहीं, राम-नाम महामंत्र है जिसका जप महेश नित्य करते रहते हैं और जिसका उपदेश काशी में मुक्ति का कारण बना रहता है।[५] नाम की महिमा गाते गाते जब गोस्वामीजी को किसी प्रकार भी सन्तोष नहीं हुआ तो वे यहाँ तक कह गये कि "नाम ब्रह्म और राम से भी बड़ा है"।[६]

१—देखिये, भाग० १२.३.५२ :

कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्।

२—रा० च० मा०, पृ० १०७७ :

कृत युग त्रेता द्वापर, पूजा मख अरु जोग।
जो गति होइ सो कलि विषै, नाम ते पावहिं लोग।

३—रा० चं०, २६, ८:

जब सब वेद पुराण नसैहैं। जप तप तीरथ हू मिटि जैहैं
द्विज सुरभी नहिं कोउ विचारैं। तब जग केवल नाम उधारैं।
तु० की, ना० पुराण, १, ४१, ११५

४—ब्र० मा० सा०, पृ० ११३।

इहि कलिकाल कराल व्याल विष ज्वाल विषम भोये हम।
बिनु इहि मन्त्र गदाधर कौ क्यों, मिटि है मोह महातम।

५—रा० च० मा०, पृ० २७।

महामन्त्र जोइ जपत महेसू।
कासी मुकति हेतु उपदेसू।
तु० की०, अ० रा०, यु० कां०, १५, ६२

६—देखिये, रा० च० मा०, पृ० : 'ब्रह्म राम ते नामु बड़'।
तु० की०, "राम त्वत्तोधिकं नाम"
विनयपत्रिका (स्तुति २२८) में वियोगी हरि द्वारा उद्धृत।

राम के पूछने पर वाल्मीकि ऋषि ने जो उनके निवास योग्य स्थान बताया है वह भक्त का हृदय है। ऋषि के भक्तिपूर्ण उत्तर में

भक्त के गुण — भक्त के लक्षण इस प्रकार दिये गये हैं :

"जिनके श्रवण समुद्र के समान हैं और आपकी नाना कथाएँ उनमें सरिताओं के समान निरन्तर भरती रहती हैं, तो भी वे पूर्ण नहीं होते, जिन्होंने आपके दर्शनरूपी जलधर की अभिलाषा से अपने नेत्रों को चातक बना रक्खा है, जो अनेक नदियों, समुद्रों और भारी सरोवरों का निरादर करके आपके रूप-बिन्दु से ही सुखी रहते हैं, जिनकी जीभ रूपी मराली आपके यशरूपी निर्मल मानसरोवर में से गुणगण रूपी मुक्ताओं को चुनती रहती है, जिनकी नासिका आपके प्रसाद की शुचि एवं सुभग सुवास को नित्यप्रति आदरपूर्वक ग्रहण करती है जो आपको भोग लगाकर भोजन करते हैं, आपको चढ़ाकर वस्त्र और आभूषण धारण करते हैं, जो देवता, गुरु अथवा ब्राह्मण को देखकर विनय और प्रेम से प्रणाम करते हैं, जो अपने हाथों से सदैव भगवच्चरणों की पूजा करते रहते हैं, जिन्हें राम के सिवा और किसी का भरोसा नहीं है जिनके चरण चलकर रामतीर्थों में जाते हैं, जो आपके मन्त्रराज (राम-नाम) को नित्य जपते हैं और परिवारसहित आपकी पूजा करते हैं, जो नाना प्रकार के तर्पण, होमादि करते हैं, ब्राह्मणों को भोजन कराके बहुत सा दान देते हैं, जो आपसे भी अधिक अपने गुरु को मानकर बड़े सम्मान से उनकी सेवा करते हैं, जो इन सब कर्मों का यही फल माँगते हैं कि राम के चरणों में रति हो, जिनके मन में न काम है न क्रोध, न मद है न मान, न मोह है न लोभ, न स्नेह है न द्रोह, न कपट है न दम्भ और न क्षोभ है न माया, जो सबके प्रिय और हितकारी हैं, जिनको दुःख-सुख और निन्दा-स्तुति समान है, जो विचार पूर्वक सत्य और प्रिय वचन कहते हैं और सोते जागते आपकी शरण में रहते हैं, जिनका आपके सिवा दूसरा आश्रय नहीं है, जो दूसरे की सम्पत्ति को देखकर प्रसन्न होते हैं और दूसरे की विपत्ति देखकर भारी दुःखी होते हैं और जिनको आप प्राणों के समान प्रिय हैं, जिनके आप ही स्वामी, सखा, पिता, माता और गुरु हैं, जो सबके अवगुणों को छोड़कर गुणों को ग्रहण करते हैं, जो ब्राह्मणों और गौओं के लिए संकट भी सह लेते हैं, जो नीति में निपुण हैं और जगत् में जिनकी मर्यादा है, जो आपके गुणों और अपने दोषों को समझते हैं, जिन्हें सब प्रकार से आपमें विश्वास है, जो जाति-पाँति, धन, धर्म, प्रशंसा, प्रियजन, और सुखद सदन को भी त्याग कर आप ही में दत्तचित्त रहते हैं, जिनके लिए स्वर्ग, नरक और मोक्ष समान है, जो सर्वत्र शर-चाप-धर आपही को देखते हैं, जो कभी कुछ भी नहीं चाहते, जिनको आपसे सहज

स्नेह है, उनके मनमन्दिर में आप निरन्तर निवास कीजिए[1]"। वे आपके सच्चे भक्त हैं। भक्तोचित गुणों की यह सूची तुलसीदास ने अध्यात्म रामायण[2] के अनुकरण में तैयार की है। वाल्मीकि ऋषि ने वहाँ भी ऐसी ही लम्बी-चौड़ी 'भक्त-गुण-सूचनिका' भगवान् राम के सामने प्रस्तुत की है।

कबीर एक संक्षिप्त सूची में भक्तों के ऐसे ही गुणों की ओर संकेत करते हुए कहते हैं:—"राम का भक्त उसे समझना चाहिए जिसे आतुरता पीड़ित न करती हो, जो सत्य, संतोष और धैर्य से युक्त हो, जो काम, क्रोध, तृष्णादि से मुक्त होकर आनन्दपूर्वक हरि-गुण-गान करता हो, जो पर-निन्दा और असत्य से दूर रहता हो, जिसे काल का भय न रहा हो और भगवच्चरणों में चित्त रखता हो, जो समदृष्टि और शांत हो और जिसे द्विविधा न सताती हो[3]।" गीता[4] में भगवान् कृष्ण ने भी भक्त के इन सब गुणों का विस्तारपूर्वक निरूपण किया है।

भक्त का एकमात्र परम गुण यह है कि वह भगवान् की सेवा के सिवा सालोक्यादि की भी इच्छा नहीं करता[5]। अतः भक्ति को ही सर्वस्व समझने वाले तुलसीदास "निर्वाण पद का तिरस्कार कर देते हैं[6]" वे केवल भगवान् की 'अनपावनी[7]' भक्ति माँगते हैं।

भक्तों की कोटियाँ

"जिस प्रकार एक ही जल भिन्न-भिन्न वर्णों से मिल कर भिन्न-भिन्न प्रकार का हो जाता है उसी प्रकार एक ही भक्ति विभिन्न गुणाश्रय से भिन्न-भिन्न रूप की बन जाती है। तीन गुणों में से किसी एक की प्रधानता से भक्त सत्वगुणी, रजोगुणी अथवा तमोगुणी होता है। पहला मुक्ति चाहता है, दूसरा सांसारिक सुख चाहता है और धन, परिवार आदि में अनुराग रखता है, और तीसरा ईर्ष्यादि दोषों से मुक्त नहीं हो पाता, वह चाहता है कि किसी प्रकार उसका वैरी मर जाए।" भक्तों की उक्त कोटियाँ गुणाश्रित हैं। चौथी कोटि के भक्त काम। से ऊपर उठ जाते हैं, उन्हें कुछ चाह नहीं रहती। सूरदास ऐसे भक्त को "सुधा भक्त कहते हैं। वह मन, वाणी और कर्म से भगवान् की सेवा में ही लीन रहता है।

१—रा० च० मा०, पृ० ४६५-४६८
२—देखिये, अ० रा०, अयो० का०, ६. ५४-६३
३—क० ग्रं०, पृ० २०६. २६३ ४—देखिये, गीता, ११२ १३-१६
५—देखिये, भाग० ६ ४. ६७ ४, ६७ तथा अ० रा०, उत्तर कां०, ७७. ६६ ६६
६—'पद न चहौं निर्वाण' रा० च० मा० ७—'भक्ति देहु अनपावनी' ,,

सांसारिक इच्छाओं का तो कहना ही क्या वह मुक्ति की इच्छा का भी तिरस्कार कर देता है। ऐसा भक्त भगवान् का अति प्रिय होता है। वह उससे क्षणमात्र के लिए भी अलग नहीं रहता। भगवान् उसके लिए और वह भगवान् के लिए होता है। उसके समान भगवान् का और कोई नहीं होता। सकाम भक्त जो कुछ माँगते हैं भगवान् उन्हें वही देते हैं, किन्तु अनन्य भक्त निष्काम होता है। उसे किसी प्रकार की इच्छा नहीं होती, अतः भगवान् भी सकुचाते रहते हैं। उसका न कोई मित्र होता है और न शत्रु। हरि की माया, जो सबको सतप्त रखती है, उसे व्याप्त नहीं होती[1]।"

भक्तों की उपर्युक्त कोटियों का वर्णन भागवत[2] और अध्यात्म रामायण[3] दोनों में मिलता है।

गीता से प्रभावित होकर तुलसीदास[4] ने रामचरितमानस में भक्तों की

१—देखिये, सूरसागर, पृ० ५२-५३, पद १३

भक्तिउ पुनि बहु बिधि होई, ज्यों जल रंग मिलि रंग सु होई।
भक्त सात्विकी चाहत मुक्ति, रजोगुणी धन कुटुंब अनुरक्ति।
तमोगुणी चाहै या भाई, मम बैरी क्योंही मर जाई।
सुधा भक्त मोहिं को चाहै, मुक्तिहि को नाहीं अवगाहै।
मन, क्रम, वच मम सेवा करैं, ममते भव आशा परिहरैं।
ऐसो भक्त सदा मोहिं प्यारो। इक छन जाते रहौं न न्यारो।
ताके मैं हित मम हित सोई। जा सब मेरो और न कोई।

तु० की०, गीता ६, ३०

त्रिविध भक्त मेरे हैं जोई। जो मागै तिहिं देहुँ मैं सोई।
भक्त अनन्य कछू नहिं माँगै। तातै मोहि सकुच अति लागै।
ऐसो भक्त जानिहैं जोई। जाके शत्रु मित्र नहिं होई।
हरिमाया सब जग संतापे। ताको माया मोह न व्यापै।

२—देखिये, भाग० ३. २९. ८-१३ ३—देखिये, अ० रा०, उ० कां, ७. ६०-६७

३—देखिये, गीताः ७.१६ :

चतुर्विधा भजन्ते मा जना सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्ति र्विशिष्यते।
प्रियोऽहि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं सच मम प्रियः।

४—देखिये, रा० च० मा०, पृ० ३० :

जाना चहहिं गूढ़गति जेऊ। नाम जीह जपि जानहिं तेऊ।

कोटियाँ भिन्न प्रकार से प्रस्तुत की हैं। उन्होंने आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु एवं ज्ञानी के भेद से भक्तों के चार वर्ग तैयार किये हैं। आर्तजन दुःख से पीछा छुड़ाने के लिए भगवद्भजन करते हैं। जिज्ञासु भगवद्ज्ञान की इच्छा से भगवान् की भक्ति करते हैं। अर्थार्थी अणिमादिक सिद्धियाँ पाने के लोभ से भक्ति में प्रवेश करते हैं। ज्ञानी निष्काम भाव से भगवान् की भक्ति करते हैं।"

भक्ति के अन्तराय

जिस प्रकार सत्संग भक्ति का साधक है उसी प्रकार असत्संग भक्ति का बाधक है। यह भक्ति का सबसे अधिक भयानक शत्रु है। भक्ति-ग्रंथों ने इसे[1] भक्ति पथ का भीषण अन्तराय निश्चित किया है। नारद-भक्ति-सूत्र में दुःसंग को सर्वथा त्याज्य कहा गया है। नारद पांचरात्रम् का कहना है कि "अभक्तों से बातचीत करने, उनके शरीर को छूने, उनके साथ सोने या खाने से भी पाप लगता है, हमें उनसे उसी प्रकार दूर भागना चाहिए जैसे हम कराल विषधर से भागते हैं।[2]"

तुलसीदास को भी दुःसगति से घृणा है। वे कहते हैं: "विधाता दुःष्ट की सगति न दे, इससे तो नरक का वास कहीं अच्छा है।[3]" कबीर का कहना है कि "कुसंगति में पड़कर मनुष्य अपना मूल-नाश कर लेता है वैसे ही जैसे कि भूमि के विकारों से मिलकर आकाश की बूंद अपनी निर्मलता खो बैठती है।"[4]

भक्ति मार्ग में दूसरी बड़ी बाधा पड़ती है मन में कामादि के निवास से।[5]

साधक नाम जपहिं लउ लाए। होहिं सिद्ध अनिमादिक पाए।
जपहिं नामु जन आरत भारी। मिटहि कुसंकट होहिं सुखारी।
रामभगत जग चारि प्रकारा। सुकृती चारिउ अनघ उदारा।
चहूँ चतुर कहँ नाम अधारा। ग्यानी प्रभुहिं बिसेषि पियारा।

१—देखिये, ना० भ० सू० ४३ : "दुःसंगः सर्वथैव त्याज्यः"

२—देखिये, ना० पां० रा०-२ २.६

३—रा० [illegible] मा० :
"दुष्ट संग जनि देहु बिधाता। इहि ते भलो नरक को बासा।"

४—क० ग्रं०, पृ० ४७ :
"निरमल बूंद अकास की, पड़ि गई भोमि बिकार।
मूल बिनंठा मानवा, बिन संगति भठछार।"

५—देखिये, अ० रा०, यु० कां०, ८. ४५ :
"कामक्रोधादयस्तत्र बहवः परिपन्थिनः"

"वे चित्त को सदैव उसी प्रकार भयभीत करते रहते हैं जैसे बिल्ली चूहे को।[१]" कामादि की भूख कभी शान्त नहीं होती, ये मनुष्य के भीषण शत्रु हैं।[२] जब तक इनसे पीछा नहीं छूटता मनुष्य सत्पथ पर चल नहीं सकता। इसीलिए तुलसीदास कहते हैं : "जब तक पंडित के मन में काम, क्रोध, मद, लोभ आदि बसे हुए हैं तब तक वह मूर्ख के समान है।[३]" कामादि के वश में पड़ कर वह भी उसी अधम मार्ग पर चलता है जिस पर मूर्ख चलता है, फिर अन्तर कहाँ से आया? कबीर ने इस वर्ग में से तीन, (काम, क्रोध, लोभ) को अति घृणित समझा है। वे कहते हैं : भगवान् उन्हीं को मिलाता है जो काम, क्रोध और तृष्णा का परित्याग कर देते हैं।[४]" काम, क्रोध और लोभ को घातक समझ कर ही नारद[५] ने स्त्री, धन, नास्तिक और वैरी का चरित्र सुनने के लिए मना किया है। ठीक है, काम, क्रोध, लोभ मद आदि सभी प्रबल मोह की धाराएँ हैं, किन्तु उनमें अत्यन्त कठिन दुःख देने वाली मायारूपिणी स्त्री है।[६] स्त्री काम को जाग्रत करती है जो ज्ञान को ढक कर देहधारी को बेसुध कर देता है।[७] कामादि की प्रबल भयंकरता स्वयं सिद्ध है, पर दुःसंगति से ये शीघ्र भड़क उठते हैं।

भक्ति का अन्य शत्रु वाद-विवाद है। परमात्मा की प्राप्ति (अथवा उसका

१—अ० रा०, यु० कां०, ८. ४६ :

"भीषयन्ति सदा चेतो मार्जारो मूषकं यथा।"

२—देखिये, गीता, ३. ३७।

३—तु० दोहावली :

"काम क्रोध मद लोभ की जब लगि मन में खान।
तब लगि पंडित मूरखो तुलसी एक समान।"

४—क० ग्रं०, पृ० १०।

"काम, क्रोध, त्रिष्णां तजै, ताहि मिलै भगवान्"

५—देखिये, ना० भ० सू०, ६३ :

"स्त्रीधननास्तिकवैरिचरित्रं न श्रवणीयम्।"

६—देखिये, रा० च० मा०, पृ० ७०७ :

काम, क्रोध, लोभादि-मद, प्रबल मोह कै धारि।
तिन्ह महँ अति दारुन दुखद माया रूपी नारि।

७—देखिये, गीता ३. ४० :

"एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्।"

ज्ञान) तर्क से नहीं होती। इसी कारण कठोपनिषद्[1] में तर्क का निषेध किया गया है। नारद[2] भी अपने भक्तिसूत्र में 'वाद' को वर्जनीय कहते हैं। कबीर ने 'वाद' को भक्ति का विरोधी समझ कर ही उसे अपने आचरण से निकाल दिया है। वे कहते हैं: "मैं वाद नहीं करता और न मैं वाद करना जानता ही हूँ, क्योंकि मैंने विद्या नहीं पढ़ी। मैं तो हरि के गुणों के गाने और सुनने में ही मस्त हूँ।[3]" तुलसीदास भगवत्तत्व जानने वाले विरक्त पुरुषों का एक बड़ा लक्षण यह बतलाते हैं कि वे सब तर्कों को छोड़कर एक राम का भजन करते हैं।[4]

भक्ति की उत्कृष्टता

भक्ति मानव जीवन का सर्वोत्तम मार्ग और सुनिश्चित लक्ष्य है। इसकी उत्कृष्टता सर्वत्र स्वीकार की गई है, स्वयं फलस्वरूपा होने से इसकी अमोघता असंदिग्ध है। मार्ग रूप में यह सबसे अधिक सरल है। अन्य मार्ग इतने लम्बे, टेढ़े और अरक्षित हैं कि कभी कभी उन पर चलना असम्भव हो जाता है और कभी कभी वे इतने धुँधले और अनिश्चित होते हैं कि साधक भ्रम में पड़ जाता है, किन्तु भक्ति मार्ग ऐसा स्वर्ण पथ है कि उसमें पद पद पर साधक के सामने स्वर्णिम लक्ष्य रहता है। यह मार्ग प्रेम का सरस पथ है जो कष्ट, दुःख, भय, विपत्ति आदि से रहित है। पथ दर्शक यहाँ है, रक्षक यहाँ है और यहाँ है समक्ष ही भक्त का लक्ष्य, फिर उसे किस बात की चिन्ता ? भय कैसा ? भक्त को यदि कुछ करना है तो वह भगवान् के प्रति अपने अनन्य प्रेम की रक्षा। उमड़ते हुये प्रेम की लहरें हरि के चरण-रसनिधि में मिलती रहें, बस इतना ही तो वह चाहता है और इसी में है उसका आनन्द। उन चरणों को छोड़कर प्रेम कहीं दूसरी जगह न जाए, बस यही तो अनन्यता है और "अनन्य भक्त को ही भगवान् के दर्शन होते हैं जो न वेद से, न तप से, न दान से और न यज्ञ से ही हो सकते हैं[5]।" इससे भक्ति की उत्कृष्टता स्पष्ट है। नारद ने 'सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा' से भक्ति की उत्कृष्टता की ही पुष्टि की है। भक्ति उत्कृष्ट इसलिए है

१—क० उप० : १.२.६ : "नैषा तर्केण मतिरापनेयः"

२—ना० भ० सू०, ७४ : "वादो नावलम्ब्यः"

३—क० ग्रं०, पृ० १३५. १४७ : विद्या पढूं न वाद नहिं जानूं।
हरिगुन कथत-सुनत बौरानूं

४—देखिये, रा० च० मा० :
अस विचारि जे तज्ञ विरागी।
रामहिं भजहिं तरक सब त्यागी।

५—देखिये, गीता, ११'५३-५४

कि इससे संसार-बंधन सहज ही में कट जाता है जब कि यज्ञ, दान, जप तथा इष्टापूर्त आदि कर्मों से वह टूटने के बजाय दृढ़ होता जाता है[१]। सुग्रीव की इस अनुरागोक्ति (अध्यात्म रामायण में) के तीखेपन को मानों हलका करते हुए तुलसीदास विनयपत्रिका में कहते हैं "श्रुति ने शुद्धि के व्रत, दान, ज्ञान, तप आदि अनेक साधन बतलाये हैं, पर राम के चरणों में अनुराग किये बिना मल का अतिनाश नहीं होता[२]।" भक्ति के बिना जप, तप आदि को व्यर्थ बताते हुए कबीर कहते हैं :—"यदि भगवान् के प्रति प्रेम भाव न हुआ तो जप, तप, व्रत, संयम, तीर्थ, स्नान आदि से भी क्या लाभ[३] ?"

स्वय फलरूप और परमार्थ (highest value) होने से भक्ति के सिवा और कुछ वांछनीय नहीं रहता। भागवत में भगवान् ने स्वयं कहा है—"जो कुछ कर्म, तप, ज्ञान, वैराग्य, योग, दानधर्म या अन्य पुण्यों से प्राप्त हो सकता है उस सब को मेरा भक्त भक्ति द्वारा सहज ही (easily) में प्राप्त कर लेता है, पर विशेषता यह है कि मेरा अनन्य भक्त तो कैवल्य मोक्ष तक को नहीं चाहता।[४]" भक्त का प्रेम भगवान् के चरणों के सिवा और कहीं नहीं जाता। भगवान् के सिवा उसे और सब कुछ हेय एवं अवस्तु दीखता है। अतएव नन्ददास के भँवरगीत में गोपियाँ कहती हैं :—'हे उद्धव ! ब्रह्मज्योति क्या है ? ज्ञान किसे कहते हो ? (रक्खो यह सब कुछ अपने पास, हमें कोई कुटिल मार्ग स्वीकार नहीं करना है)। हमारा तो प्रेम का सीधा मार्ग है। नहीं जानते-श्यामसुन्दर के नेत्रवाणी, श्रुति, नासिका—उनके मोहनरूप ने हमें मुग्ध कर रक्खा है ? मुरली की तो कहें क्या ? उसने प्रेम के जादू से हमें बेसुध बना दिया है[५]।" इसलिए "हे उद्धव ! योग की शिक्षा

१—देखिये, अ० रा०, कि० कां०, १ ८०-८१

२—देखिये, वि० प०, स्तुति ८२, पं० ७-८ :

तुलसीदास व्रत दान ज्ञान तप, सुद्धि हेतु स्रुति गावै।
राम चरन अनुराग नीर बिनु, मल अतिनास न पावै।

३—क० ग्र०, पृ० १२६.१२१ :

क्या जप क्या तप संजमां, क्या तीरथ व्रत अस्नान।
जौपै जुगति न जानियै, भाव भगति भगवान्।

तु० को०, अ० रा०, यु० का०, ७ ६७ : "भक्तिहीनेन यत्किंचित्कृतं सर्वमसत्समम्।"

४—देखिये, भाग० ११.२०.३२-३५

५—नंददास, पृ०, १२५ (भंवरगीत) :

कौन ब्रह्म की जोति ? ग्यान कासों कहौ उधौ।
हमरे सुन्दर स्याम, प्रेम को मारग सूधौ।

उसे देना जो उनके उपयुक्त हो। हमारे पास (यदि कुछ कहना चाहते हो) तो प्रेम पूर्वक नन्दनन्दन का गुण गान करो। (हमें और कुछ अच्छा नहीं लगता)।[1]

भक्ति और ज्ञान

ज्ञान का लक्ष्य मुक्ति है जो साधक को आत्मज्ञान और आत्मा तथा ब्रह्म के ऐक्य की अनुभूति में मिलती है। जो भक्ति के बिना ब्रह्म का ध्यान करता है उसे निर्विशेष ब्रह्म का ज्ञान होता है। इससे साधक का निर्गुण ब्रह्म के साथ तादात्म्य हो जाता है, किंतु यह अवस्था बड़े प्रयास से प्राप्त होती है, फिर भी इसमें भगवान् की पूर्णता का साक्षात्कार नहीं होता, केवल उसकी निर्विशेष सत्ता का ज्ञान होता है। भक्ति में भगवान् का पूर्ण चित्र सामने आता है। भक्त निर्गुण को सगुण, अव्यक्त को व्यक्त रूप में देखकर भगवान् की पूर्णता का साक्षात्कार करता है[2]।

भक्ति को ज्ञान से उत्कृष्ट सिद्ध करने के लिए तुलसीदास ने निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किए हैं :—

१—भक्त और ज्ञानी दोनों परमात्मा के पुत्र हैं, किन्तु भक्त शिशु के समान है और ज्ञानी प्रौढ़ पुत्र के समान। जिस प्रकार माँ को अपने शिशु की अधिक चिन्ता होती है उसी प्रकार भगवान् को भक्त की अधिक चिंता होती है[3]।

२—ज्ञान का कहना कठिन है, समझना कठिन है और साधना कठिन है। यदि घुणाक्षरन्याय से वह कभी बन भी जाय तो फिर पीछे उसमें अनेक विघ्न होते हैं। ज्ञान मार्ग तलवार की धार है, उससे गिरते देर नहीं लगती। इस

नैन, बैन, श्रुति, नासिका, मोहनरूप दिखाइ।
सुधि बुधि सब मुरली हरी, प्रेम ठगौरी लाइ।

१—नन्ददास, पृ० १२६ (भवरगीत) :

ताहि बतावहु जोग, जोग ऊधौ जेहि पावौ।
प्रेम सहित हम पास, नन्द नन्द गुन गावौ।

२—देखिये, सुशीलकुमार डे : वैष्णव फेथ एंड मूवमेंट—पृ० २७०-७१

३—देखिये, रा० च० मा०, पृ० ७०७:

मोरे प्रौढ़ तनय सम ग्यानी। बालक सुत सम दास अमानी।

× × ×

करउँ सदा तिन्हकै रखवारी। जिमि बालकहिं राख महतारी।

के निर्विघ्न तय हो जाने पर कैवल्य परमपद मिलता है, परन्तु वही मुक्ति भक्ति से बिना इच्छा किए भी हठपूर्वक आती है[1]।

३—माया भक्ति से अलग रहती है। ज्ञान, वैराग्य, योग, विज्ञान ये सब पुरुष जाति के हैं और माया स्त्री जाति की है, अतः इन पर उसकी आसक्ति हो सकती है और ये भी उस पर मुग्ध हो जाते हैं, क्योंकि कोई विरक्त और धीर-बुद्धि ही स्त्री को त्याग सकता है, जो कामी, विषयाधीन और राम के चरणों से विमुख है वे स्त्री के जाल में पड़ ही जाते हैं; किन्तु भक्ति स्त्री जाति की है। स्त्री का स्त्री के रूप के प्रति मोह नहीं होता, इस कारण माया भक्ति की ओर आकृष्ट नहीं होती[2]।

४—भगवान् की दृष्टि में भक्ति का पद माया से ऊँचा है। माया तो निश्चित रूप से भगवान् की नर्तकी है, किन्तु भक्ति भगवान् की प्रिया है। भगवान् भक्ति के अनुकूल रहते हैं, इसलिए माया भक्ति से सदा डरती रहती है।[3]

५—भगवान् का आकर्षण भक्ति की ओर सबसे अधिक होता है। उत्तरकांड (रा० च० मा०) में भगवान् ने स्वय कहा है: "भक्तिहीन चाहे ब्रह्मा ही क्यों न हों वे भी मुझे साधारण जीवों के समान ही प्रिय होंगे। भक्ति करने वाला चाहे नीच प्राणी भी हो, तो भी वह मुझे प्राणों से अधिक प्रिय होता है। सब जीवों में मुझे मनुष्य अधिक प्रिय लगते हैं। उनमें भी ब्राह्मण, ब्राह्मणों में भी वेद के जानने वाले, उनमें भी वेदज्ञ, उनमें भी विरक्त और विरक्तों में भी ज्ञानी

१—देखिये, रा० च० मा०, पृ० ११०२-११०३

२—देखिये, रा० च० मा०, पृ० १०६७ :

ग्यान, बिराग, जोग, बिग्याना। ए सब पुरुष सुनहु हरिजाना।
पुरुष प्रताप प्रबल सब भाँती। अबला अबल सहज जड़जाती।
पुरुष त्यागि सक नारिहिं, जो बिरक्त मतिधीर।
न तु कामी जो बिषयबस, बिमुख जो पद रघुबीर।
× × ×
मोह न नारि नारि कै रूपा, पन्नगारि यह रीति अनूपा।
माया भगति सुनहु तुम्ह दोऊ। नारिवर्ग जानहिं सब कोऊ।

३—रा० च० मा०, पृ० १०६७ :

पुनि रघुबीरहिं भगति पियारी।
माया खलु नर्तकी बिचारी।
भगतिहिं सानुकूल रघुराया।
ताते तेहि डरपति अति माया।

और उनमें भी आत्मज्ञानी मुझे प्रिय हैं। विज्ञानियों (आत्मज्ञानियों) से भी अधिक प्रिय मुझे अपने वे दास हैं, जिन्हें मेरी गति है और दूसरा कोई भी भरोसा नहीं है[1]।"

६—एक पिता के बहुत से पुत्र होते हैं, परन्तु उनके गुण, शील और आचरण अलग अलग होते हैं। उनमें से कोई पंडित, कोई तपस्वी, कोई ज्ञानी, कोई धनी, कोई योद्धा और कोई दानी होता है। कोई सर्वज्ञ और कोई धर्मरत होता है, परन्तु पिता का स्नेह सब पर समान होता है। कोई मन, वचन और कर्म से पिता का भक्त होता है और स्वप्न में भी दूसरे धर्म को नहीं जानता। वह पुत्र पिता को प्राण के समान प्यारा होता है, चाहे वह सब प्रकार से मूर्ख हो। इसी प्रकार तीन लोक में देवता, मनुष्य और राक्षसों-समेत जितने चराचर जीव हैं उनसे युक्त यह सम्पूर्ण जगत् मेरा उत्पन्न किया हुआ है। मुझे सब पर बराबर दया है। उन सबमें जो मद और माया को छोड़ कर मन, वचन और काया से मुझे भजता है वह स्त्री, पुरुष, नपुंसक, चर और अचर कोई भी हो, यदि भक्तिभाव से कपट छोड़कर मेरा भजन करता है, तो वह मुझे अत्यन्त प्रिय है। हे खग मैं तुझ से सत्य कहता हूँ, पवित्र सेवक मुझे प्राण के समान प्रिय है[2]।

१—रा० च० मा०, पृ० १०५०-१०६०:

भगतिहीन बिरंचि किन होई। सब जीवहु सम प्रिय मोहि सोई।
भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी।
सब मम प्रिय सब मम उपजाये। सब ते अधिक मनुज मोहि भाये।
तिन्ह महँ द्विज द्विज महँ स्रुतिधारी। तिन्ह महँ निगम धर्म अनुसारी।
तिन्ह महँ प्रिय बिरक्त पुनि ग्यानी। ग्यानिहुँ ते अति प्रिय बिग्यानी।
तिन्ह ते पुनि मोहि प्रिय निज दासा। जेहि गति मोरि न दूसरि आसा।
पुनि पुनि सत्य कहउँ तोहि पाहीं। मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं।

तु० की०, गीता, ६.२६

२—रा० च० मा०, पृ० १०६०-६१:

एक पिता के बिपुल कुमारा। होहिं पृथक गुन सील अचारा।
कोउ पंडित कोउ तापस ग्याता। कोउ धनवंत सूर कोउ दाता।
कोउ सर्बग्य धर्मरत कोई। सब पर प्रीति पितहिं सम होई।
कोउ पितु भगत बचन मन कर्मा। सपनेहु जान न दूसर धर्मा।
सो सुत प्रिय पितु प्रान समाना। जद्यपि सो सब भाँति अयाना।
एहि बिधि जीव चराचर जेते। त्रिजग देव नर असुर समेते।

७—माया की ग्रंथि खोलने के लिए प्रकाश चाहिए वह ज्ञान और भक्ति दोनों से मिल सकता है। ज्ञान दीपक के समान है और भक्ति चिन्तामणि के समान। ज्ञानदीपक विघ्न-पवन से बुझ सकता है, परन्तु भक्ति मणि अबाधरूप से प्रकाश करती रहती है[1]।

८—भक्ति के बिना ज्ञान का कोई मूल्य नही है। भक्ति हीन ज्ञान केवट-रहित नौका के समान है[2]। जो भक्ति के बिना निर्वाण पद चाहता है वह मनुष्य ज्ञानी होता हुआ भी पूँछ और सींग-रहित पशु के समान है[3]।

९—जो भक्ति को छोड़कर केवल ज्ञान के लिये श्रम करते हैं वे मानों घर में कामधेनु को छोड़कर आक के पेड़ से दूध लेने का प्रयास करते हैं[4]।

१०—भक्ति की सहायता के बिना भव-सागर से सतरण नहीं हो सकता

अखिल बिस्व यह मम उपजाया। सब पर मोहि बराबरि दाया।
तिन्ह महँ जो परिहरि मदमाया। भजहि मोहि मन बच अरु काया।
पुरुष नपुंसक नारि नर, जीव चराचर कोइ।
भगति भाव भजि कपट तजि, मोहि परम प्रिय सोइ।

१—देखिए, रा० च० मा० पृ० ११०२, ११०४ :
जब सो प्रभंजन उर गृह जाई। तबहि दीप बिग्यान बुझाई।
ग्रंथि न छूटि मिटा सो प्रकासा। बुद्धि बिकल भइ विषय बतासा।
× × ×
रामभगति चिंतामनि सुन्दर। बसइ गरुड़ जाके उर अन्तर।
परम प्रकास रूप दिन राती। नहिं कछु चहिय दिया घृत बाती।
× × ×
अचल अविद्या तम मिटि जाई। हारहिं सकल सलभ समुदाई।

२—रा० च० मा०, पृ० ५६७
सोह न राम प्रेम बिनु ग्यानू। करनधार बिनु जिमि जलजानू।

३—रा० च० मा०, पृ० १०५२:
रामचन्द्र के भजन बिनु, जो चह पद निर्बान।
ज्ञानवन्त अपि सो नर, पसु बिन पूछ बिषान।

४—रा० च० मा०, पृ० १०६६:
जे असि भगति जानि परिहरहीं। केवल ज्ञान हेतु स्रम करहीं।
ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी। खोजत आक फिरहि पय लागी।

यह अटल सिद्धान्त है[1]। इसके विरुद्ध, भक्ति स्वतन्त्र है, उसे किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं, ज्ञान-विज्ञान भक्ति पर आश्रित हैं[2]।

इस प्रकार तुलसीदास ने भक्ति के ज्ञान से ऊँचा सिद्ध किया है। भक्ति के भगवान् का पत्नीत्व देने में उन्होंने भागवत[3] का मत ग्रहण कर लिया है। साथ ही भागवत ने उन्हें भक्ति के ज्ञान, वैराग्यादि से ऊँचा कहने की आज्ञा भी दे दी है क्योंकि भागवत ने स्वयं कहा है कि "ज्ञान, वैराग्य आदि भक्ति के पुत्र[4] हैं और मुक्ति उसकी दासी है[5]।"

इस प्रकार सब सगुण[6] भक्तों ने भक्ति को ज्ञान से ऊँचा कहा है, परन्तु निर्गुण मत के सन्त, जिनका लक्ष्य मुक्ति है, ज्ञानमार्ग के पथिक हैं. फिर भी वे ज्ञानपथ पर भक्ति से अलग होकर नहीं चलना चाहते और कभी कभी तो वे भी भक्ति की वेदी पर ज्ञानादि के फल के भी बलिदान कर देते हैं।

भक्ति और योग

भक्ति साहित्य में योग को भक्ति से छोटा सिद्ध करने के लिए बड़े प्रबल तर्क प्रस्तुत किये गये हैं। चित्तवृत्ति निरोध, जिसकी योग शिक्षा देता है, भक्ति से स्वतः हो हो जाता है, इसी प्रकार भक्ति में लीन होने पर विरक्ति भी अपने आप ही आ जाती है।

मायाशक्ति के प्रभाव से जीव स्वरूप को भूलकर इस नामरूपात्मक जगत् के जाल में फँस जाता है, फलतः वह अपनी शान्ति को खो बैठता है। अष्टांगयोग की शिक्षा का लक्ष्य मन को अहंकार से मुक्त करके और निश्चल बनाके उसे असम्प्रज्ञात समाधि में प्रलीन कर देना है, जहाँ जीव माया से मुक्त होकर अपनी शुद्ध सत्ता की अनुभूति दिव्य चेतना (Divine Consciousness) के

१—रा० च० मा०, पृ० ११११:
बिनु हरि भजन न भव तरहिं, यह सिद्धान्त अपेल।

२—रा० च० मा०, पृ० ६६८
सो सुतन्त्र अवलम्ब न आना। तेहि आधीन ज्ञान विग्याना।

३—देखिये, भाग० माहात्म्य, २.३ ६. ४—देखिये, भाग० माहात्म्य, २.११

५—देखिये, भाग० माहात्म्य, २ २१

६—सूरदास और नन्ददास के भ्रमरगीतों में भी भक्ति को ज्ञान से ऊँचा पद दिया गया है। उद्धव पर गोपियों की विजय वस्तुतः 'निर्गुण' पर 'सगुण' मत की—ज्ञान पर भक्ति की—विजय है: देखिये, सूरसागर, पृ० ७१३, पद ३१ : "आयो हो निर्गुण उपदेशन भयौ सगुण को चेरौ।"

तात्त्विक परमाणु के रूप में (ब्रह्म के साथ ऐक्य में नहीं) करता है। इसलिये योगानुभूति ज्ञानानुभूति से उच्चतर होती है, क्योंकि निर्विशेष ब्रह्म की प्राप्ति से आगे सविशेष परमात्मा की ओर भी होती है। अन्त में उसके द्वारा (यदि योग को भक्ति की सहायता प्राप्त है) भगवान् का दर्शन भी हो जाता है। अतः "जहाँ योग भक्ति का साधन होता है, वहाँ उसका फल परमात्मा की सगुण मूर्ति का दर्शन होता है,[1]" इसलिए कुछ लोग उसे शान्ता भक्ति मान कर भक्ति ही का भेद बतलाते हैं। शुद्धा भक्ति, जिसमें भगवान् के साथ भक्त अपना भावात्मक सम्बन्ध (यथा, हास्य, सख्य, वात्सल्य अथवा माधुर्य) स्थापित कर लेता है, उससे कहीं ऊँची होती है।

"भक्ति के साथ योग की तुलना करना कचन के साथ काँच की तुलना करना है।[2]" भला भक्ति के बिना योग से भगवान् को किसने प्राप्त किया है ?[3] जब कि योगी ज्योति का ध्यान करता है, भक्त के लोचन भगवान् की सौन्दर्य-सुधा का पान करते रहते हैं।[4] "भक्त अपने हृदय से भगवान् के चरण कमलों को नहीं भुलाता, उनसे उसे बड़ी शीतलता मिलती है। योग के गभीर अंधकूपों को देखकर उसे डर लगता है[5]।" योग में लुभाने वाली कोई बात ही नहीं, जब कि भक्ति में आँख, कान, नाक—सबके लिये आकर्षण है।[6] योग के अपार

१—देखिये, सूरसागर, पृ० ६७०, पद २६ :

योग युगति साधिकै जे तप योगिनि योग सिरायौ।
ताहू को फल सगुण मूरति प्रगटहि दरशन पायौ।

२—सूरसागर, पृ० ७१७, पद ४३ :

"योग प्रेम रस कथा कहो कचन की कांचे।"

३—सूरसागर, पृ० ६६२, पद ८३: "योग सौ कौने हरि पाये।"

४—देखिये, नन्ददास भंवरगीत, पृ० १२७, पं० ८६ :

"जोगी जोतिहि भजै, भक्त निज रूपहि जानै।"

५—सूरसागर, पृ० ६७३, पद ५० :

"हरिपद कमल बिसारत नाहिंन शीतल उर संचरे।
योग गंभीर अन्धकूपन सों ताहि जु देखि डरे।

६—देखिये, सूरसागर, पृ ६७०, पद २८

"ए अलि कहा योग में नीको।
तजि रसरीति नन्दनन्दन को सिखवत निर्गुण फीको।
देखति सुनति नाहिं कछु श्रवणनि ज्योति ज्योति करि ध्यावति।
सुन्दर श्याम कृपालु दयानिधि कैसे हौ बिसरावति।

सिंधु में योगी को भगवान् कहीं नहीं मिल पाता, किन्तु यशोदा की भक्ति के कारण वे स्वय ऊखल से बँधने के लिए आते हैं।[1]

भक्ति और कर्म

भक्त की आँखो से कर्मों को भी तुच्छ ही देखा गया है। नन्ददास गोपियों से कहलाते हैं कि "हे उद्धव! प्रेम (भक्ति) में कर्म को मिलाना ठीक वैसा ही है जैसा अमृत में धूलि को मिलाना। सब कर्म तभी तक रहते हैं जब तक हृदय में हरि की स्थिति नही होती। कर्म जीव के विमुख होकर विश्व के बन्धन का कारण बनते हैं।"[2] यह बात नही कि केवल पापों से ही जीव बन्धन में पड़ता है, पुण्यों से भी उसी प्रकार जीव का बन्धन बनता है। पाप और पुण्य दोनों ही बन्धन हैं। पापकर्म यदि लोहे की बेड़ी है तो पुण्य सोने की। पुण्य कर्मों में बँध कर हम स्वर्ग में पड़ते हैं और पापो में बँधकर नरक में। सच तो यह है कि प्रेम के बिना विषयवासना के रोग से पीछा नही छूट सकता[3]। "पुण्य करने की दशा मे भी पापों का नाश नहा होता, वरन् रक्तबीज की तरह बढ़ते ही जाते हैं[4]।"

सुनि रसाल मुरली की सुर ध्वनि सुर मुनि कौतुक भूले।
अपनी भुजा ग्रीव पर मेली गोपिन के मन फूले।

१—सूरसागर, पृ० ६७१, पद ३५ :
"योगी योग अपार सिंधु में ढूँढे हू नहिं पावत।
इहाँ हरि प्रगट प्रेम यशुमति के ऊखल आप बँधावत।

२—देखिये. नन्ददास (भँवरगीत), पृ० १२६ :
"कर्म धर्म की बात, कर्म अधिकारी जानै।
कर्म धूरि को आनि, प्रेम अमृत मै सानै।
तब ही लौं सब कर्म है, जब लौं हरि उर नाहिं।
कर्मबंध सब बिस्व के, जीव बिमुख ह्वै जाहिं।"

३—देखिये, नन्ददास (भँवरगीत), पृ० १२७ :
"कर्म पाप अरु पुन्य, लौह सोने की बेरी।
पाइन बन्धन दोउ, कोउ मानौ बहुतेरी।
ऊँच कर्म तैं स्वर्ग है, नीच कर्म तैं भोग।
प्रेम बिना सब पचि मरे, विषय वासना रोग।

४—देखिये, वि० प०, स्तुति १२८, पं० ३
"करनहुँ सुकृत न पाप सिराहीं।
रक्त बीज जिमि बाढ़त जाहीं।"

भगवान् कृष्ण ने भागवत में कर्म के फेर में न पड़कर भक्ति ही का आश्रय लेने का उपदेश दिया है। वे उद्धव से कहते हैं: 'कर्मयोगी लोग यज्ञ, तप, दान, व्रत, तथा यम-नियम आदि को पुरुषार्थ बतलाते हैं, परन्तु ये सभी कर्म हैं, इनके फलस्वरूप जो लोक मिलते हैं वे उत्पत्ति और नाशवाले हैं। कर्मों का फल समाप्त हो जाने पर उनसे दुःख ही मिलता है और सच पूछो, तो उनको अन्तिम गति घोर अज्ञान ही है। इसलिए इन विभिन्न साधनों के फेर में न पड़ना चाहिए[1]।"

किन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिए कि भक्ति अकर्मण्यता को जन्म देती है। भक्ति के आलोचक भक्ति द्वारा अकर्मण्यता के प्रचार को सिद्ध करने के लिए प्रायः मलूकदास की इस पंक्ति —"अजगर करै न चाकरी पंछी करै न काम। दास मलूका कहि गये सबको दाता राम"—को प्रस्तुत किया करते हैं। वे इसका उलटा-सीधा अर्थ लगाकर भक्ति सिद्धान्तों के विषय में न केवल भ्रम फैलाते हैं, अपितु अपना अज्ञान प्रकट करते हैं। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि 'काम करो, पर फल में आसक्ति रखकर नहीं, फल को भगवान् के लिए अर्पण करके और उस पर पूरा भरोसा रखकर।' इसमें फलासक्ति के परिणाम से बचने का उपदेश है। यहाँ 'प्रपत्ति' और 'निष्कामता' का संदेश है, अकर्मण्यता का प्रचार नहीं। तुलसीदास ने स्पष्ट रूप से कह दिया है कि "जप, तप, नियम, योग, स्वधर्म, वेदविहित नाना प्रकार के शुभ कर्म, ज्ञान, दया, दम, तीर्थ स्नान इत्यादि का एक सुन्दर फल यही है कि भगवान् के चरण-कमलों में प्रीति उत्पन्न हो[2]।" भक्ति-रहित कर्मों को वे मल से समता देते हैं। जिस प्रकार मल से मल नहीं धुलता उसी प्रकार भक्ति के बिना शुभ कर्म से भी अशुभ वासना का नाश नहीं होता[3]। अतएव जो कर्म किया जाय वह भक्ति के लिए किया जाय, किसी कामना से नहीं।

१—भाग० ११, १४, १०-११

२—देखिये, रा० च० मा०, पृ० १०२३ :

जप तप नियम जोग निज धर्मा। स्रुतिसंभव नाना सुभ कर्मा।
ग्यान दया दम तीरथ-मज्जन। जहँ लगि धरम कहत स्रुति सज्जन।
आगम निगम पुराण अनेका। पढ़े सुनेकर फल प्रभु एका।
तव पद पंकज प्रीति निरन्तर। सब साधन कर यह फल सुन्दर।

३—देखिये, रा० च० मा०, पृ० १०२३ :

छूटइ मल कि मलहिं के धोयें। घृत कि पाव कोउ बारि बिलोये।
प्रेमभगति जल बिनु रघुराई। अभि-अंतर-मल कबहुँ न जाई।

भक्त अकर्मण्य नहीं होता। वह कर्म करता है, किन्तु ऐसे जो भक्ति के साधक होते हैं, भक्त के अंग होते हैं। यदि भक्ति का अर्थ अकर्मण्यता होता तो गोपियाँ श्याम के साथ-साथ न फिरतीं[1]। जगत की दृष्टि से कोई भक्त को उन्मत्त भले ही कह दे, पर उसे अकर्मण्य नहीं कहा जा सकता। जब संसार के लोग अपनी तथाकथित कर्मण्यता से अपने लिए जाल बुनते हैं तब भक्त अपने प्रभु के साथ प्रेम-सरोवर में विहार करता है। जब दुनियादार कर्म के हथौड़े के नीचे सिसकता है, तब भक्त लीला मानव की केलियों को देख देख कर मुस्कराता है। वह रोता भी है, किन्तु सांसारिक व्यक्ति की तरह पीड़ा से नहीं, लोचनों में आनन्दाश्रु भरकर। इतने पर भी भक्ति को अकर्मण्य कहना उसके साथ अत्याचार करना है।

भक्ति और कामना

हरि के भक्त अनन्य निष्काम-भक्ति-मार्ग का अनुसरण करते हैं। निष्काम-भक्ति ही शुद्ध भक्ति होती है। वही भक्ति का सर्वोत्तम स्वरूप है। कामना के कारण मन 'एकाकार-वृत्ति' से खिंचकर चंचल बनता है और कामना से ही भक्ति की शुद्धता बिगड़ती है।

भगवान् का सच्चा (अनन्य) भक्त उसके साथ एकीभाव (सायुज्य मोक्ष) की भी इच्छा नहीं करता।[2] "वह परमात्मा की सेवा में अभिन्न होने के कारण उसके दिए हुए कैवल्य मोक्ष को भी नहीं चाहता। सबसे श्रेष्ठ एवं महान् निःश्रेयस (परम कल्याण) तो निरपेक्षता का ही दूसरा नाम है; इसलिए जो निष्काम और निरपेक्ष होता है उसी को परमात्मा की भक्ति प्राप्त होती है।"[3] यही कारण है कि तुलसीदास भक्ति में फल की इच्छा का तिरस्कार करते हैं। उन्हें चिन्ता नहीं कि उन्हें नरक में पड़ना पड़ता है या चारों फल रूपी शिशुओं को मृत्यु रूपी डाकिनी खा जाती है, पर वे राम के स्नेह का कोई फल नहीं चाहते।[4] दादू प्रेमरस के प्याले पर इतने मुग्ध हो गये हैं कि उसके बदले में ऋद्धि सिद्धि और मुक्ति को भी ठुकरा देते हैं।[5] कामना और भगवत्प्रेम का

१—देखिये, सूरसागर, पृ० २०६, पद ७२ :

आरजपन्थ चले कहा सरि है श्यामहिं सग फिरौंरी।

२—देखिये, भाग० ३. २५.३४ ३—भाग० ११. २०. ३४

४—देखिये, दोहावली,

परौ नरक फल चारि सिसु, मीचु डाकिनी खाहु।
तुलसी राम सनेह को, जो फल सो जरिजाहु।

५—देखिये, दा० बा०, पृ० ६६, पं० १०.११ :

प्रेम पियाला रामरस, हमको भावै येहि।
रिधि सिधि मागै मुकति फल चाहै तिनकौं देहु।

निर्वाह साथ-साथ नहीं हो सकता । जिनके मन में कामना बसी हुई है वे भगवान् के अनन्य भक्त हो ही नहीं सकते । अतः तुलसीदास कहते हैं : 'हरि के सच्चे सेवक तो वे हैं जिन्होंने कामना का निग्रह कर लिया है और भगवान् में विश्वास जमा दिया है ।[1]' कबीर कहते हैं : "जिसकी भक्ति सकाम है उसकी सेवा निष्फल है ।[2]" केशव निष्काम भक्ति ही का पक्ष लेते हैं[3] । सूरदास को एकमात्र भक्ति ही प्रिय है । वे मुक्ति को दूर ही से प्रणाम करते हैं ।[4] वे तो कृष्ण की मधुर मुस्कान पर करोड़ों मुक्तियों को निछावर करने के लिए तैयार हैं ।[5] रैदास कहते हैं : जिसके पास 'आशा' (desire) रहती है उसके पास हरि नहीं रहते । जब आशा मिट जाती है, हरि पास आ जाते हैं[6] ।

भक्ति का द्वार सबके लिए खुला है

भक्ति का द्वार सबके लिए खुला हुआ है । भक्ति में जाति, विद्या, रूप, कुल, धन, क्रिया आदि का भेद नहीं है ।[7] जो अपना सर्वस्व प्रभु पर निछावर कर सतत उनका प्रेमपूर्वक स्मरण करने में अपने चित्त को लगा देता है, उसी का भक्ति रूपी परम दुर्लभ धन मिल जाता है । निषाद नीच जाति का था, शबरी गवार स्त्री थी, ध्रुव अपढ़ बालक थे, विभीषण और हनुमानादि कुरूप और अकुलीन राक्षस तथा वानर थे, विदुर और सुदामा निर्धन थे, गोपियाँ क्रियाहीन थीं, परन्तु इन सबने भक्ति द्वारा भगवान् के हृदय पर अधिकार कर लिया था । जिसके हृदय में भक्ति है, वही सर्वगुण सम्पन्न है, वही कुलीन और ऊँचा है । भक्ति मार्ग पर चलने में सबका समान अधिकार है ।[8] भक्त भगवान् की जाति का होता है, क्योंकि वह भगवान् का होता है ।[9] भगवान् की अनन्य भक्ति उन लोगों को भी पवित्र कर देती है, जो जन्म से ही

१—वि० प०, स्तुति १६८, पं० ८ :

"प्रभु बिस्वास आस जीती जिन्ह, ते सेवक हरि केरे ।'

२—क० ग्रं०, पृ० १६ :

"जब लगि भगति सकामता, तब लग निर्फल सेव ।"

३—देखिये, रा० चं०, २६. २४

४—सूरसागर पृ० ६६६, पद २४

५—देखिये, सूरसागर, पृ० ६७४, पद ५४ ।

६—देखिये, रै० बा० पृ० १३, पं० ६८

७—देखिये, ना० भ० सू०, ७२.

८ देखिये, शां० सू०, ७८.

६—देखिये, ना० भ० सू०, ७३

चाण्डाल है।[1] इसलिए सूरदास कहते हैं कि "प्रभु की महाभक्ति से कुजाति भी सुजाति हो जाते हैं।[2]"

रामानुजाचार्य ने भी भक्तों के ऊपर से जाति पांति का प्रतिबन्ध उठा लिया है। उनका कहना है कि भक्ति जाति भेद से ऊँची वस्तु है। उसमें सबका समान अधिकार है[3]। ठीक है "अनन्ताभियुक्ताना नैव शास्त्रं न च क्रमः[4]"—जो अनन्य प्रेम में डूबे हुए हैं उनका वर्ण तो एक (प्रेम) ही है। मानस में राम ने शबरी को स्पष्ट कह दिया है कि वे केवल भक्ति का नाता (सम्बन्ध) मानते हैं[5], जाति पाति से उनका सम्बन्ध नहीं है। हरि-प्रेमियों का उत्साह बढ़ाते हुए सूरदास कहते हैं—"हरि अपने भक्तों में ऊँच नीच का भेद नही रखते, कोई भी उनका भजन कर सकता है। सुर, असुर—कोई भी हो, जो हरि भजन करता है वही हरि का प्रिय होता है[6]।" मानस में भगवान् की वाणी से सूरदास की इस उक्ति का पुष्टि हो जाती है। वे कहते हैं:—"भक्ति वाला अत्यन्त नीच प्राणी भी मुझे प्राण-समान प्रिय है[7]।"

जो भगवत्प्रिय है वह सर्व-प्रिय है। जिसमें भगवान् का प्रेम नहीं उसका उच्चकुल में जन्म होना किस काम का। इसलिए तुलसीदास कहते हैं:—"जो

१—देखिये, भाग० ११ १४ २१

२—सू० सा०, पृ० ५, पद २१:

"सूरदास प्रभु महाभक्ति ते जाति अजातिहि साजै"

तु० की०—गीता ६.३०-३१

३—देखिये, श्रीभाष्य, १.३ ३२-३६ तथा ३.४ ३६

४—देखिये, इंडियन फिलासफी (राधाकृष्णन), पृ० ७०६—'फुटनोट'

५—देखिये, रा० च० मा०, पृ० ६६८:

"कह रघुपति सुनु भामिनि बाता।
मानउं एक भगति कर नाता।"

६—सूरसागर, पृ० ७३, प० १०-११

ऊँच-नीच हरि गिनत न दोइ।
यह जिय जानि भजौ सब कोइ।
असुर होइ सुर भावै होइ।
जो हरि भजै पियारो सोइ।

७—रा० च० मा०, पृ० १०६०:

"भगतिवंत अति नीचउ प्रानी।
मोहि प्रान प्रिय असि मम बानी।"

भगवद्भजन नहीं करता वह मनुष्य यदि ऊँचे कुल में भी हुआ तो क्या लाभ ? उससे तो दिन-रात राम-भक्ति में लीन श्वपच कहीं अच्छा है[1]।" व्यासजी श्वपच भक्त को करोड़ों कुलीनों और लाखों पंडितों से ऊँचा कहते हैं[2]। इसी प्रकार कबीर भी वैष्णव चाण्डाल को अभक्त ब्राह्मण से कहीं ऊँचा मानते हैं।[3]

भक्ति में शरणागत भाव

इस अध्याय के प्रारम्भ में 'भक्ति का उदय और विकास' शीर्षक के अन्तर्गत यह बतलाया गया है कि प्रपत्ति (शरणागत भाव) की ध्वनि उपनिषदों[4] से ही निकलने लगी थी। गीता के समय तक इसमें प्रौढ़ता आ गई और इसमें अनन्य प्रेम की अविकलागता सिद्ध होने लगी। गीता में इसकी शिक्षा इस प्रकार मिलने लगी :—"सब धर्मों का परित्याग करके एक मेरी ही शरण ले। मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूँगा। शोक मत कर[5]।" पीछे भक्ति-क्षेत्र में प्रपत्ति-सिद्धान्त का और भी अधिक विकास हुआ और पुराणों में शरणागतों की अनेक कथाएँ बन गईं और 'आत्मनिवेदन' नवधा भक्ति का उत्कृष्ट भेद बन गया। पुराणों की अनेक कथाओं में पिरोया हुआ वही प्रपत्ति-सिद्धान्त संस्कृत से हिंदी में चला आया। हिंदी के कुछ[6] ग्रंथों में उसका निरूपण और अधिक परिमार्जित हो गया।

इष्ट के उत्कर्ष और अपने दैन्य के प्रकाशन ने हिन्दी-भक्ति-साहित्य में अधिक मान्यता प्राप्त करली। हम देखते हैं कि इष्ट का उत्कर्ष वर्णन करते समय भक्त उसकी शक्ति को देखता रहता है और उसका विश्वास हो जाता है

१—वैराग्य संदीपनी (तुलसीदास), दो० ३८

२—देखिये, व्यास : ब्र० मा० सा०, पृ० २१४ :

व्यास कुलीनि कोटि मिलि, पंडित लाख पचीस।
स्वपच भक्त की पानहीं, तुलैं न तिनके सीस।

३—देखिये, क० ग्रं०, पृ० ५३, पं० १३-१४

साषत बांमण मति मिलै, वैसनों मिलै चंडाल।
अंकमाल दे भेटिये, मानौ मिले गोपाल।

४—देखिये, श्वे० उप० २.७ तथा ६.२३

५—गीता: १८.६६ :

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सवपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच।

६—देखिये, तुलसीदास की विनयपत्रिका तथा सूरदास के विनय के पद

कि भगवान् सब प्रकार से उसकी रक्षा करेगा। 'वह विश्वंभर है, समानरूप से जगत् का भरण-पोषण करता है, फिर उसे 'असन वसन' की क्या चिन्ता है?[1] उसे भगवान् का व्रत याद रहता है और वह अपने भजन, आचरण आदि को प्रभु के चरणों में समर्पित करके उनके भरोसे पर निर्द्वन्द्व हो जाता है।[2] इसी समय प्रभु के व्रत का उनकी क्रियाओं में साक्षात्कार होने से उनका गोप्तृत्व भी उसके सामने आ जाता है और वह प्रेम के आवेश में पुकार उठता है: "हे हरि आप संकट के साथी हैं—दूसरों की पीड़ा का हरण करने वाले हैं। गज की पुकार सुनते ही आप आतुर होकर दौड़े और उसे ग्राह से छुड़ाया, परीक्षित की गर्भ में रक्षा की वस्त्र बढ़ाकर सभा में द्रौपदी की लज्जा रक्खी और जरासंध का वध करके राजाओं को उसके बन्धन से मुक्त किया।"

गोप्तृत्व के साथ साथ भगवान् का औदार्य भी भक्त की आँखों में छा जाता है। "खोजने पर भी उसे कोई राम के समान उदार नहीं दीख पड़ता। भला, ऐसा कौन है जो बिना सेवा के ही दीन पर द्रवित हो जाए? जिस गति को ज्ञानीमुनि योग, वैराग्य आदि यत्नों से भी नहीं पाते, उसी को वे गृद्ध और शबरी को देते समय हृदय में अति तुच्छ समझते हैं। अपने दश शिरों का समर्पण

१—सूरसागर, पृ० ४५, पद २०
तु० की०-महाभारत (वि० प० में उद्धृत):
भोजने छादने चिन्तां वृथा कुर्वन्ति वैष्णवाः
योऽसौ विश्वंभरो देवो स भक्तं किमुपेक्षते।

२—सकृदेव प्रपन्नाय 'तवास्मीति' च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो, ददाम्येतद्व्रतं मम।
अ० रा०, यु० कां०, ३-१२

३—देखिये, व्यास, ब्र० मा० सा०, पृ० २१३:
काहू के बल भजन कौ, काहू के आचार।
व्यास भरोसे स्याम के, सोवत पाँउ पसार।

४—देखिये, सूरसागर, पृ० १२, पद ५३, पं० १-६
तुम हरि सांकरे के साथी।
सुनत पुकार परम आतुर ह्वै दौरि छुड़ायौ हाथी।
गर्भ परीक्षित रक्षा कीनी वेद उपनिषद साखी।
बसन बढ़ाय द्रुपद तनया के सभा मांझ पति राखी।
राज रवनि गाई व्याकुल ह्वै दै दै सुत को धीरक।
मागध हति राजा सब छोरे ऐसे प्रभु परपीरक।

करके रावण ने जिस संपत्ति को शिव से प्राप्त किया था वही रघुनाथ ने विभीषण को बड़े संकोच से दी[1]।

भक्त को अब अपने ढंग का जीवन नहीं बिताना। उसे भगवान् के अस्तित्व में रहना है। वह उन्हें अपना समर्पण करने जा रहा है। समर्पणीय वस्तु उनके अनुकूल होनी चाहिए इसलिए उसे सन्तों की सी रहन सहन का ढंग और उन्ही का सा स्वभाव प्राप्त करने की तीव्र अभिलाषा होती है[2]।

'आनुकूल्य की सम्पत्ति' के साथ साथ भक्त 'प्रातिकूल्य का वर्जन' भी करता जाता है। जिस किसी कारण भगवत्प्राप्ति में बाधा पड़ती है वह उस सबका परित्याग कर देता है। वह अपने परम स्नेही को भी, जिसके 'राम' प्रिय नहीं है, करोड़ों वैरियों के समान छोड़ देता है[3]।

१—देखिये, वि० प०, स्तु० १६२, पं० १-६

ऐसो को उदार जगमाहीं।
बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर राम सरिस कोउ नाहीं।
जो गति जोग बिराग जतन करि नहिं पावत मुनि ग्यानी।
सो गति देत गीध सबरी कहँ प्रभु न बहुत जिय जानी।
जो सपति दस सीस अरपि करि रावन सिव पहँ लीन्ही।
सो संपदा बिभीषन कहँ अति सकुच सहित हरि दीन्हीं।

२—देखिये, वि० प०, स्तुति १७२:

"कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।
श्री रघुनाथ कृपालु-कृपाते संत सुभाव गहौंगो।
जथालाभ सन्तोष सदा, काहू सों कछु न चहौंगो।
परहित-निरत निरन्तर, मन क्रम बचन नेम निबहौंगो।
परुष बचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
बिगत मान, सम सीतल मन, पर गुन, नहिं दोष कहौंगो।
परिहरि देह-जनित चिन्ता, दुख-सुख समबुद्धि सहौंगो।
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि, अबिचल हरिभक्ति लहौंगो।

३—देखिये, वि० प०, स्तुति १७४:

"जाके प्रिय न राम वैदेही।
सो छाँड़िये कोटि वैरी सम जद्यपि परम स्नेही।"

तु० की०, भाग० ७-६-१८ तथा प्रह्लाद चरित्र (भाग० सप्तम स्कंध, अध्या० ४, ५, ६)

इस प्रकार भक्त भगवान् की ओर बढ़ता जाता है और गिड़गिड़ाता जाता है। वह अपने दोषों के भंडार को भगवान् की कृपा दृष्टि के नीचे खोल देता है।[1] और कहीं दृष्टि न डालकर वह भगवान् के चरणों में ही गिर पड़ता है और विनय करता जाता है: "हे नाथ मैं कहाँ जाऊँ ? किससे कहूँ ? कौन इस दीन की सुनेगा ? जिसके लिए कहीं ठौर-ठिकाना नहीं, जो सब प्रकार निःसहाय है, तीनों लोक में उसकी गति एक आप ही हैं[2]।" यही है भक्ति में शरणागतभाव जिससे भक्त का अहंकार इष्ट के उत्कर्ष और अपने दैन्य में गलकर विलीन हो जाता है और वह भगवान् के अस्तित्व में रहने लगता है।

१—देखिये, सूरसागर, पृ० १७, पद ८५ ६०

२—देखिये, वि० प०, स्तुति, १७६ :

"कहाँ जाउँ, कासौं कहौं, को सुनै दीन की।
त्रिभुवन तुही गति सब अंगहीन की।

नवम अध्याय

दार्शनिक विचार

किसी ने कहा है कि भारत के मनुष्य जन्म से ही दार्शनिक होते हैं। इस उक्ति में किसी अंश तक सत्य भी है। जब कि बाहर के लोग प्रायः शक्ति-विषयक खोज को दृश्य तक ही सीमित रखते हैं तब भारतीय दृश्य से पीछे अदृश्य में भी किसी व्यापक सत्य का अस्तित्व खोज निकालते हैं। पाप-पुण्य के पीछे उन्हें सुख-दुख ही नहीं, नरक और स्वर्ग भी दिखलाई देते हैं। वे अपनी चिन्तन-प्रतिभा से दृश्यमान नानात्व को अदृश्यमान एक सत्य में विलीन करके सर्वत्र उसी को देखने का भी अभ्यास करते हैं। जिस भव-जाल को वे बड़ा भारी बंधन समझते हैं, उसी के आगे ज्ञान के शिखर पर उन्हें मुक्ति धाम दीखता है। इसलिए यह मानना ठीक ही है कि दर्शन भारतीय जीवन का प्रधान अंग रहा है। जब साधारण लोगों की बातचीत में दार्शनिक सिद्धान्तों के भग्नांश मिल सकते हैं, तो हमारे भक्त कवियों की रचानाओं में उनका मिल जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। पर जब निर्गुण कवि का ब्रह्म चक्र सुदर्शन लेकर अम्बरीष की रक्षा करता है अथवा सगुण कवि के 'राम' विधि, हरि और शंभु को नाच नचाते हैं, तब कोई भी कह सकता है कि वहाँ न तो कोई 'वाद' है और न शास्त्रीय पद्धति, स्पष्टतः दो भक्त-हृदयों की अपनी-अपनी भावुकता है। इसलिए यहाँ यह मान लेना कि वे दार्शनिक नहीं थे, अनुचित नहीं है। 'कनक-कुण्डल' के दृष्टान्त से कबीर को परिणामवादी, 'गगरी सहस पचास...' आदि के दृष्टान्त से जायसी को प्रतिबिम्बवादी अथवा 'यत्सत्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाहेर्भ्रमः' कहने से तुलसीदास को विवर्तवादी कह देना कहाँ तक न्यायसंगत है ? उनकी कृतियों में अन्य वादों को सिद्ध करने वाले दृष्टान्त भी उपस्थित् हैं, फिर उन्हें अनेक-मतवादी क्यों न कह दिया जाय ? सच तो यह है कि अनेक उक्तियों को सुन कर या पढ़कर उन्होंने उन्हें आत्मसात् अवश्य कर लिया है, किन्तु किसी विशेष मतवाद की पुष्टि के लिए नहीं। तुलसी सूर आदि सगुण भक्तों के लिए तो दृढ़तापूर्वक यह कहा जा सकता है कि वे दार्शनिक नहीं थे, भक्त थे, अतः उनकी दार्शनिक उक्तियाँ भी भक्ति के रस से सरस बन गई है। उनमें प्रायः वेदान्त की ही झलक दीख पड़ती है। कुछ स्थलों पर सृष्टि

आदि के वर्णनों में सूरदास ने सांख्य का निरूपण भी किया है, किन्तु भागवत के अनुकरण के रूप में।

संत और सूफी कवियों पर भी प्रायः वेदान्त ही का प्रभाव दीख पड़ता है। उन पर यह प्रभाव संसर्ग से पड़ा है। वे लोग इतने पढ़े-लिखे तो थे नहीं जो शास्त्रों का अध्ययन करके उसके आधार पर अपने मत में शास्त्र की उक्तियों का प्रयोग करते. उन्होंने तो केवल पंडितों से सुना प्रतीत होता है। उसी के संस्कारों की अभिव्यक्ति उनकी कृतियों में हुई है जिनमें उपनिषदों की छाया के साथ शंकर का मायावाद भी रहा है। मायावाद ने सगुण काव्य को भी प्रभावित किया है। इसका प्रयोग प्रायः जगत् के मिथ्यात्व से एक ब्रह्म ही की सत्ता की सिद्धि के लिये हुआ है। जगत् के मिथ्यात्व के प्रतिपादन में विरक्ति-जागरण की ओर लक्ष्य रहता है तथा एक ब्रह्म ही की सत्ता के दर्शन में 'समदृष्टि' उत्पन्न करने का प्रयास दीख पड़ता है। इस प्रकार 'मिथ्या' की अनेकता मिट जाने पर सत्य की एकतामात्र रह जाती है।

सत्य क्या है?

दार्शनिकों के लिए सत्य एक प्राचीन समस्या है। मनस्वियों ने उसे अपनी-अपनी दृष्टि से देखा है। सत्य क्या है? इसके सम्बन्ध में खोज केवल 'नेति नेति' पर ही न रुक कर आज तक चली आ रही है। वस्तुओं से असतोष और अन्यमनस्कता की दशा में यह प्रश्न सामने आया कि "हम कहाँ से उत्पन्न हुए हैं। कहाँ रहते हैं, कहाँ जाते हैं, दुख-सुख को किसके आदेश और बल से सहते हैं? क्या काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा अथवा भूत (elements) कारण माने जा सकते हैं, अथवा परम चेतन शक्ति जिसे पुरुष कहते हैं, कारण है[1]?" समस्या इतनी ही नहीं रही, कारण और सत्य के सम्बन्ध का प्रश्न उठा। नास्तिक दार्शनिकों ने सत्य को केवल वस्तुपरक माना, पर आस्तिक मनस्वियों ने उसे वस्तु के पीछे आत्मा के रूप में पाया। इसका प्रमाण केनोपनिषद्[2] में शिष्य के प्रश्न में इस प्रकार मिलता है :"यह मन किसकी इच्छा से प्रेरित होकर अपने विषय में लगता है? प्रथम प्राण किसकी प्रेरणा से चलता है? हम सब प्राणी किसकी इच्छा से यह वाणी बोलते हैं? और कौन देव आँख अथवा कान को प्रेरित करता है?"

जगत् के अधिकांश दार्शनिकों ने विषय-ज्ञान को अनिर्वचनीय नहीं माना, जैसा कि साधारण बुद्धि वाले मानते हैं। उन्हें आश्चर्य हुआ कि इन्द्रिय-ज्ञान अन्तिम कैसे मान लिया जाय। क्या मानसिक शक्तियाँ, जिनके द्वारा इन्द्रिय-ज्ञान होता है, आत्मनिर्भर हैं अथवा वे स्वयं किसी बड़ी शक्ति का कार्य है? हम भौतिक

१—देखिये, श्वे० उप०, १-२ २—के० उप०, १-१

पदार्थों को, जो कार्य (effects) हैं, उनके कारण के समान-सत्य कैसे मान सकते हैं ! इन सब का कोई स्वनिर्भर परिणामी अवश्य होना चाहिये। वही मन का आश्रय हो सकता है।

ज्ञान, मन, इन्द्रिय और उनके विषय सान्त एवं सोपाधि हैं। आचरण (morality) के क्षेत्र में हमने यह देखा है कि 'सान्त' से हमें वास्तविक आनन्द नहीं मिल सकता। जगत् के सुख अस्थिर हैं, जरा-मरण से बाधित होने वाले हैं। केवल अनन्त ही स्थायी सुख (आनन्द) दे सकता है। धर्म में हम शाश्वत जीवन की पुकार करते हैं। इन सब बातों से हमें विश्वास करना पड़ता है कि कोई कालातीत चेतन शक्ति अवश्य है जो दार्शनिक खोज का विषय, इच्छाओं की पूर्ति और धर्म का लक्ष्य है। उपनिषदों के ऋषियों ने हमें केन्द्रीय सत्य तक लेजाने की चेष्टा की है जो सच्चिदानन्दस्वरूप है। उपनिषदों से जब यह स्तुति निकलती है: "मुझे असत् से सत् की ओर ले जाओ, मुझे अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाओ, मुझे मृत्यु से अमृत की ओर ले जाओ।" तो हमारा ध्यान 'सत्', 'ज्योति', और 'अमृत' के समाहार की ओर खिंच जाता है। इन तीनों शब्दों से अभिधेय कोई एक ही सत्ता है। इनसे सत्य का बहुत कुछ संकेत मिल जाता है।

सत्य परिभाषा में नहीं बँध सकता। कोई परिभाषा सत्य को समुचित रूप से व्यक्त नहीं कर सकती क्योंकि वह अनित्य एवं परिमित वाणी की परिधि से बाहर है, फिर ऋषियों द्वारा इसकी निकटतम परिभाषा देने की चेष्टा की गई है। माण्डूक्योपनिषद् में सत्य को अविकारशील कहा गया है।[२] विष्णुपुराण[३] के अनुसार पृथ्वी पर ऐसी कोई वस्तु नहीं जो अपरिवर्तनशील हो। सारा जगत् साद्यन्त है, उसका प्रवाह नाशोन्मुख[४] है। इसलिए जगत् को सत्य नहीं कह सकते। सत्य विकारी न होने से पार्थिव एवं स्थूल नहीं है। इसी स्वर में कबीर

१—बृह० उप०, १·३·२८ : 'असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मा अमृतं गमयेति।'

२—देखिये, माँ० उप०, ४ । ७१ (कारिका)

३—देखिये, वि० पु०, २ । १२ । ४१ :

वस्त्वस्ति किं कुत्रचिदादिमध्यपर्यन्तहीनं सततैकरूपम्।
यच्चान्यथात्व द्विज याति भूमौ न तत्तथा कुतो हि तत्वम्।

४—देखिये, क० ग्रं०, ७१, अंतिम पंक्ति :

"खलक चबीणा काल का, कुछ मुख में कुछ गोद।"

कहते हैं: "जो उत्पत्ति और विनाश को प्राप्त होता है, वह सत्य नहीं है[१]।" "सत्य वही है जो स्थिर रहता है, उत्पन्न और विनष्ट होनेवाली वस्तु मिथ्या है[२]।"

"नित्यता ही सत्य का स्वभाव है। सत्य जैसा था, वैसा ही है और रहेगा। रैदास सत्य को अनिर्वचनीय, अखंड, अरूप, अवर्ण, देश, काल और कर्म की सीमा से बाहर तथा सुख-दुःख से अलिप्त मानते हैं[३]।"

वह रूपात्मक जगत् का आधार तत्त्व है और सर्वत्र व्याप्त है। उसी की रूपकान्ति सर्वत्र चमक रही है[४]। जड़ माया के सत्यवत् भासित होने का कारण उसी का सत्यता है[५]। सत्य में अनेकत्व की सिद्धि नहीं होती, वह एक है।[६]

आत्मा ही सत्य है

छान्दोग्य उपनिषद् में आत्मा को ही सत्य कहा गया[७] है जो एक और अद्वितीय है[८]। कबीर आत्मा अथवा राम को एक तथा अद्वितीय मानते हैं[९]। नानक भी आत्मा की एकता को अक्षुण्ण रखते हैं। जिस आत्मा की अनुभूति उन्हें पिण्ड

१—'उपजै विनसै सत सो नाहीं" कबीर।

२—"साँच सोई जे थिरह रहाई। उपजै बिनसै झूठ ह्वै जाई।
क० ग्रं०, पृ० २३२. २०
तु० की० गीता : २। १६ "नाभावो विद्यते सतः।"

३—देखिये, रै० बा०, पृ० ७, पं० ७-१२

४—नैन तृप्ति कछु होत है, निरखि जगत की भाँति।
जाहि ताहि में पाइयत, आदि रूप की काँति।
रहीम नगर शोभा, २।
तु० की० मुं० उप० २। २। १० : "तस्य भासा सर्वमिद विभाति।"

५—रा० च० मा०, पृ० ११६ :
जासु सत्यता तें जड़ माया।
भास सत्य इव मोह सहाया।
तु० की० भाग० १०। १४। २२, २८
तथा 'यत्सत्वदमृषैव भाँति सकलं रज्जौ यथाहेर्भ्रमः" रा०च० मा०, पृ०२

६—देखिये, वि० पु०, २। १२। ४४ : "एकं सदैकम्"

७—छां० उप०, ६। ८। ७ : "तत्सत्यं स आत्मा।"

८—,, ,, ६। २। १ : "एकमेवाद्वितीयम्।"

९—क० ग्रं०, पृ० १३१। १२५ : "आतम राम अवर नहिं दूजा।"

में होती है उसी की ब्रह्मांड में भी होती है[1]। कबीर ने यही अनुभूति इस प्रकार व्यक्त की है: "हम सब में हैं और सब हम में है[2]।" कबीर की भाँति नानक भी आत्मा और राम को एक ही मानते हैं और उसे सब में व्याप्त देखते हैं[3]।

आत्मा का स्वरूप

वह आत्मा अव्यक्त और अचिन्त्य है[4]। वह देश और काल की सीमाओं से मुक्त है। "उसे न दूर कह सकते हैं, न निकट; वह सर्वातीत है और सब के भीतर व्याप्त है[5]।" कोई दिशा उसका निर्देश नहीं कर सकती। कबीर उसकी सर्वातीतता को व्यक्त करते हुए कहते हैं: "वह न बाईं ओर है न दाईं ओर, न आगे है न पीछे, न ऊपर है न नीचे और न उसका कोई रूप ही है[6]।" इन वाक्यों से आत्मा की सर्वव्यापकता और सर्वातीतता दोनों साथ-साथ सिद्ध होती हैं। उपनिषदों ने भी आत्मा को देश की परिधि में न आनेवाला कहा है। उसे किसी

१—प्रा० सं०, नानक, पृ० ३६, पं० १: "सोई पिंडे सोई ब्रह्मंडे"

२—क० ग्रं०, पृ० २०१ · ३३२: "हम सब माहिं सकल हम माहीं।"
तथा बा० ग्रं०, पृ० ३७८:

वै आपुहि कहं सब महँ मेला।
रहै सो सब महं, खेलै खेला।

तु० की० बृह० उप० ३। ७। १५
"यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरः"

३—देखिये, प्रा० सं०, पृ० १७७: आतम रामु सर्ब महि जानिया।"

तु० की० "एष त आत्मा सर्वान्तर:" बृह० उप० ३। ४। २
तथा एको देव: सर्वभूतेषु गूढ:" श्वे० उप० ६। ११

४—देखिये, गीता, २। २५: "अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयम्"

५—क० ग्रं०, पृ० २३५, पं० २५

"कथ्यौ न जाइ नियरै अरु दूरी।
सकल अतीत रह्या घट पूरी।"

तु० की० ईशा० उप०, मंत्र ५:

"तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥"

६—क० ग्रं०, पृ० २४१, पं० १२:

"बावै न दाहिनैं आगै न पीछू।
अरध न ऊरध रूप नहीं कीछू।"

एक स्थान पर न बतला कर सर्वत्र बतलाना उसकी सर्वव्यापकता के साथ साथ सर्वातीतता की ओर संकेत करता है। इसी आशय से छान्दोग्य उपनिषद् ने कहा है: "आत्मा ही नीचे है, आत्मा ही ऊपर है, आत्मा ही पीछे है, आत्मा ही आगे है, आत्मा ही दाईं ओर है, आत्मा ही बाईं ओर है; यह सब कुछ आत्मा ही है[1]।" कबीर की बुद्धि में नहीं आता कि उसे क्या बतलाएँ? यदि उसे छोटा कहें तो बडा दीख पड़ता है और बड़ा कहें तो उसकी प्रतीति सूक्ष्म होती है। इसलिए वे कहते हैं: "न वह हलका है न भारी, न बड़ा है न छोटा, उसकी कोई तोल नहीं है[2]।" अन्यत्र वे कहते हैं: "उसकी न कोई तोल है न उसका कोई मूल्य है, न माप है और न किसी गिनती से ही उसका ज्ञान हो सकता है; छोटे-बड़े, किसी रूप में उसका अनुमान नहीं हो सकता[3]।"

काल से होने वाले परिवर्तन भी आत्मा में नहीं होते। भूत, वर्तमान और भविष्यत् का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता[4]। "उसे न बाल कह सकते हैं, न युवा और न वृद्ध[5]।" मृत्यु का कोई दूत उसके निकट नही आ सकता। "उसके उत्पन्न और नष्ट होने की कोई संभावना नहीं है। वह जलाने से जल नहीं सकता और काटने से सूख नहीं सकता[6]।" कबीर की इस उक्ति की पुष्टि करते हुए नानक कहते हैं: "वह न पवन से सूख सकता है, न अग्नि से जल सकता है, न पानी में डूब सकता है और न पकड़ा ही जा सकता है[7]।" नाशवान् शरीर

१—छां, उप० ७ २५ २, तथा मुं० उप०, २·२·११

२—क० ग्रं०, पृ० २४०, पं० २४: "हरु गरु कछु जाइ न तोला।"
तु० की० श्वे० उप०, ३ २०: "अणोरणीयान्महतो महीयान्।"

३—क० ग्रं०, पृ० १४४:
"तोल न मोल माप किछु नाहीं, गिणंती ग्यांन न होई।
ना सो भारी ना सो हलका, ताकी पारिष लषै न कोई।
तु० की० बृह० उप० ३ ८८, तथा श्वे० उप० ३ ६.

४—देखिये, रा० च० मा०, पृ० ३३१:
'जो तिहुँकाल एक रस अहई।"

५—क० ग्रं०, पृ० २४१, पं० ७: "नही सो ज्वाँन न बिरध नही बारा।"
तु० की० वि० पु०, २। १४। २६: "जन्मवृद्ध्यादिरहित आत्मा।"

६—क० ग्रं० पृ० १३६:
'जारयौ जरै न काट्यौ सूखै, उतपति प्रलै न आवै।"

७—प्रा० सं०, पृ० १०४, प० २:

है, आत्मा नहीं। बोली के मरने पर भी (शरीर के नाश होने पर भी) 'बोलने वाला मरता'। देही (आत्मा) देह को उसी प्रकार बदलता रहता है जैसे मनुष्य वाला (आत्मा) नहीं जीर्ण पट को[२]। यह आना-जाना, जीना-मरना, शरीर को होता है, आत्मा को नहीं। इसीलिए कहा गया है :

"यहाँ रहनेवाला कुछ नहीं है। जो आया है वह जायगा[३]" "जिसने जन्म लिया है वह मरेगा[४]", "जो उत्पन्न हुआ है वह नष्ट होगा[५]।"

कबीर आत्मा में अलौकिक एवं अद्भुत शक्ति देखते हैं। 'वह बिना मुख के खा सकता है, बिना पैरों के चल सकता है, बिना हाथों के कर सकता है, बिना जीभ के बोल सकता है, बिना कानों के सुन सकता है और बिना नेत्रों के देख

"पवणु न शोषै अगनि न जलावै।
पानी न डूबै गहिआ न जावै।"

तु० की० : गीता, २ २३
'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः
न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः।'

१—क० ग्रं० पृ० १०२। ४२ "वह न मूवा जो बोलणहार।"
तु० की० गीता, २·२३ : "अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः"
तथा २। २० : "न हन्यते हन्यमाने शरीरे।"

२—देखिये, रा० च० मा०, पृ० १०८७ :
"जोइ तन धरउँ तजउँ पुनि अनायास हरिजान।
जिमि नूतन पट पहिरइ, नर परिहरइ पुरान।"
तु० की० गीताः २। २२ :
"वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरो पराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।

३—सूरसागर, पृ० ३५, पं० १२ :
सूरदास कछु थिर नहिं रहई, जो आया सो जातो।

४—प्रा० सं०, पृ० २१६, पं० १४ :
"जो जनमिउ सो जायसी, जीव दिआँ माराइ।"

५—क० ग्रं०, पृ० १११। ७५ :
"जो उपज्या सो बिनसिहै।"
तु० की० : गीता, २। २७
"जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः"

सकता है[1]।' तुलसीदास ने मानस[2] में शिवजी के मुख से सर्वात्मा राम का ऐसा ही वर्णन कराया है। ऐसा ही वर्णन जायसी ग्रंथावली[3] में भी मिलता है।

उपनिषदों ने आत्मा को अनिर्वचनीय होने के साथ अज्ञेय भी माना है। उसे वाणी और मन दोनों ही नहीं प्राप्त कर सकते[4]। इसी आशय को हिन्दी कवियों ने अपने अपने ढंग से व्यक्त किया है। तुलसीदास[5] उस आत्मा (ब्रह्म) को मन और वाणी द्वारा ज्ञेय नहीं मानते हैं। सूरदास[6] भी उसे मन और वाणी दोनों के लिए अगम कहते हैं। दादू अपनी बुद्धि का दैन्य प्रकट करते हुए कहते हैं: "आप जैसे हैं आप ही जानते हैं। भला मेरी इस विचारी बुद्धि की क्या शक्ति कि आपका भेद जान सके। आप इन्द्रियों के अविषय और मन तथा बुद्धि से परे हैं[7]।"

१—क० ग्रं०, पृ० १४०, पं० १७-१८

बिन हाथनि पांइन बिन काँननि, बिन लोचन जग सूझै।
बिन मुख खाइ चरन बिन चालै, बिन जिम्या गुण गावै।

२—रा० च० मा०, पृ० ११६ :

बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ बिधि नाना।
आननरहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी।
तन बिनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहइ घ्रान बिनु बास असेखा।

३—देखिये, जा० ग्रं०, पृ० ४, पं० ४-८

तु० की०—श्वे० उप० ३·१९; २—कठ० उप० १२·२१ तथा—अ० रा०, यु० कां० ३·२७-२८

४—देखिये, तै० उप०, २।४।१ :

"यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।"

५—रा० च० मा०, पृ० ३३१ : "मन समेत जेहि जान न बानी।"

६—सूरसागर : पृ० २, पं० ३

७—दा० बा० II, पृ० १२६, पं० १४-१५ :

"तुम हौ तैसे तुमही जानौ, कहा बापुरी मति मेरी।
मन थै अगम दृष्टि अगोचर, मनसा की गमि नाहीं।"

तु० की० कठ० उप०: "नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।"
तथा के० उप० : "न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो।"

आत्मा को किसी तर्क अथवा अनुमान से प्राप्त नहीं किया जा सकता[1], न ग्रथों के अध्ययन से ही उसकी प्राप्ति होती है। इसलिए कबीर कहते हैं कि "वह वेदादि ग्रंथों से अलग रहता है[2]।" इसी आशय का उपदेश भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को दिया है कि हे अर्जुन तू वेदों के त्रिगुण विषयों से अलिप्त रह[3]। जो यह गीत गाता है कि वह आत्मा को जानता है, वस्तुतः वह उसे नहीं जानता[4]। केवल वही उसे जान सकता है जिस पर उसका अनुग्रह होता है[5]।

वह स्वय प्रकाशस्वरूप है। उसे चन्द्र सूर्य के प्रकाश की आवश्यकता नहीं है[6]। सम्पूर्ण जगत् उसी से प्रकाशित होता है[7]।

आत्मा के दो रूप

वैदिक काल से ही आत्मा के दो रूप माने जाते हैं : व्यष्टि रूप और समष्टि-रूप व्यष्टि-रूप में उसे जीवात्मा कहते हैं और समष्टि-रूप में परमात्मा, विश्वात्मा, ब्रह्म आदि अनेक नाम दिये जाते हैं। जीवात्मा और परमात्मा (ब्रह्म) के सम्बन्ध का निरूपण दर्शन-साहित्य का बड़ा रोचक प्रकरण रहा है। गीता में जीव

१—देखिये, रा० च० मा० पृ० ३३१: "तरकि न सकहिं सकल अनुमानी।"
तु० की० मुं० उप० : ३ । २ । ३: "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।"

२—क० ग्रं०, पृ० २६६ । ५८० : "वेद कतेब ते रहहि निनारा।"

३—देखिये, गीता २ । ४५: "त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।"

४—क० ग्रं० पृ० ५६, पं० १७ : 'गाया तिन पाया नहीं।"
तु० की० के० उप०, २ । २ : "यो नस्तद्वेद नो न वेदेति वेद च।"

५—रा० च० मा०
"सोइ जानइ जेहि देउ जनाई"
तु० की० मुं० उप०, ३ । २ । ३ :
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्।

६—क० ग्रं०, पृ० ६८ । ३१
"जहाँ ऊगै सूर न चन्दा। तहाँ देख्या एक अनन्दा।

७—रा० च० मा०, पृ० ११६ :
"जगत प्रकास्य प्रकासक रामू"
तु० की० मुं० उप०, २ । २ । १० तथा बृह० उप०, ४ । ३ । ६

को परमात्मा का अंश[1] बतलाया गया है। अध्यात्म[2] रामायण ने भी इस सम्बन्ध की पुष्टि की है। श्वेताश्वरतर उपनिषद् ने ईश्वर को सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् तथा जीव को अल्पज्ञ और अल्पशक्ति कहा है, किन्तु उसने दोनों को अजन्मा बतलाया है[3]। "ईश्वर समस्त जगत् का धारण-पोषण करता है, वह सबका स्वामी और प्रेरक है। जीवात्मा इस जगत् के विषयों का भोक्ता बना रहने के कारण प्रकृति (माया) के अधीन हो उसके मोहजाल में फँसा रहता है। जब कभी वह ईश्वर को जान लेता है तब सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त हो जाता है[4]

तुलसीदासजी भी जीव को ईश्वर का अंश[5] मानते हैं। उपनिषद् के अनुरूप दोनों का भेद स्वीकार करते हुए वे कहते हैं: "एक राम ही सर्वज्ञ हैं, जीव तो अल्पज्ञ है। यदि ईश्वर और जीव में एक सा ज्ञान रहे तो दोनों में भेद ही क्यों हो! अभिमानी जीव माया के वश में है और गुणों की खान वह माया ईश्वराधीन है। जीव अनेक हैं और ईश्वर एक, जीव परवश है और ईश्वर स्ववश[6]।" परमात्मा और जीवात्मा का भेद असत् तथा अज्ञानकल्पित है, अज्ञान का नाश हो जाने पर आत्मा और परमात्मा के भेद का अभाव ही सिद्ध होता है[7]।

१—देखिये, गीता १५।७:

"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः"

२—देखिये, अ० रा०, कि० का०, १।८६:

"त्वदंशोऽहं रघूत्तम।"

३—देखिये, श्वे० उप०, १।६: "ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशौ।"

४—देखिये, श्वे० उप०, १।८: "भरते विश्वमीशः

अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावा

ज्ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः।

५—देखिये, रा० च० मा०, पृ० १०६८: "ईश्वर अंस जीव अविनासी।"

६—रा० च० मा०, पृ० १०५१-५२

ज्ञान अखंड एक सीतावर। माया बस्य जीव सचराचर।
जो सबके रह ज्ञान एक रस। ईश्वर जीवहिं भेद कहहु कस।
माया बस्य जीव अभिमानी। ईस बस्य माया गुनखानी।
परबस जीव, स्वबस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकन्ता।

७—वि० पु०, ६।७।६६:

विभेदजनकेऽज्ञाने नाशमात्यन्तिकं गते।
आत्मनो ब्रह्मणो भेदमसन्तं कः करिष्यति।

तुलसीदासजी ईश्वर और जीव के भेद को असत् एवं मायाकृत बतलाते हैं, किन्तु हरिकृपा बिना उसका निवारण नहीं होता[1]। "ईश्वर का ज्ञान हो जाने पर जगत् का भ्रम-बंधन उसी प्रकार विलीन हो जाता है, जैसे जगने पर स्वप्न का भ्रम[2]।"

जीव और ब्रह्म का अभेद

उपनिषदों तथा परवर्ती वेदान्त-ग्रंथों में अनेक दृष्टान्तों द्वारा जीव और ब्रह्म का ऐक्य (अभेद) स्वीकार किया गया है। उन दृष्टान्तों से 'अभेदसूचक' अनेक सिद्धान्त उठ खड़े हुए हैं जिनमें मूलतः कोई विशेष अन्तर नहीं दीख पड़ता। उनमें से एक सिद्धान्त अनवच्छेदवाद' (अभेदवाद) है और दूसरा 'आभासवाद' या 'प्रतिबिम्बवाद'। सन्त और सूफी कवियों ने सतर्क होकर जीव और ब्रह्म के ऐक्य का पक्ष लिया है। कहीं कहीं सगुण कवियों ने भी जीव और परमात्मा, आत्मा और ब्रह्म, का ऐक्य (अभेद) मान लिया है, पर तुलसीदास भेद-सिद्धान्त की ओर ही झुके रहे हैं।

अनवच्छेदवाद

इस सिद्धान्त के अनुसार जीव को न तो ब्रह्म का अंश माना जाता है और न उसका रूपान्तर या विकार[3]। शंकर 'नाकाशस्यादि' गौडपादीय कारिका पर भाष्य लिखते हुए कहते हैं कि 'घटाकाश परमार्थाकाश का न तो विकार है, जैसे कि रुचकादि आभूषण सुवर्ण के तथा फेन, बुद्बुद और हिम जल के हैं और न अवयव ही है जैसे कि शाखादि वृक्ष के अवयव हैं। उसी प्रकार जीव परमात्मा का किसी अवस्था में विकार या अवयव नहीं है[4]।" अतः भेददृष्टि मिथ्या है।

जीवात्मा परमात्मा (ब्रह्म) का विकार नहीं है क्योंकि उपनिषदों के अनुसार ब्रह्म का चिन्मय स्वरूप निर्विकार है। वह अद्वय, अव्यय, अक्षर और अनन्त है। ब्रह्म में किसी विकार को स्वीकार करने का अर्थ शुद्ध चित्स्वरूप में अनेकता तथा सभेदता को स्वीकार करना है जो उचित नहीं है। अध्यात्म रामायण में रावण को उसके स्वरूप का ज्ञान कराते हुए हनुमानजी कहते हैं: "यह बिल्कुल सत्य है कि तुम्हारे आत्मस्वरूप में कोई विकार नहीं है क्योंकि अद्वितीय होने से

१—रा० च० मा०, पृ० १०५२ २—रा० च० मा०, पृ० ११४

३—नाकाशस्य घटाकाशो विकारावयवौ यथा।
नैवात्मनः सदा जीवो विकारवयवौ तथा।
माण्डूक्योपनिषद् (गीताप्रेस), अद्वैत प्रकरण, कारिका ७।

४—देखिये, माण्डूक्योपनिषद्, अद्वैत प्रकरण, गौ. पा. कारिका ७ पर शांकर भाष्य

उसमें कोई विकार का कारण ही नहीं है। जिस प्रकार आकाश सर्वत्र होने से भी किसी पदार्थ के गुण दोष से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार तुम देह में रहते हुए भी विकारों से लिप्त नहीं होते'।

जीवात्मा और परमात्मा में अवयवावयवी संबन्ध के निषेध द्वारा भी अनवच्छेदवाद का समर्थन किया गया है। ब्रह्म के शुद्ध चित्स्वरूप में, जो देशकालातीत है, अनेकता अथवा अंशांशी भेद के लिए कोई अवकाश नहीं है। उपनिषद् का कहना है कि उस स्वरूप में अनेकता देखने वाला ही मृत्यु के भ्रम में भटकता रहता है।

शंकर ब्रह्मसूत्र (२. ३ ४२-४४) पर भाष्य लिखते हुए बादरायण के मत (जीव ब्रह्म का अभिन्न अंग माना जा सकता है) को इस प्रकार समझाते हैं: जिस प्रकार घटाकाश तत्वतः महाकाश के सिवा और कुछ नहीं है उसी प्रकार जीवात्मा परमात्मा के सिवा और कुछ नहीं है। घट के आकार प्रकार तथा जीव की उपाधियाँ केवल अस्थायी अवरोध हैं, जब तक इनका अस्तित्व रहता है तब तक जीवात्मा और घटाकाश अपने पारमार्थिक स्वरूप से भिन्न दीखते हैं, परन्तु इनसे कारण में न तो कोई वास्तविक विभाजन सम्पन्न होता है और न उसके स्वरूप में कोई विकार ही आता है।[२]

कबीर इस मत को प्रकट करते हुये लिखते हैं "घड़े के भीतर भी जल है और बाहर भी। घड़े के रहने तक ही भीतर और बाहर के जल में अन्तर दीख पड़ता है, उसके फूटने पर जल जल में मिल जाता है और अन्तर विलीन होने से अभेद ही की सिद्धि होती है। उसी प्रकार जीवात्मा और परमात्मा में अभेद सिद्ध होता है। भेद केवल उपाधियों के संयोग से भासित होता है, तत्वदृष्टि से उनमें कोई भेद नहीं है।[३]"

उपाधिसंयोग से जीवदशा को प्राप्त होकर आत्मतत्व में कोई विकार अथवा

१—अ० रा०, सुं० कां०, ४ । १८

२—देखिये, शांकर भाष्य : ब्र० सू० २. ३. ४२-४४, तथा पंचदशी ६ २३७

३—क० ग्रं०, पद ४४ तथा सूरसागर, पृ० ६६, पद ४:

जल में कुंभ कुंभ मैं जल है, बाहरि भीतरि पानी।
फूटा कुंभ जल जलहि समाना, यह तथ कथौ गियानीं।

तु० की०—मां० उप०, अद्वैत प्रकरण, कारिका ६

रूपकार्यसमाख्याश्च भिद्यन्ते तत्र तत्र वै।
आकाशस्य न भेदोऽस्ति तद्वज्जीवेषु निर्णयः।

अन्तर नहीं आता। जिस प्रकार अनेक वर्णों की गायों से एक ही दूध उपलब्ध होता है उसी प्रकार अनेक रूपों में एक ही आत्मा व्याप्त है।[1]

प्रतिबिम्बवाद

कुछ भिन्न मत (कम से कम रूप में भिन्न) ब्रह्मसूत्र (२.३.४६) में प्रस्तुत किया गया है। वहाँ जीव को ब्रह्म का प्रतिबिम्ब—बुद्धि की सात्विक उपाधि में परम चिति का प्रतिबिम्ब या आभास—माना गया है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन उपनिषदों में भी मिलता है।[2] हिन्दी साहित्य में इस सिद्धान्त को पर्याप्त समर्थन मिला है। कबीर[3], नानक[4], जायसी[5], सूरदास[6], नन्ददास[7], रहीम[8] आदि ने उपनिषदों के सामान्य दृष्टान्त का उपयोग करके उक्त सिद्धान्त की पुष्टि की है। वे कहते हैं : "जिस प्रकार एक ही सूर्य का प्रतिबिम्ब अनेक जल-पात्रों में अनेक रूपों मे भासित होता है उसी प्रकार एक ही ब्रह्म अनेक बुद्धि-क्षेत्रों में अनेक जीवों के रूप में प्रतिबिम्बित होता है।"

१—क० ग्रं०, १०५.५३ :

पंच बरन दस दुहिए गाइ, एक दूध देखो पतिआइ।

तु० की० ब्र० बि० उप०, मंत्र १९

२—देखिये, क० उप० १.३.१, तथा २.३.५, प्रश्नोपनिषद् : ३.३

३—देखिये, क० ग्रं०, ५६.६ :

"ज्यूं जल में प्रतिब्यंब त्यूं सकल रामहिं जाणीजै।"

४—प्रा० सं०, पृ० २०४ : "नानक एको रवि रहिआ, अवरु न दूजा कोय।
जल बिंबु अपारु सुघोरु तहं कीओ चरित अपार।"

५—जा० ग्रं०, पृ० ३७४.४२ :

"गगरी सहस पचास जौ कोउ पानी भरि धरै।
सूरज दिपै अकास, मुहमद सब मह देखिये।

६—सूरसागर : पृ० ५३, पद १४: "चेतन घट घट है या भाई।
ज्यों घट घट रवि प्रभा लखाई।"

७—नन्ददास : रूपमंजरी, पृ० १, पं० ६-७ :

× × ×

घट घट विघट पूरि रह्यो सोई।
ज्यों जल भरि बहु भाजन माही।
इदु एक सबही मे [छ] छाही।

८—रहीम : आदि रूप की परम दुति,
घट घट रही समाय।

जगत् के सम्बन्ध में जनमत कुछ भी हो उसकी सत्यता के सम्बन्ध में दार्शनिकों में तो प्रायः मतभेद ही रहा है। वेदान्त के मत से इस नानात्वमय जगत् का ब्रह्म से आविर्भाव हुआ है। हिन्दी के भक्ति साहित्य में प्राय: यही मत अबाध गति से चला आया है। जगत् के आविर्भाव के सम्बन्ध में प्रश्न यह उठता है कि क्या वह परमात्मा का वास्तविक परिणाम (real transformation) है अथवा उसका केवल विवर्त (illusory projection) है—क्या स्रष्टा सृष्टि के रूप में स्वयं परिणत हो जाता है अथवा शुद्ध, पूर्ण एवं अपरिवर्तनीय रूप में पृथक् रहकर इस असत् जगत् को उसी प्रकार प्रदर्शित करता रहता है जैसे जादूगर आकाश में अनेक असत् (मिथ्या) रूप प्रकट करता है जो अज्ञ दर्शकों को धोखा देते हैं ? प्रथम प्रश्न का उत्तर परिणामवाद में और द्वितीय का विवर्तवाद में मिलता है। रामानुज, निम्बार्क, मध्व आदि भक्तों ने परिणामवाद का समर्थन किया है तथा शंकर और उनके अनुयायी अद्वैतिकों ने विवर्तवाद का पक्ष लिया है।

ब्रह्म और जगत

इसमें सन्देह नहीं कि परिणामवाद द्वारा स्रष्टा और सृष्टि के सम्बन्ध का व्यक्तीकरण बड़ी सरलता और स्वाभाविकता से हो जाता है। इस सिद्धान्त में नानात्वमय जगत् को परमात्मा की वास्तविक अभिव्यक्ति माना गया है। जिस प्रकार आभूषणों में नामरूपात्मक भेद होते हुए भी स्वर्ण एक ही रहता है, उसी प्रकार नामरूपात्मक जगत् के नानात्व में एक ही ब्रह्म व्याप्त है।[1]

हिन्दी कवियों ने इस सिद्धान्त के अनुरूप अपने अपने शब्दों में एक ही भाव व्यक्त किया है। अग्रदास[2] का कहना है कि 'जगत् ईश्वर का ही रूप है।" सूरदास[3] कहते हैं कि जिस प्रकार बुद्बुद का उपादान कारण जल है और उसी

१—देखिये, वि० पु० : ३ ७ १६ :

कटकमुकुटकर्णिकादिभेदैः
कनकमभेदमपीष्यते यथैकम्।
सुरपशुमनुजादिकल्पनाभि-
र्हरिरखिलाभिरुदीर्यते तथैकः ॥

२—देखिये, अग्रदास : रामध्यान मंजरी, छंद ७५ :

'जगत् ईश को रूप, वरण कहि कौन अधिक मति।'

३—सूरसागर, पृ० ७६०, प० ४-५ :

'ज्यों पानी में होत बुद्बुदा पुनि ता माहिं समाई।
त्योंही सब जग कुटुम्ब तुम ते पुनि तुम माहिं विलाई।

में वह लय भी हो जाता है, उसी प्रकार यह सब जगत् परमात्मा से उत्पन्न होता है और उसी में विलय भी। विद्यापति[1] ने ब्रह्म और जगत् का सम्बन्ध 'सागर और लहर' के दृष्टान्त से व्यक्त किया है। कबीर[2] इस सम्बन्ध को 'जल और हिम' के दृष्टान्त से अभिव्यक्त करते हैं। अन्यत्र 'मिट्टी और घड़े के दृष्टान्त[3] से भी वे यही भाव पुष्ट करते हैं। रैदास[4] इसी सम्बन्ध को 'कनक अलंकार' और 'पाहन प्रतिमा' के दृष्टान्त से समझाते हैं।

विवर्तवाद के मानने वाले जगत् को ब्रह्म की ऐन्द्रजालिक शक्ति माया से उत्पन्न, असत् एवं मिथ्यामात्र मानते हैं। ड्यूमेन अपने 'सिस्टम आफ वेदान्त' में कुछ प्रचलित दृष्टान्तों द्वारा विवर्तवाद को समझाते हुए लिखते हैं :—"यदि अज्ञानवश किसी वस्तु को विभक्त समझ लिया जाय तो वह विभक्त नहीं हो जाती। यदि सदोष दृष्टि के कारण दो चन्द्र दीख पड़ें तो चन्द्र का द्वित्व सिद्ध नहीं होता। यह नानानामरूपात्मक दृश्यमान जगत् जिसे न तो 'है' कह सकते हैं और न 'न—है' ही कह सकते हैं, अज्ञान पर आश्रित है। इससे परम सत्य की सत्ता में कोई विकार या परिवर्तन नहीं होता जिस प्रकार सर्प की प्रतीति से रज्जु की सत्ता में कोई विकार या परिवर्तन नहीं होता। जिस प्रकार मनुष्य स्वप्न में नाना रूप उत्पन्न कर लेता है, किन्तु वह एक एव अद्वय ही रहता है, अथवा जिस प्रकार जादूगर अपने स्वभाव को बिना बदले हुए ही हाथी, घोड़े आदि दिखा देता है, उसी प्रकार सृष्टि का नानात्व ब्रह्म के एकत्व में निष्पन्न होता है, किन्तु उससे

१—देखिये, विद्यापति पदा० : पृ० ३१५, प० १८-१९ :

"तोहे जनमि पुनि तोहे समाओत,
सागर लहरि समाना।"

२—देखिये, क० ग्रं० : १३ १७ :

"पाणी ही से हिम भया, हिम ह्वै गया बिलाइ।'

३—देखिये, क० ग्रं०, १०५ ५३ :

माटी एक सकल संसारा,
बहु विधि भांडे घड़ै कुंभारा।

४—देखिये, रै० बा०, पृ० २६ :

"अहे एक पै भ्रम से दूजो,
कनक अलंकृत जैसे।"

तथा रै० बा०, पृ० २५, पं० ६ :

० ० ० पाहन प्रतिमा ज्यों
ब्रह्म जीव द्वति ऐसा।

ब्रह्म की एकता बाधित नहीं होती।" कहने का तात्पर्य यह है कि "मनुष्यों द्वारा जो कुछ सुना, देखा या स्मरण किया जाता है वह सब स्वप्न-मनोरथ के समान असत् ही है।[२]"

तुलसीदास उक्त सिद्धान्त के अनुरूप ब्रह्म और जगत् का संबंध व्यक्त करते हुए कहते हैं :—"उसके (परमात्मा के) ज्ञान के बिना झूठ भी सत्य प्रतीत होता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि रज्जु के ज्ञान के बिना असत् भुजंग की प्रतीति होती है। उसका ज्ञान हो जाने पर जगत् उसी प्रकार नहीं रहता जिस प्रकार जगने पर स्वप्न-भ्रम नहीं रहता।[३]"

सूरदास इसी भाव को प्रकट करते हुए कहते हैं :—"यह संसार स्वप्न के दृश्यों के समान है। जैसे नेत्र खुलने पर वे दृश्य नहीं रहते वैसे ही ज्ञान होने पर संसार विलीन हो जाता है।[४]" रैदास स्रष्टा और सृष्टि में 'बाजीगर और बाजी' का सा संबंध बतलाते हुए कहते हैं : बाजी झूठी है, परन्तु बाजीगर सत्य है।[५] जैसे नट अनेक बाजी दिखाता हुआ भी बाजी के अनेक रूपों में परिवर्तित नहीं होता उसी प्रकार ब्रह्म अपनी माया शक्ति से जगत् के नाना रूपों को प्रकट करता हुआ भी अद्वय ही रहता है।[६] तुलसीदास ब्रह्मरूप से जगत् की

१—ड्यूसेन : सिस्टम आफ वेदान्त : पृ० २७७-२७८

२—अ० रा०, अर० का०, ४·२६ :

श्रूयते दृश्यते यद्यत्स्मर्यंते वा नरैः सदा।
असदेव हि तत्सर्वं यथा स्वप्नमनोरथौ।

३—रा० च० मा०, पृ० ११४

झूठेउ सत्य जाहि बिनु जाने।
जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचाने।
जेहि जाने जग जाइ हिराई।
जागे जथा सपन भ्रम जाई।

४—सूरसागर, पृ० ४७, पद ३१ :

जैसे स्वप्ने सोइ देखियत तैसे यह संसारि।
जात बिलैहै छनकमात्र में उघरत नैन किवारि।

५—देखिये, रै० बा०, पृ० ७, पं० ४ :

"बाजी झूठ साँच बाजीगर।"

६—देखिये, रा० च० मा०, पृ० १०४६

जथा अनेक बेष धरि, नृत्य करइ नट कोइ।
सोइ सोइ भाव देखावइ, आपु न होइ न सोइ।

प्रतीति न होने का कारण अज्ञान मानते हैं। जैसे आँख पर अंगुली लगा कर देखने वाले को दो चन्द्र दीख पड़ते हैं उसी प्रकार अज्ञानी को ब्रह्म में अनेकता भासित होती है।[1] ब्रह्म निर्विकार है। उसमें विकार की प्रतीति केवल विकृत दृष्टि के कारण होती है।

परिणामवाद और विवर्तवाद, दोनों सिद्धान्त ब्रह्म को कारण मानते हुए एक ही बिन्दु पर मिलते हैं। उनका अन्तर ब्रह्मविषयक नहीं है, जगद्विषयक है। एक (परिणामवाद) जगत् को सत्य मानता है, दूसरा (विवर्तवाद) असत्य मानता है, परन्तु परिणामवाद भी जगत् को नाम रूप के आधार पर सत्य नहीं मानता; सत्य मानता है वह उसे उसके उपादान के आधार पर। दोनों सिद्धान्तों में ब्रह्म को सत्य माना गया है। इसी भाव पर हमारे कवियों का ध्यान रहा है। वे जगत् के सबंध में इतने सतर्क नहीं दीख पड़ते जितने ब्रह्म के विषय में। यही कारण है कि वे दोनों सिद्धान्तों के बीच में बिचरते से जान पड़ते हैं।

माया

इस नामरूपात्मक जगत् की प्रतीति अज्ञान के कारण होती है। अज्ञान के मूल की खोज दार्शनिकों ने माया में की है जो सत्य को भी छिपा लेती है। शंकराचार्य से पूर्व के ग्रन्थो में भी माया का उल्लेख आता है, किन्तु शकर ने उसका प्रयोग विशेष अर्थ में किया है। उन्होंने जगत् की प्रतीयमानता का मूल माया में खोज निकाला है। हिन्दी कवियों ने 'माया' शब्द का प्रयोग उदारतापूर्वक अविरल अर्थों में किया है। तुलसीदास 'माया को राम की दासी[2]' कहते हैं। कबीर उसे 'रघुनाथ की[3]' कहकर उनकी शक्ति की ओर संकेत करते हैं। अध्यात्म[4] रामायण में भी माया को राम की शक्ति कहा गया है। तुलसीदास ने माया के दो

तथा दादूबानी भाग २, पृ० १३०, पं० ४ :

भाई रे बाजीगर नट खेला। ऐसे आपै रहै अकेला।

१—देखिये, रा० च० मा०, पृ० ११८

निज भ्रम नहिं समुझहिं अग्यानी।

० ० ० ० ०

चितव जो लोचन अंगुलि लाएँ।
प्रगट जुगल ससि तेहि के भाएँ।

२—'सो दासी रघुबीर कै' रा० च० मा०, पृ० १०४५

३—'तू माया रघुनाथ की', क० ग्रं०, १५१·१८७

४—त्वदाश्रया त्वद्विषया माया ते शक्तिरुच्यते', अ० रा०, अर० कां०, ३·२०

भेद,[1] विद्या और अविद्या, माने हैं। "उसके विक्षेप और आवरण दो कार्य हैं। एक कार्य सृजनात्मक है दूसरा भ्रमात्मक। वस्तु दृष्टि से उसमें सृजन शक्ति है, किन्तु आत्मदृष्टि से वह मिथ्या है। अविद्यारूप मे माया आवरण करती है और असत्य द्वारा सत्य को छिपाती है। वह अत्यन्त दुष्ट और दुःखरूप है। उसके वशीभूत होकर जीव भवकूप मे पड़ा रहता है। विद्या माया की विक्षेप-शक्ति है। उसका गुणों पर अधिकार है। वही जगत् की रचना करती है। वह प्रभु की प्रेरणा से काम करती है क्योंकि उसमें स्वबल नहीं है।[2]"

मैं मेरा, तू तेरा यह सब माया है। जहाँ तक मन और इन्द्रियों की पहुँच है, उस सबको माया की परिधि समझिये।[3] तुलसीदास[4] संसार को माया-संभव कहते हैं। केशवदास[5] संसार को माया ही का दूसरा नाम बतलाते हैं, वह अज्ञानजन्य है, उसकी सब कथा स्वप्निल है। "त्रिगुणात्मिका होने से वह त्रिगुण

१—तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ
विद्या अपर अविद्या दोऊ   राम० च० मा०, पृ० ६६७
तु० की० 'राम माया द्विधा भाति विद्याविद्येति ते सदा"
अ० रा०, अर० कां०, ३ ३२

२— देखिये, रा० च० मा०, पृ० ६६७ : एक दुष्ट अतिशय दुख रूपा।
जा बस जीव परा भव कूपा ॥
एक रचइ जग गुन बस जाके।
प्रभु प्रेरित निज बल नहिं ताके ॥

तु० की०, अ० रा०, अर० कां०, ४ २२-२४

३— रा० च० मा०, पृ० ६६७ : मैं अरु मोर तोर तैं माया।
गो गोचर जहँ लगि मन जाई।
सो सब माया जानेहु भाई।

४—देखिये, रा० च० मा०, पृ० १०५६ :
"मम माया संभव परिवारा"
तु० की० अ० रा०, अर० कां०, ३·२१

५—वि० गीता, के० पं० र०, पृ० १३० : "संसृति नाम कहावति माया।
जानहुँ ताकहँ मोह की जाया।
× × ×
स्वप्न समान कथा सब ताकी।

तु० की०, अ० रा०, अर० कां०, ३·२२-२५

क्षेत्र में ही कार्य करती है।[१]" वही पंचतत्व की भी जननी है। वह बड़ी विषमे और अज्ञेय है।[२]

स्वयं ब्रह्माश्रित होते हुए भी माया जगत् का कारण है। इस प्रकार उसे दासता और स्वामिता दोनों प्राप्त हैं: दासता परमात्मा की तथा स्वामिता जीवों की।[४] जीव और ब्रह्म के बीच में अंतर डालने वाली माया ही है। जब ज्ञान के प्रकाश से अज्ञान-अंधकार विनष्ट हो जाता है तब माया भी विलीन हो जाती है और जीव मिथ्या बंधन से मुक्त हो जाता है।[६]

कर्म-सिद्धान्त

क्या हम कष्टों से व्याकुल नहीं होते? क्या हम दुख से बचना नही चाहते? अवश्य, हम व्याकुल होकर उनसे बचना चाहते हैं, किन्तु उनसे बचें कैसे? जब तक कर्मजाल में हम फँसे रहेंगे हमें दुःख से मुक्ति नहीं मिल सकती। "विश्व में कर्म ही प्रधान माना गया है। जो जैसा करता है वैसा फल पाता है।" सुख दुःख कहीं बाहर से नही आते, वे हमारे कर्मों से ही बनते हैं।[८] अपने कर्मो को अच्छा मानकर हम

१—देखिये, सूरसागर, ४ १४ : माया को त्रिगुणातम जानो।
सत रज तम ताको गुण मानो।
तु० की० गीता, १४·५

२—देखिये, रै० बा०, पृ० ४०, पं० १८ :
तु० की०, अ० रा०, अर० का०, ३·२२·२५

३—क० ग्रं०, १६३·१६२ :
तु० की० गीता ७·१४ : "दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।"

४—देखिये, रा० च० मा०, पृ० १०५२ :
माया बस्य जीव अभिमानी। ईस बस्य माया गुनखानी।

५—देखिये, रा० चं०, ११·७

६—रा० च० मा०, पृ० ११०० : आतम अनुभव सुख सु प्रकासा
तु० की०, गीता, ५ १६ तब भव मूल भेद भ्रम नासा।

७—रा० च० मा०, पृ०, ५४५ : करम प्रधान बिस्व करि राखा
जो जस करइ सो तस फल चाखा।

८—देखिये, सूरसागर, पृ० २६·२७ : "जैसे कर्म लहो फल तैसे।"
तथा रा० च० मा०, पृ० ४३२: काहु न कोउ सुख दुख कर दाता।
निज कृत करम भोग सब भ्राता।
तु० की०, गीता, ५·१६
तु० की गीता. : तथा छां० उप० ३·१४ १
अवश्यमेव भोक्तव्य……आदि

उन्हीं में फँसते चले जाते हैं।[1] कर्म बन्धन की रज्जु है।[2] जन्म जन्मान्तरों में भी उनसे पीछा नहीं छूट पाता।[3] पुनर्जन्म हमारे कर्मों का ही फल है।[4] हम कठपुतली के समान कर्म के हाथों में नाचते रहते हैं।[5] सुख-दुःख कायिक (physical) अनुभूतियाँ हैं, आत्मा उनसे मुक्त है।[6] कर्म की कीच अज्ञान के मार्ग में पड़ती है। वह केवल जड देह को, जिसका जीव से सम्बन्ध है, लिप्त कर सकती है। शुद्ध, बुद्ध, चित्स्वरूप आत्मा कर्मों (शुभाशुभ, दोनों) से वाधित नहीं होता।[7] कर्म हमारे हाथ में होते हुए भी, उनके फल पर हमारा अधिकार नहीं है।[8] अज्ञान का निवारण होने पर कर्म-बन्धन नष्ट हो जाता है और जीव अपने शुद्ध आनन्द-स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। यही परमावस्था है, यही मुक्ति है। स्वरूप ज्ञान होने पर फिर कर्म नहीं बनते।[9]

१—तु० सत०, ६·५८२ : अपन करम बर मानिकै, आपु बँधेउ सब कोइ।

२—सूरसागर, पृ० ४०, पं० ७ ८ : जन्म जन्म बहुकर्म किये हैं,
तिनमें आपुन आप बंधायो।
तु० की०, मैत्रायणी उप०, ३·२

३—प्रा० स०, पृ० २०६, पं० ३ : 'कर्म बन्धन की जेवरी'
तु० की, वि० पु०, ६·७·१६

४—सूरसागर, पृ० ६६, पद ४ :
जिय करि कर्म जन्म बहु पावै फिरत फिरत बहुते श्रम आवै।
तु० की०, अ० रा०, यु० कां०, ३·२२

५—ज्यों नाचत कठपूतरी, करम नचावत गात। रहीम

६—देखिये, सूरसागर, पृ० ६६, पद ४ : हर्ष शोक तनु को व्यवहार।
जैसो करे सो तैसो लहै।
सदा आतमा न्यारो रहै।

७—देखिये, रा० च० मा०, (नारदमोह) पृ० १२५
तु० की० गीता : ४·१४

८—देखिये, रा० च० मा०, पृ० ४२० :
सुभ अरु असुभ करम अनुहारी। ईसु देइ फलु हृदय विचारी।
तु० की० गीता :
कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

९—रा० च० मा०, पृ० १०९
"कर्म कि होहिं स्वरूपहिं चीन्हें"
तु० की० गीता : ४·३७

आत्मा के आनन्दमय रूप की अनुभूति, जो अज्ञानजन्य दुःख-सुख की कल्पना के कारण असम्भव बनी हुई है, मुक्ति (मोक्ष) कहलाती है।[1] ज्ञानद्वारा अज्ञान का विनाश होने पर आत्मा अपने शुद्ध आनन्दस्वरूप को प्रकट करता है।[2] जब तक मन में विकार रहते हैं तब तक संसार से छुटकारा नहीं मिलता।[3] ज्ञान के प्रकाश से मोह-तम के मिट जाने पर ही आत्मा का अद्वय रूप प्रकट होता है।[4] अतः आत्मज्ञान (ब्रह्मज्ञान) ही को मोक्ष कहते हैं। मुक्ति वह अवस्था है जिसमें जगत् का वस्तु-रूप आत्म-रूप में दीख पड़ता है।[5] वास्तव में मुक्ति वस्तुपरक परिवर्तन नहीं है। यहाँ सब इन्द्रियजन्य स्वपर-भेद विलीन हो जाता

मोक्ष

१—देखिये, रा० च० मा०, उ० कां०

आतम अनुभव सुख सु प्रकासा। तब भव मूल भेद भ्रम नासा।

तु० की०, क० उप० २·३ १५ :

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः

अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम्।

२—देखिये, बृह० उप० ३·६·२८ : "विज्ञानमानन्द ब्रह्म"

३—क० ग्रं०, १७८·२६३ :

जब लगि मनहिं विकारा। तब लगि नहि छूटै संसारा।

तु० की०, योगवासिष्ठ मुमुक्षुव्यवहार प्रकरण, २ ५

४—देखिये, क० ग्रं० : १५·३५ :

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहिं।

सब अँधियारा मिटि गया, जब दीपक देख्या माहिं।

तु० की० : मुं० उप० ३·८

५—जानत तुमहिं तुमहिं होइ जाई : रा० चा० मा०, पृ० ४६४

तु० की०, 'स यो ह वै तत्परम ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति', मुं० उप० : ३·९

६—क० ग्रं० १५०·१८६ :

जब थैं आतम तत्त विचारा

× × ×

व्यापक ब्रह्म सबनि में एकै, को पंडित को जोगी।

× × × × ×

इनमें आप आप सबहिन मैं, आप आप सूं खेलै।

तु० की०, ज्ञाते द्वैतं न विद्यते, उद्धरण, इंडियन फिलासफी (रा० कृ०), पृ० ६३७ 'फुटनोट'

है।[1] देश-काल, जरा-मरण, सुख-दुःख आदि से अवकाश मिल जाता है और औपाधिक मल मिट जाते हैं।

सगुण भक्तों ने मुक्ति के चार[3] भेद, (सालोक्य, सामीप्य, सार्ष्टि और सायुज्य) माने हैं। उनमें श्रेणी-भेद है। भक्ति-गुणों के अनुरूप ही इनकी प्राप्ति होती है।[4] निर्गुण कवियों ने इन भेदों को स्वीकार नहीं किया, पर जीवन्मुक्ति में सगुण और निर्गुण दोनों प्रकार के कवियों की आस्था दीख पड़ती है।

"जीवन्मुक्त वह है जो जीवित ही मुक्ति प्राप्त कर लेता है। वह सुख दुःख के कारण अहंकार से छूट जाता है। भेद-दृष्टि मिट जाती है और सर्वात्मभाव आ जाता है। वह आसक्तिहीन होकर निर्हेतुक कर्म करता है। केवल निर्हेतुक कर्मो का ही मुक्ति से सामजस्य हो सकता है। सासक्ति कर्मों में 'द्वित्व' की स्थिति रहती है, इसलिए अद्वय-भाव, जो मुक्ति की अनिवार्य दशा है, की प्राप्ति आसक्ति के रहते हुए असम्भव है। जीवन्मुक्त कर्म-परिधि से बाहर रहता है।" इस मुक्ति की प्राप्ति सन्तसमागम, समता, सन्तोष और विचार के बिना नहीं हो

१—देखिये, सूरसागर, पृ० ५२३.१२ :

मम सो रूप जो सब घट जान।
मग्न रहे तजि उद्यम आन।
अरु सुख दुख कछु मन नहिं ल्यावै।
माता सो नर मुक्त कहावै।

तथा क० ग्रं०, १६० ३०० :

आपा पर सम चीनिये तब मिलै आतम राम।

तु० की०, "स सर्वात्मभावः सर्वसंसारधर्मातीत ब्रह्मत्वमेवम्"।

शां० भा०, तै उप०, २·१

२—देखिये, दा० बा०, पृ० १४८, पं० ८·१४

३—देखिये, सूरसागर, पृ० ६६३ :

तु० की०, अ० रा०, उ० कां०, ७·६६

४—देखिये, शांकर भाष्य, ब्रह्मसूत्र, ३·४·५२

५—वि० गीता, के० पं० ९० : पृ० २३८

तथा दा० बा० पृ० ११४, पं० १८-२१

तु० की०, यो० वा०, मुमुक्षुव्यवहारप्रकरण, २·८

में सहायक नहीं होते,[१] "किन्तु नीति-शास्त्र सब मनुष्यों के लिये उपयोगी, मर्यादा-विधायक, धर्म-अर्थ काम-मूल त्रिवर्गहेतुभूत तथा मोक्षप्रद है।[२] "नीति-शास्त्र के विशेष अवबोध से नृपादि (राजा-प्रजा) शत्रुजित् एवं लोकरंजक हो जाते हैं।[३] "जिस प्रकार भोजन-बिना प्राणियों की देहस्थिति नहीं होती, उसी प्रकार नीति-बिना लोक की व्यवहारस्थिति (आचरणरक्षा) नहीं होती।[४] नीति को छोड़कर, स्वतंत्र होकर आचरण करनेवाला व्यक्ति दुःख से छुटकारा नही पाता।

जिस प्रकार नीति-साहित्य संस्कृत-साहित्य का सुमान्य अंग रहा है, उस प्रकार वह हिन्दी-साहित्य का नहीं। सस्कृत में उसका कलेवर विशाल है, पर हिन्दी-भक्ति-साहित्य में उसे वह गौरव नहीं मिल सका है। भक्ति-काल के अनन्तर कुछ अधिक कवियों का ध्यान नीति-रचना की ओर गया है, किन्तु वे सामान्य नीति और सूक्तियों की परिधि में ही घूमते रहे हैं। वृन्द, गिरिधर आदि कवियों का प्रयास स्तुत्य है, किन्तु उसे अभाव-पूर्ति का साधक कहाँ तक मान सकते हैं, इसका निर्णय संस्कृत और हिन्दी साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन करने वाले स्वय ही कर सकते हैं।

संस्कृत साहित्य में नीति के दोनों अंगों (राजनीति और सामान्य नीति) पर समानरूप से ध्यान दिया गया है, किन्तु हिन्दी-साहित्य मे राजनीति की अवहेलना सी पाई जाती है। हाँ, तुलसीदास और केशवदास ने राजनीति के संबध में दो चार शब्द कहकर 'भाव' के आँसू पोंछने की चेष्टा अवश्य की है, परन्तु उसे 'अभाव की पूर्ति' नहीं कह सकते। सामान्य नीति के भीतर केशव की अधिक 'पैठ' नहीं दीख पड़ती। इस ओर तुलसीदास और रहीम का ध्यान अधिक दूर तक गया है। यों तो कबीर, सूर आदि भी कभी कभी नीति की बात कह गये हैं, पर वे इस ओर सतर्क नहीं है।

तुलसी और रहीम के दोहे अपनी नैतिक विशेषता के लिए जनता में बहुत आदर पा गये हैं। दोनों के नीति-काव्य में अन्तर इतना सा है कि रहीम ने उसे एकान्ततः मुक्तक रूप में लिखा है, किंतु तुलसीदास के बहुत से नीति के दोहे जो दोहावली और सतसई में भी पाये जाते हैं, रामचरितमानस से लिये गये हैं। उनके अतिरिक्त मानस की कुछ चौपाइयाँ भी यथावसर नीतिपरक लिखी गई हैं।

हिंदी-साहित्य मे नीति का अश मौलिक और आनुकृतिक, दो रूपों में मिलता है। मौलिक रूप अधिक बड़ा नहीं है। अनुकृति दो रूपों में दीख पड़ती है: पूर्णानुकृति रूप में और अंशानुकृति रूप में। पूर्णानुकृति के उदाहरण बहुत

१—शुक्रनीतिसार, १४
२—शुक्रनीतिसार १५
३—शुक्रनीतिसार, १.६
४—शुक्रनीतिसार ११?

दशम अध्याय

नीति-निरूपण

सूक्ष्मदृष्टि से देखने पर धर्म और नीति में कोई वास्तविक अन्तर नहीं है, किन्तु स्थूल दृष्टि से दोनों में भेद की प्रतीति होती है। भेद-दृष्टि से नीति का क्षेत्र स्व-हित-चिन्तना है और धर्म का लोक-हित चिन्तना। नीति के समक्ष व्यक्ति का ऐहिक सुख रहता है जो अपनी परिधि में आचरण के केवल व्यावहारिक पक्ष को रखता है, परन्तु धर्म की दृष्टि आचरण के पारमार्थिक पक्ष पर लगी रहती है; हाँ, उसका प्रसार वैयक्तिक आचरण में होकर ही रहता है।

जो स्व-हित-चिन्तना नीति क्षेत्र में व्यष्टि-बिन्दु से प्रारम्भ होती है वह धर्म-क्षेत्र में समष्टि की व्याप्ति बन जाती है। इसमें सन्देह नहीं कि नीति की स्वीयता धर्म में भी मिलती है, पर धर्म में उसकी विशालता व्यापकत्व प्राप्त कर लेती है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' में उसी की अभिव्यक्ति है। नैतिक स्वीयता का निम्नतम स्तर व्यक्ति है। व्यक्तित्व की विकसित दशा में 'स्वीयता' का क्षेत्र भी फैल जाता है। व्यक्तित्व-संकोच के ह्रास के साथ साथ 'स्वीयता' में धर्म विकसित होता चला जाता है। 'स्व' विराट् बन जाता है और पूर्णांग धर्म वसुधा के परिवार में निवास करने लगता है। अतः धर्म के वृत्त का केन्द्र व्यष्टि और परिधि समष्टि है, अथवा यों कहिए कि आचरण के दुधारे के दो पहलू हैं: एक व्यावहारिक है जिसे नीति कहते हैं और दूसरा पारमार्थिक जिसका नाम धर्म है। दोनों से जीवन में उपस्थित होने वाली बाधाएँ कटती चली जाती हैं जिससे जीवन पथ सुगम एवं सुखद बनता जाता है।

धर्म और नीति का सश्लेषण इतना घनिष्ठ है कि दोनों के मध्य में कोई अन्तर रेखा नहीं खिंच सकती। इसी कारण साहित्य में अनेक स्थलों पर धर्म और नीति का मिलाजुला रूप देखने में आता है। जिस प्रकार धर्म-शास्त्र में धर्म की विवेचना नीति-विरहित नहीं है उसी प्रकार नीति ग्रथों में नीति-निरूपण धर्म से विप्रकृष्ट नहीं है।

भारत में नैतिक ज्ञान का इतना सम्मान रहा है कि नीति-ग्रंथों में उसे 'शास्त्र' संज्ञा प्रदान की गई है। 'नीति-शास्त्र अन्य शास्त्रों की अपेक्षा विशेषता लेकर अवतीर्ण हुआ है। अन्य शास्त्र विशेषार्थ-साधक होने से साधारण अर्थ की सिद्धि

सकती ।[1] बन्धन और मुक्ति मन की अवस्था है ।[2] जब मन वासनामुक्त हो जाता है तभी मुक्ति से भेंट हो जाती है ।

१—देखिये, रा० चं०, २५६ :

मुक्तिपुरी वरद्वार के चार चतुर प्रतिहार ।
साधुन कौ सत्संग, सम अरु सन्तोष विचार ॥

तु० की०, यो० वा०, मुमुक्षुव्यवहार प्रकरण सर्ग १३,१४,१५,१६

२—देखिये, वि० गी०, के० पं० र०, पृ० २३८

मन ही दीन्हीं गांठि प्रभु मन ही पै छुर आउ ।

तु० की०, गीता

'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः'

है।[1] देश-काल, जरा-मरण, सुख-दुःख आदि से अवकाश मिल जाता है और औपाधिक मल मिट जाते हैं।

सगुण भक्तों ने मुक्ति के चार[3] भेद, (सालोक्य, सामीप्य, सार्ष्टि और सायुज्य) माने हैं। उनमें श्रेणी-भेद है। भक्ति-गुणों के अनुरूप ही इनकी प्राप्ति होती है।[4] निर्गुण कवियों ने इन भेदों को स्वीकार नहीं किया, पर जीवन्मुक्ति में सगुण और निर्गुण दोनों प्रकार के कवियों की आस्था दीख पड़ती है।

"जीवन्मुक्त वह है जो जीवित ही मुक्ति प्राप्त कर लेता है। वह सुख दुःख के कारण अहंकार से छूट जाता है। भेद-दृष्टि मिट जाती है और सर्वात्मभाव आ जाता है। वह आसक्तिहीन होकर निर्हेतुक कर्म करता है। केवल निर्हेतुक कर्मों का ही मुक्ति से सामंजस्य हो सकता है। सासक्ति कर्मों में 'द्वित्व' की स्थिति रहती है, इसलिए अद्वय-भाव, जो मुक्ति की अनिवार्य दशा है, की प्राप्ति आसक्ति के रहते हुए असम्भव है। जीवन्मुक्त कर्म-परिधि से बाहर रहता है।" इस मुक्ति की प्राप्ति सन्तसमागम, समता, सन्तोष और विचार के बिना नहीं हो

१—देखिये, सूरसागर, पृ० ५२३.१२ :

मम सो रूप जो सब घट जान।
मग्न रहै तजि उद्यम आन।
अरु सुख दुख कछु मन नहिं ल्यावै।
माता सो नर मुक्त कहावै।

तथा क० ग्रं०, १६०·३०० :

आपा पर सम चीनिये तब मिलै आतम राम।

तु० की०, "स सर्वात्मभावः सर्वसंसारधर्मातीत ब्रह्मत्वमेवम्"।

शां० भा०, तै उप०, २१

२—देखिये, दा० बा०, पृ० १४८, पं० ८·१४

३—देखिये, सूरसागर, पृ० ६६३ :

तु० की०, अ० रा०, उ० कां०, ७·६६

४—देखिये, शांकर भाष्य, ब्रह्मसूत्र, ३·४·५२

५—वि० गीता, के० पं० १० : पृ० २३८

तथा दा० बा० पृ० ११४, प० १८-२१

तु० की०, यो० वा०, मुमुक्षुव्यवहारप्रकरण, २·८

सकती ।[1] बन्धन और मुक्ति मन की अवस्था है ।[2] जब मन वासनामुक्त हो जाता है तभी मुक्ति से भेंट हो जाती है ।

१—देखिये, रा० चं०, २५६ :

मुक्तिपुरी वरद्वार के चार चतुर प्रतिहार ।
साधुन कौ सत्संग, सम अरु सन्तोष विचार ॥

तु० की०, यो० वा०, मुमुक्षुव्यवहार प्रकरण सर्ग १३,१४,१५,१६

२—देखिये, वि० गी०, के० पं० र०, पृ० २३८

मन ही दीन्हीं गांठि प्रभु मन ही पै छुर आउ ।

तु० की०, गीता

'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः'

दशम अध्याय

नीति-निरूपण

सूक्ष्मदृष्टि से देखने पर धर्म और नीति में कोई वास्तविक अन्तर नहीं है, किन्तु स्थूल दृष्टि से दोनों में भेद की प्रतीति होती है। भेद-दृष्टि से नीति का क्षेत्र स्व-हित-चिन्तना है और धर्म का लोक-हित चिन्तना। नीति के समक्ष व्यक्ति का ऐहिक सुख रहता है जो अपनी परिधि में आचरण के केवल व्यावहारिक पक्ष को रखता है, परन्तु धर्म की दृष्टि आचरण के पारमार्थिक पक्ष पर लगी रहती है; हाँ, उसका प्रसार वैयक्तिक आचरण में होकर ही रहता है।

जो स्व-हित-चिन्तना नीति क्षेत्र में व्यष्टि-बिन्दु से प्रारम्भ होती है वह धर्म-क्षेत्र में समष्टि की व्याप्ति बन जाती है। इसमें सन्देह नहीं कि नीति की स्वीयता धर्म में भी मिलती है, पर धर्म में उसकी विशालता व्यापकत्व प्राप्त कर लेती है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' में उसी की अभिव्यक्ति है। नैतिक स्वीयता का निम्नतम स्तर व्यक्ति है। व्यक्तित्व की विकसित दशा में 'स्वीयता' का क्षेत्र भी फैल जाता है। व्यक्तित्व-संकोच के ह्रास के साथ साथ 'स्वीयता' में धर्म विकसित होता चला जाता है। 'स्व' विराट् बन जाता है और पूर्णांग धर्म वसुधा के परिवार में निवास करने लगता है। अतः धर्म के वृत्त का केन्द्र व्यष्टि और परिधि समष्टि है, अथवा यों कहिए कि आचरण के दुधारे के दो पहलू हैं: एक व्यावहारिक है जिसे नीति कहते हैं और दूसरा पारमार्थिक जिसका नाम धर्म है। दोनों से जीवन में उपस्थित होने वाली बाधाएँ कटती चली जाती हैं जिससे जीवन पथ सुगम एवं सुखद बनता जाता है।

धर्म और नीति का सश्लेषण इतना घनिष्ठ है कि दोनों के मध्य में कोई अन्तर रेखा नहीं खिंच सकती। इसी कारण साहित्य में अनेक स्थलों पर धर्म और नीति का मिलाजुला रूप देखने में आता है। जिस प्रकार धर्म-शास्त्र में धर्म की विवेचना नीति-विरहित नहीं है उसी प्रकार नीति ग्रथों में नीति-निरूपण धर्म से विप्रकृष्ट नहीं है।

भारत में नैतिक ज्ञान का इतना सम्मान रहा है कि नीति-ग्रंथों में उसे 'शास्त्र' संज्ञा प्रदान की गई है। 'नीति-शास्त्र अन्य शास्त्रों की अपेक्षा विशेषता लेकर अवतीर्ण हुआ है। अन्य शास्त्र विशेषार्थ-साधक होने से साधारण अर्थ की सिद्धि

में सहायक नहीं होते,[१] "किन्तु नीति-शास्त्र सब मनुष्यों के लिये उपयोगी, मर्यादा-विधायक, धर्म-अर्थ काम-मूल त्रिवर्गहेतुभूत तथा मोक्षप्रद है।[२] "नीति-शास्त्र के विशेष अवबोध से नृपादि (राजा-प्रजा) शत्रुजित् एवं लोकरंजक हो जाते हैं।[३] "जिस प्रकार भोजन-बिना प्राणियों की देहस्थिति नहीं होती, उसी प्रकार नीति-बिना लोक की व्यवहारस्थिति (आचरणरक्षा) नहीं होती।[४] नीति को छोड़कर, स्वतंत्र होकर आचरण करनेवाला व्यक्ति दुःख से छुटकारा नहीं पाता।

जिस प्रकार नीति-साहित्य संस्कृत-साहित्य का सुमान्य अंग रहा है, उस प्रकार वह हिन्दी-साहित्य का नहीं। सस्कृत में उसका कलेवर विशाल है, पर हिन्दी-भक्ति-साहित्य में उसे वह गौरव नहीं मिल सका है। भक्ति-काल के अनन्तर कुछ अधिक कवियों का ध्यान नीति-रचना की ओर गया है, किन्तु वे सामान्य नीति और सूक्तियों की परिधि में ही घूमते रहे हैं। वृन्द, गिरिधर आदि कवियों का प्रयास स्तुत्य है, किन्तु उसे अभाव-पूर्ति का साधक कहाँ तक मान सकते हैं, इसका निर्णय संस्कृत और हिन्दी साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन करने वाले स्वयं ही कर सकते है।

संस्कृत साहित्य में नीति के दोनों अंगों (राजनीति और सामान्य नीति) पर समानरूप से ध्यान दिया गया है, किन्तु हिन्दी-साहित्य में राजनीति की अवहेलना सी पाई जाती है। हाँ, तुलसीदास और केशवदास ने राजनीति के संबध में दो चार शब्द कहकर 'भाव' के आँसू पोंछने की चेष्टा अवश्य की है, परन्तु उसे 'अभाव की पूर्ति' नहीं कह सकते। सामान्य नीति के भीतर केशव की अधिक 'पैठ' नहीं दीख पड़ती। इस ओर तुलसीदास और रहीम का ध्यान अधिक दूर तक गया है। यों तो कबीर, सूर आदि भी कभी कभी नीति की बात कह गये हैं, पर वे इस ओर सतर्क नहीं है।

तुलसी और रहीम के दोहे अपनी नैतिक विशेषता के लिए जनता में बहुत आदर पा गये हैं। दोनों के नीति-काव्य में अन्तर इतना सा है कि रहीम ने उसे एकान्ततः मुक्तक रूप में लिखा है, किंतु तुलसीदास के बहुत से नीति के दोहे जो दोहावली और सतसई में भी पाये जाते हैं, रामचरितमानस से लिये गये हैं। उनके अतिरिक्त मानस की कुछ चौपाइयाँ भी यथावसर नीतिपरक लिखी गई हैं।

हिंदी-साहित्य में नीति का अंश मौलिक और आनुकृतिक, दो रूपों में मिलता है। मौलिक रूप अधिक बड़ा नहीं है। अनुकृति दो रूपों मे दीख पड़ती है: पूर्णानुकृति रूप में और अंशानुकृति रूप में। पूर्णानुकृति के उदाहरण बहुत

१—शुक्रनीतिसार, १.४
२—शुक्रनीतिसार १.५
३—शुक्रनीतिसार, १.६
४—शुक्रनीतिसार १.११

थोड़े ही मिल सकेंगे। अंशानुकृति, जिसमें प्रायः दृष्टान्तों की पूर्ण अथवा आंशिक मौलिकता है, कुछ बड़े रूप में दीख पड़ती है। इस अध्याय में हमें केवल नीति के आनुकृतिक रूप पर ही विचार करना है, और वह भी नमूने के रूप में क्योंकि इस छोटे से अध्याय में सब पर विचार करना संभव नहीं है।

हिन्दी कवियों की जिन उक्तियों में हमें नीति-विषयक अनुकृति का आभास होता है, बहुत संभव है कि उनमें से बहुत सी मौलिक रचनाएँ ही हों, उन पर संस्कृत साहित्य का बिलकुल प्रभाव न हो; क्योंकि दो कवियों की उक्तियाँ, भाव-साम्य होते हुये भी, मौलिक हो सकती हैं। केवल पूर्व-कालीनता के आधार पर किसी उक्ति को उत्तरकालीन उक्ति का आधार ठहराना उचित नहीं प्रतीत होता। स्फुट रचनाओं में प्रभाव सम्बन्धी किसी निर्णय पर पहुँचना इतना सरल नहीं है जितना वह प्रबन्ध-रचनाओं में होता है। यह सब कुछ सोच कर भी इस अध्याय में पूर्वकालीनता एवं भावसाम्य को ही खोज का आधार बनाया गया है।

राजनीति

केशवदास के अनुसार राजा चार प्रकार के होते हैं: "एक तो वे जो लोक-साधनों के बल पर बलवान् वेणु के समान अपने को ईश्वर मानते हैं; दूसरे वे जो परलोक-साधना पर अटल रहते हैं, जैसे राजा हरिश्चन्द्र जिसने अपनी समस्त भूमि दान में देदी; तीसरे वे हैं जो लौकिक और पारलौकिक, दोनों प्रकार की साधनाओं में दत्तचित रहते हैं, जैसे मिथिला के राजा विदेह और चौथे वे हैं जो दुराग्रहवश अपने दोनों लोकों को नष्ट कर देते हैं, जैसे त्रिशंकु जिसे भले बुरे सब हँसते हैं" यद्यपि केशव ने 'कह्यो शुक्रचार्य सुहौं कहौं जू" उक्ति द्वारा यह बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है कि उन्होंने इन भेदों के संबध में शुक्रनीति का अनुकरण किया है, किन्तु उन्होंने दृष्टान्तों के संबंध में स्वतंत्रता से काम लिया है। शुक्रनाति में वे दृष्टान्त नहीं हैं। इसके अतिरिक्त शुक्रनीति में[2] राजाओं के तीन भेद, सात्त्विक, राजस और तामस, ही माने गये हैं। 'नृपाधम.' (जो शुक्रनीतिसार में संभवतः तमोगुणाश्रित राजा के लिए प्रयुक्त हुआ है) को केशव राजाओं का चौथा प्रकार मान बैठे हैं।

यशसंग्रही और वीर होने के अतिरिक्त राजा को साधु-संसर्ग[4] करना चाहिये

१—रा० च०, १७.२१ २८   २—शुक्रनीतिसार १.३०-३२

३—शुक्रनीतिसार १ ३४

४—"करौ साधु संसर्ग जो बुद्धि बोधा" : रा० चं०, ३६.३३ : तु० की०, शुक्रनीतिसार १.१६१

तथा दुर्जनों[१] का साथ छोड़ देना चाहिए। ऐसा करने से राजा यश का भाजन बनता है।

"यश की प्राप्ति करने के लिए, प्रजा में सुख-शान्ति रखने के लिए और अपने राज्य को स्थिर बनाने के लिए उसे कुछ नियमों का पालन करना चाहिए। उसको चाहिए कि वह झूठ न बोले, मूर्ख से मित्रता न करे, दान में दी हुई वस्तु को वापिस न ले, किसी से स्नेह करके उसे न तोड़े, मत्री और मित्र को दुःख न दे, यत्र-तत्र भ्रमण करे और पर शत्रु का विश्वास न करे। उसे कभी जुआ नहीं खेलना चाहिए, वेद वचनों की रक्षा करनी चाहिए, शत्रु के देश मे जाकर अज्ञात वस्तु नही खानी चाहिए, मूढ से मंत्रणा नही करनी चाहिए, गूढ बात को किसी पर प्रकट न करना चाहिए, हठ न करना चाहिए और मठधारियों से सम्पर्क न रखना चाहिए। प्रजा को व्यर्थ न सताना चाहिए, उसका पुत्रवत् पालन करना चाहिए, दोषी-अदोषी का निर्णय करके दोषी को अपराध के अनुसार दंड देना चाहिए। ब्राह्मण, देव स्त्री और बालक का धन न लेना चाहिये और विप्रवंश से स्वप्न में भी विरोध न करना चाहिए। राजा को चाहिए कि वह किसी का धन लेने की लोभ भरी चेष्टा न करे। उसे पर-द्रव्य को विष-तुल्य और पर-स्त्री को मातादि के समान समझना चाहिए। काम, क्रोध, लोभ, मोह, गर्व और चित्त-क्षोभ का त्याग कर देना चाहिए।[२]"

केशव ने उक्त गुण-दोषों को शुक्रनीति के आधार पर लिखा है, परन्तु यह शब्दानुवाद नही है। शुक्रनीति से किसी श्लोक का आधा, किसी का चौथाई लेकर केशव ने अपने पद्यों की रचना की है। अतः उनमें भावानुवाद की गध भी अधिक तीव्रता से नहीं आती। 'हठी मठीन सों न बोलिये' जैसी एक दो उक्तियों में केशव की स्वतंत्र भावना भी आ टपकी है।

तुलसीदास जी साधुता, चतुरता, सुशीलता और कृपालुता को राजा के आवश्यक गुण मानते है। इन गुणों से विभूषित नृपाल को वे ईश्वर का अंश रूप मानते हैं।[३] 'मनुस्मृति'[४] ने भी राजा को देवांश माना है। तुलसीदास ने उसी का अनुकरण किया है।

१—'अधर्मीन को देहु जनि वाक भिक्षा' : रा० च० ३६.३३ : तु० की० शुक्रनीतिसार, १.१६३

२—रा० च० ३६.२६-३२ : तु० की०, शुक्रनीतिसार १.१२४-१६४

३—साधु सुजान सुशील नृपाला। ईस अंस भव परम कृपाला।
रा० च० मा०, पृ० ३६

४—देखिये, मनुस्मृति १.४,८

साम, दाम, दंड और भेद, ये राजनीति के चार चरण हैं। इनके बिना राजा का काम नहीं चलता।[1]

"सुखार्थी राजा को राज्य की रक्षा के सब साधन अपने हाथ में रखने चाहिए। उनमें सबसे प्रमुख साधन है त्रयोदशमंडल-व्यवस्था। जो राजा अपने राज्य सहित तेरह राज्यों की सुव्यवस्था कर लेता है, उसको शत्रु, मित्र अथवा उदासीन कोई भी क्षति नहीं पहुँचा सकता। अपने पड़ौसी राजा को शत्रु समझना चाहिए। शत्रु के पड़ौसी से मैत्री रखनी चाहिए। उससे भी आगेवाले राजा के प्रति उदासीन भाव रखना चाहिए। शत्रु से विग्रह, मित्र से संधि और उदासीन से दान-नीति से काम लेना चाहिए। इस प्रकार अपने चारों ओर व्यवस्था कर लेने से सुख की सुस्थापना सहज ही में हो जाती है।[2]"

राजा को चाहिए कि वह स्वार्थ के लिए लोभवश प्रजा से कर न ले। कर प्रजाहित के लिए ही लिया जाना चाहिए। जो कर इस प्रकार से लिया जाता है उसके देने में प्रजा को कष्ट की प्रतीति नहीं होती। जब वही कर राजा के हाथों से प्रजा के हित में व्यय किया जाता है तो उससे प्रजा को परम हर्ष होता है। इसी भाव को व्यक्त करते हुए तुलसीदास जी कहते हैं:—"भूप को भानु के समान होना चाहिए। जिस प्रकार सूर्य द्वारा किए हुए जलकर्षण की किसी को प्रतीति भी नहीं होती, किन्तु जब वह वर्षा के रूप में गिरता है तो सब लोग प्रसन्न होते हैं, उसी प्रकार सुनृप द्वारा लिए हुए कर की प्रजा को प्रतीति भी नहीं होती, किन्तु उससे जब प्रजा का हित सिद्ध होता है तो सबको परम सुख होता है।"

१—देखिये, रा० च० मा०, पृ० ८६१:

साम दाम अरु दंड बिभेदा।
नृप उर बसहिं नाथ कह वेदा।
नीति धर्म के चरन सुहाये।

तु० की० शुक्रनीतिसार ४.१.२७

'सामदानभेददण्डाश्चिन्तनीयाः स्वयुक्तितः

२—रा० चं० ३६.३५

तु० की० शुक्रनीतिसार ४.१.२०-२६

३—बरषत हरषत लोग सब, करषत लखै न कोइ।
तुलसी प्रजा सुभाग ते, भूप भानु सो होइ।

तु० दोहावली, ५०६।

यही भाव पंचतन्त्र[1] में सूर्य के दृष्टान्त के स्थान पर दीपक के दृष्टान्त से व्यक्त किया गया है।

"माली फल के लिए पादपों का सिंचन करता है, कृषक अन्नादि के लिए कृषि का पालन करता है और भानु भूमि से जल खींचने के लिए जल की वृष्टि करता है, उसी प्रकार नीति निपुण राजा कर के लिए प्रजा का पालन करता है[2]" तुलसीदास ने यह भाव पंचतंत्र के आधार पर व्यक्त किया है। अन्तर केवल इतना सा है कि तुलसीदास ने 'माली, भानु और किसान' तीन दृष्टान्तों द्वारा भाव को पुष्ट किया है जबकि पंचतंत्र[3] में वह भाव केवल 'मालाकार' के दृष्टान्त से व्यक्त किया गया है।

राजा में जितने अधिक गुण होते हैं वह उतना ही अधिक उत्तम होता है, परन्तु उसमें कुछ दोषों का न होना आवश्यक है। 'कामी, वामी, मिथ्यावादी, क्रोधी, कोढी, वंशद्रोही, भीरु, अकृतज्ञ, मित्रवैरी, द्विज द्रोही, दुष्ट, पुरुषार्थहीन, अयोग्य, क्लेशप्रिय, क्रूर, कुटिल, कुमन्त्री, कुलहीन, पापी, लोभी, शठ, अन्ध, विक्षिप्त, वधिर, मूक, वामन, अविवेकी, छली, निर्मोह, सूम, सर्वभक्षी, दैववादी, कुतर्की, जड़ और अपयशी राजा शोभा नहीं पाता।[4]" इसे केशव ने कुछ अधिक बढ़ा चढ़ाकर लिखा है।

धर्म, अर्थ और काम के फल की प्राप्ति हो जाने पर राजा को चाहिए कि वह तन मन से मुक्ति के साधनों में लगजावे, किन्तु सन्यास लेने से पूर्व युद्ध भी राजा के लिए, स्वर्ग का द्वार बना रहता है। समरभूमि में वीरगति को पाकर

१—नृपदीपो धनस्नेहं प्रजाभ्यः संहरन्नपि।
आन्तरस्थैर्गुणैः शुभ्रैर्लक्ष्यते नैव केनचित्।

पंचतंत्र १·१६३

२—माली भानु किसान सम नीति निपुन नरपाल।
प्रजा भागबस होंहिगे, कबहुँ कबहुँ कलिकाल।

दोहावली ५०७

३—फलार्थी नृपतिर्लोकान्पालयेद्यत्नमास्थितः
दानमानादितोयेन मालाकारोऽङ्कुरानिव।

पंचतंत्र १·१६२

४—रा० चं० : १८ १०

तु० की०, शुक्रनीतिसार १·३४३ तथा मनुस्मृति ७·४५

वह स्वर्ग में भोग करता है और अपने पीछे जगत् में यश का विस्तार कर जाता है।[१]"

सामान्य नीति

राजनीति का सम्बन्ध तो केवल राजाओं से ही है, पर सामान्य-नीति जन-साधारण के लिए है। इससे हमें अवसर (देश, काल और व्यक्ति) के अनुकूल व्यवहार करने की शिक्षा मिलती है। इसके अन्तर्गत दुर्जननिंदा, सज्जनप्रशंसा, विद्याप्रशंसा, धनप्रशंसा, परोपकारप्रशंसा, मित्रलक्षण आदि अनेक विषय आ जाते हैं। हिन्दी में इसका क्षेत्र राजनीति की अपेक्षा अधिक बड़ा दीख पड़ता है।

दुर्जन की निन्दा सभी धर्म और नीति के ग्रन्थों ने की है। तुलसीदास जी की लेखनी से भी दुर्जन की रक्षा नहीं हो सकी है। वे दुर्जनों की संगति से परिचित हैं। अतः उनके निकट से भागते हुए वे चिल्लाते जाते हैं:—"विधाता दुष्ट का साथ न दे, (चाहे वह नरक में डाल दे) नरक का निवास उससे कहीं अच्छा है।[२]"

"रहीम कहते हैं:—जिस प्रकार अंगार का साथ किसी दशा में अच्छा नहीं है, उष्ण होने पर शरीर को जलाता है और शीतल होने पर काला करता है, उसी प्रकार नीच का साथ भी किसी दशा में हितकर नहीं है।[३]"

"बड़े शोक की बात है कि कुसंग में रहकर भी मनुष्य कल्याण की कामना

१—राजा सनमुख तनु तजै, करै स्वर्ग में भोग।
दुनियाँ में यश विस्तरै, हँसै न जग कौ लोग।
रतनबावनी (हिन्दी के कवि और काव्य, पृ० २०६)
तु० की मनुस्मृति ७ ८६

२—बरु भल बास नरक कर ताता।
दुष्ट संग जनि देइ विधाता।
रा० च० मा० पृ० ८०१
तु० की० : वरं पर्वतदुर्गेषु भ्रान्तं वनचरैः सह।
न मूर्खजनसम्पर्कः सुरेन्द्रभवनेष्वपि। नीतिशतक, १४

३—ओछे को सतसंग, रहिमन तजहु अंगार ज्यों।
तातौ जारै अंग सीरौ पै कारौ लगै।
रहीम रत्नावली, २६·२७१
तु० की० : दुर्जनेन समं सख्यं प्रीतिं चापि न कारयेत।
उष्णो दहति चाङ्गारः शीतः कृष्णायते करम्।

करता है भला दुष्ट के साथ में कल्याण कहाँ ! रावण के पड़ोस तक में रहने से समुद्र को अपमानित होना पड़ा था ।[1]"

एक अन्य दोहे में रहीम कहते हैं :—नीच के संग से लाभ के स्थान पर हानि ही होती है, यथा घटी जल का अपहरण करती है और झल्लरी को ताड़ना मिलती है ।[2]"

तुलसीदासजी 'दुष्ट की प्रिय वाणी को भी, अकाल के कुसुम के समान भयदायक बतलाते है ।[3]'

'नीच की नम्रता कृत्रिम होने से अंकुश, धनुष, उरग और बिल्ली के समान दुःखद ही होती है ।[4]'

१—बसि कुसंग चाहत कुसल, यह रहीम जिय सोस ।
महिमा घटी समुद्र की, रावन बस्यौ परोस ।
रहीम रत्नावली, १३·१२७

तु० की० : हनुमन्नाटक : ६·६०
दुर्वृत्तसंगतिरनर्थपरम्पराया
हेतुः सतां भवति, किं वचनीयमतः ।
लङ्केश्वरो हरति दाशरथेः कलत्रं ।
प्राप्नोति बन्धनमसौ किल सिन्धुराजः

२—रहिमन नीच प्रसंग ते, नित प्रति लाभ विकार ।
नीर चुरावै सम्पुटी, मारु सहत घरियार ।
रहीम रत्नावली २०·२०३

तु० की० : सच्छिद्रनिकटे वासो न कर्तव्यः कदाचन ।
घटी पिबति पानीयं ताड्यते झल्लरी यथा ।
शार्ङ्गधर (सु० र० भां०, १६७·६३२ पर उद्धृत)

३—भयदायक खल कै प्रिय बानी ।
जिमि अकाल के कुसुम भवानी ।
रा० च० मा०, पृ० ६८२

तु० की : दुर्जनैरुच्यमानानि वचांसि मधुराण्यपि ।
अकालकुसुमानीव भयं संजनयन्ति हि ।
वराहमिहिर (सु० र० भां०, ५५·४१ पर उद्धृत)

४—नवनि नीच कै अति दुखदायी ।
जिमि अंकुस धनु उरग बिलाई ।।
रा० च० मा०, पृ० ६८२

"रहीम कहते हैं कि यह सब जानते हैं कि लक्ष्मी स्थिर नहीं है। पुराण पुरुष (विष्णु) की बधू होने से उसका चंचल होना स्वाभाविक है। [1]"

रहीम कहते हैं :—"महापुरुष सुख दुःख में शान्तिपूर्वक एकसा आचरण करते हैं, जैसे चन्द्र जिस प्रकार उदित होता है उसी प्रकार अस्त भी होता है। [2]"

भलाई के बदले भलाई करने वाले का कोई गौरव नहीं है, बड़ाई उसकी है जो बुराई के बदले भलाई करे। इस भाव को लेकर कबीर कहते है :—"जो तेरे लिए काँटा बोए उसके लिए तू फूल बो। परिणाम में तुझे फूल (सुख) मिलेंगे और काँटा बोने वाले को त्रिशूल (घोरकष्ट)। [3]"

रहीम कहते हैं :—'न तो वृक्ष फल खाते हैं और न सरोवर जल पीते हैं। इसी प्रकार सज्जन धन का संचय केवल परोपकार के लिए ही करते हैं। [4]"

तथा

यह रहीम मानै नहीं, दिल से नवा न होय।
चीता चोर कमान के नए ते अवगुन होय।

तथा रहीम रत्ना०। १५·१५४

नवन नवन बहु अन्तरा, नवन नवन बहु बान।
ये तीनों बहुते नवे, चीता, चोर कमान॥ कबीर

तु० की० : स्वभावकठिनस्यास्य कृत्रिमा बिभ्रतो नतिम्।
गुणोऽपि परहिंसायै चापस्य च खलस्य च।
धर्मकीर्ति (सु० र० भां०, ५४·१६ पर उद्धृत)

१—कमला थिर न रहीम कहि, यह जानत सब कोय।
पुरुष पुरातन की वधू क्यों न चंचला होय॥
रहीम रत्नावली ३·२३

तु० की० : यद्वदन्ति चपलेत्यपवादं नैव दूषणमिदं कमलायाः
दूषणं जलनिधेर्हि भवेत्तद्यत्पुराणपुरुषाय ददौ ताम्।
अमरुक, सु० र० भां०, ६३ २२ पर उद्धृत

२—उदये सविता रक्तो रक्तश्चास्तमये तथा।
सम्पत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता। पंचतंत्र २ ७

३—जो तोकूँ काँटा बुवै ताहि बोहू तू फूल।
तोकूँ फूल के फूल हैं वाकूँ है तिरशूल। कबीर

तु० की० उपकारिषु यः साधुः साधुत्वे तस्य को गुणः
अपकारिषु यः साधुः स साधुः सद्भिरुच्यते। पंचतंत्र ४·४८

४—तरुवर फल नहिं खात हैं, सरवर पियहिं न पान।
कहि रहीम परकाजहित, संपति सँचहि सुजान। रहीम रत्नावली, ६·८८

रहीम कहते हैं : "पंक का वह जल धन्यवाद का पात्र है जिसे छोटे जीव पेट भर कर पीते हैं। भला उस समुद्र का क्या बड़प्पन जहाँ से जगत् प्यासा लौट जाता है।[१]"

"जिस प्रकार रोग उपेक्षा करने से बढ़ जाता है और प्राणों को ले बैठता है, अग्नि उपेक्षा करने पर जला डालती है, पाप उपेक्षित होकर बढ़ता जाता है और सर्वनाश का कारण बन जाता है, स्वामी उपेक्षा करने पर अमंगल का कारण हो जाता है, तथा सर्प उपेक्षा करने पर डस लेता है, उसी प्रकार वैरी भी उपेक्षा करने पर नाश का कारण बन बैठता है।[२]" अतः वैरी की रोग आदि के समान उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

"जिसके पास न विद्या है, न बुद्धि है, न धर्म है, न यश है और न दान है, वह मनुष्य-रूप में बिना पूछ और सींगों का पशु है।"

तु० की० : पिबन्ति नद्यः स्वयमेव नाम्भः
स्वयं न खादन्ति फलानि वृक्षाः
पयोमुचाम्भः क्वचिदस्ति पास्यं
परोपकाराय सतां विभूतयः।
देवेश्वर सु० र० भा०, ४६·१७० पर उद्धृत)

१—धनि रहीम जल पक को, लघु जियं पियत अघाय।
उदधि बड़ाई कौन है, जगत पिआसो जाय।
रहीम रत्नावली, ११ १०५

तु० की० : दाता लघुरपि सेव्यो भवति न कृपणो महानपि समृद्ध्या
कूपोऽन्तः स्वादुजलः प्रीत्यै लोकस्य न समुद्रः
पंचतंत्र २ ७३

२—रिपु रुज पावक पाप, प्रभु, अहि गनिअ न छोट करि।
रा० च० मा०, पृ० ६७६

तु० की० : ऋणशेषं चाग्निशेषं शत्रुशेषं तथैव च
व्याधिशेषं च निःशेषं कृत्वा प्राज्ञो न सीदति।
पंचतंत्र ३·२१६

३—रहिमन विद्या बुधि नहीं, नहीं, धरम जस दान।
भू पर जनम वृथा धरै, पसु बिनु पूंछ बिषान॥ रहीम रत्ना० २३·२३२

तु० की०, येषां न विद्या तपो न दानं
ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः

"जैसी भवितव्यता होती है वैसी ही सहायता मिलती है। वह स्वयं मनुष्य के पास नहीं आती, मनुष्य को अपने पास खींच ले जाती है अर्थात् मनुष्य भावी के अनुरूप ही आचरण करने लगता है।"

"संग से यती, कुमन्त्र से राजा, अभिमान से ज्ञान, मदिरादि के पान से लज्जा, नम्रता के बिना प्रेम और मद से गुणी लोगों का शीघ्र ही विनाश हो जाता है।"

"बन्धुओं के मध्य में धनहीन होकर जीवन व्यतीत करने की अपेक्षा वन में फलाहार करके रहना कहीं अच्छा है।[३]"

"याचना मनुष्य के महत्त्व का विनाश करती है, याचना के समय भगवान् विष्णु को भी वामनरूप धारण करना पड़ा था।"

ते मर्त्यलोके भुवि भारभूता।
मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति॥
नीतिशतक, १३ तथा चाणक्यनीति, १०·७

१—तुलसी जस भवितव्यता, तैसी मिले सहाय।
आपुन आवै ताहि पै, ताहि तहाँ ले जाय। दोहावली ४५०
तु० की० : तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायोऽपि तादृशः
सहायास्तादृशा एव यादृशी भवितव्यता॥ चाणक्यनीति ६·६

२—संग ते जती कुमंत्र ते राजा। मान ते ज्ञान पान ते लाजा।
प्रीति प्रनय बिनु मद ते गुनी। नासहिं वेगि नीति अस सुनी।
रा० च० मा०, पृ० ६१६
तु० की० नीतिशतक ४२ तथा पचतंत्र १·१६५

३—वरु रहीम कानन भलो, बास करिय फल भोग।
बन्धु मध्य धनहीन ह्वै, बसिबो उचित न योग॥ रहीम रत्ना० २४·२४५
तु० की० : वरं वनं व्याघ्रगजादिसेवितं
जनेन हीनं बहुकण्टकावृतम्।
तृणानि शय्या परिधानवल्कलं
न बन्धुमध्ये धनहीनजीवितम्।
पंचतंत्र ५·२३ तथा चाणक्यनीति, १०·१२

४—रहिमन याचकता गहे, बड़े छोट ह्वै जात।
नारायण हू को भयो, बावन अंगुर गात॥ रहीम रत्नावली २१·२१८
तु० की० :
याचना हि पुरुषस्य महत्त्वं नाशयत्यखिलमेव तथाहि।
सद्य एव भगवानपि विष्णुर्वामनो भवति याचितुमिच्छन्॥
भारवि (सु० र० भां०, ७३:२७ पर उद्धृत)

'ढोल, गँवार, शूद्र, पशु और नारी ये सब ताड़ना से ही ठीक काम करते हैं।[1]'

"दूसरों को उपदेश देने में कुशल मनुष्य तो बहुत से मिलते हैं, किन्तु उपदेशानुकूल आचरण करने वाले बहुत थोड़े ही होते हैं।[2]"

"जो मित्र को कुमार्ग से बचाकर सुमार्ग पर चलाता है, उसके अवगुणों को छिपाकर गुणों को प्रकट करता है, देते लेते मन में शंका नहीं करता, अपने बल और विचार से सदा हित करता है और विपत्ति के समय सौगुना प्रेम करता है, वह सच्चा मित्र है।[3]"

'सुख में तो अनेक प्रकार से अनेक मित्र बन जाते हैं किन्तु जो दुःख में भी साथ देता है वही सन्मित्र है।'

१—तु० की० : गर्दभः पटहो दासी ग्राम्यः पशवः स्त्रियः
दण्डेनाक्रम्य भुञ्जीयान्न ते सम्मानभाजनम् ॥
भट्ट (सु० र० भा० १६५.५६४ पर उद्धृत)

२—पर उपदेश कुशल बहुतेरे। जे आचरहिं ते नर न घनेरे।
रा० च० मा०, पृ० ६०४

तु० की० : परोपदेशे पाण्डित्यं सर्वेषां सुकरं नृणाम्।
धर्मे स्वीयमनुष्ठानं कस्यचित्सुमहात्मनः ॥
शङ्कुक (सु० र० भा० ४५.२६ पर उद्धृत)

३—कुपथ निवारि सुपंथ चलावा। गुन प्रगटइ अवगुनहिं दुरावा।
देतलेत मन संक न धरई। बल अनुमान सदा हित करई।
बिपति काल कर सतगुन नेहा। स्रुति कह सत्य मित्र गुन एहा।
रा० च० मा०, पृ० ७२२

तु० की : पापान्निवारयति योजयते हिताय।
गुह्यं च गूहति गुणान् प्रकटी करोति।
आपद्गतं च न जहाति ददाति काले।
सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः ॥
नीतिशतक ७३

४—कहि रहीम सम्पति सगे, बनत बहुत बहु रीत।
बिपति कसौटी जे कसे, सो ही साचे मीत ॥
रहीम रत्नावली, ४ ३१

तु० की० : आपत्काले तु सम्प्राप्ते यन्मित्रं मित्रमेव तत्। पचतंत्र,
वृद्धिकाले तु सम्प्राप्ते दुर्जनोऽपि सुहृद् भवेत् ॥ २ ११८

"प्रेम एक सूत्र के समान है। जिस प्रकार सूत्र को तोड़कर जोड़ने से उसमें गाँठ पड़ जाती है उसी प्रकार तोड़कर जोड़े हुए प्रेम में गाँठ पड़ जाती है ; अतः प्रेम को फिर जोड़ने के लिए नहीं तोड़ना चाहिए।[१]"

सामान्य नीति के अन्तर्गत इस प्रकार के और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं, किन्तु निबन्ध की स्थूलता के भय से उन सबकी यहाँ आवश्यकता नहीं समझी गई।

१—रहिमन धागा प्रेम का, मत तोड़ो छिटकाय।
टूटे से फिर ना मिले, मिले गांठ पड़ जाय
रहीम रत्नावली २७·१६८

तु० की० : चित्तिका दीपिता पश्य फटा भग्ना ममैव च।
भिन्नश्लिष्टा तु या प्रीतिन सा स्नेहेन वर्धते।
पंचतंत्र ३·१२६

एकादश अध्याय

काव्य-शास्त्र

जिस प्रकार हिन्दी-साहित्य के अन्य अंगों पर संस्कृत-साहित्य का प्रभाव पड़ा है उसी प्रकार काव्यशास्त्र पर भी पड़ा है, किन्तु भक्तिकाल में काव्य शास्त्र का वैसा विकसित रूप नहीं मिलता जैसा रीतिकाल में मिलता है। कृपाराम, नन्ददास, रहीम और केशव, इन चार भक्तिकालीन कवियों का नाम ही काव्यशास्त्र पर लिखनेवालों में लिया जा सकता है। नन्ददास ने रसमंजरी द्वारा, कृपाराम ने हिततरंगिणी द्वारा, रहीम ने बरवै-नायिका-भेद द्वारा और केशव ने रसिकप्रिया तथा कविप्रिया द्वारा शास्त्रीय परंपरा को अभाव के गर्भ में गिरने से बचाया है। इनमें से पहले तीन का प्रयास तो शृंगार रस के केवल आलंबन और आश्रय पक्ष तक ही सीमित रहा है, किन्तु केशव ने काव्यशास्त्र के कुछ अधिक भीतर तक अतिक्रमण किया है। उन्होंने रस, अलंकार, दोष और वृत्ति की विवेचना की है। भक्ति काल के प्रान्तर पर खड़े होकर रीतिकाव्य का मानों द्वार खोलने की चेष्टा की है। हिततरंगिणी केवल नायिकाभेद का ग्रंथ है। रसमंजरी और बरवै नायिकाभेद में नायक-नायिका दोनों के भेदों का विवेचन है। रसिकप्रिया में रसनिरूपण के साथ-साथ नायक-नायिका-भेद, अनरस और वृत्ति का वर्णन है, तथा कविप्रिया में प्रमुखतया अलंकारों को लेकर काव्य-दूषणों की विवेचना की गई है। अलंकारों के वर्णन में 'सामान्य' और 'विशेष' भेद के अन्तर्गत लगभग उन सब उपकरणों पर दृक्पात किया गया है जिनकी काव्य-सर्जना में बड़ी आवश्यकता पड़ती है। उपर्युक्त कवियों के नायक नायिकभेद से सम्बन्धित दृष्टिकोण को प्रभावित करने में प्रायः भानुदत्तकृत रसमंजरी का ही हाथ रहा है, किन्तु केशव ने अनेक स्थलों पर साहित्य-दर्पण से भी सहायता लेली है। काव्य-सम्बन्धी दूषण, भूषण और वृत्ति के वर्णन में केशव के दृष्टिकोण को प्रायः काव्यादर्श, काव्यकल्पलतावृत्ति और अलंकार शेखर ने बनाया है। आगे उक्त ग्रन्थों पर संस्कृत साहित्य के प्रभाव की खोज रस, अलंकार, दोष और वृत्ति के अन्तर्गत की जायगी।

विभाव, अनुभाव और सचारी के संयोग से स्थायी भाव के व्यक्त होने को केशव रस कहते हैं।[1] रसनिष्पत्ति के विषय में यह धारणा भरत मुनि से ही

१—देखिये, रसिक प्रिया १·२ :

मिल विभाव अनुभाव पुनि, संचारी सुअनूप।
व्यंग करै थिरभाव जो, सोई रस सुख रूप।

रस चली आ रही है। उनके परवर्ती सभी आचार्यों ने उसे स्वीकार किया है।[1] अनुभावों में सात्विक भावों की स्थिति मानकर केशवदास भावों के पाँच प्रकार विभाव, अनुभाव, सचारी भाव, स्थायी भाव और सात्विक भाव मानते हैं।

विभाव "जगत में जिनसे अनायास ही अनेक रस प्रकट हो जाते हैं बुद्धिमान उन्हें विभाव कहते हैं।[3]" 'विभाव' के दो भेद होते हैं: आलंबन और उद्दीपन। आलबन नायिकादि होते हैं क्योंकि उन्ही का आश्रय लेकर रस की निष्पत्ति होती है।[4] जो रस को उद्दीपित करते हैं वे उद्दीपन विभाव कहलाते हैं केशव ने उद्दीपन के उदाहरणों को आलबन मे रखकर दोनों के अन्तर को अस्पष्ट कर दिया है।[7]

अनुभाव केशव इत्यादि के प्रकट करने वाले आलबन और उद्दीपन के अनुकरण को अनुभाव कहते हैं।[8]

१—मम्मट। काव्यप्रकाश ४·२८:

विभावानुभावाश्च कथ्यन्ते व्यभिचारिण।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायीभावो रसः स्मृतः॥

तथा विश्वनाथ, साहित्यदर्पण ३·१:

विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायिभावः सचेतसाम्।

२—देखिये, रसिकप्रिया ६·२:

भाव सु-पाँच प्रकार को, सुनु विभाव अनुभाव।
अस्थाई सात्विक कहैं, व्यभिचारी कविराव।

३—देखिये, रसिकप्रिया ६·३: तु० की० साहित्यदर्पण ३·२६

४—देखिये, रसिकप्रिया ६·४, तथा हिततरंगिणी १·८,६ तु० की० साहित्यदर्पण ३·२६

५—देखिये, रसिकप्रिया ६·५: "जिन्हैं अतन अवलंबई, ते आलंबन जान।" तु० की० साहित्यदर्पण, ३·२६

६— रसिकप्रिया ६·५: जिनते दीपति होत है, ते उद्दीप बखान। तु० की० साहित्यदर्पण ३·१३१

७—देखिये, रसिकप्रिया ६·६

८—रसिकप्रिया ६·८: तु० की० साहित्यदर्पण ३·१३२ तथा दशरूपक ४·३

स्थायीभाव

केशव ने रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय जुगुप्सा घृणा और विस्मय, ये आठ स्थायी भाव बतलाये हैं।[1] स्थायीभावों के निर्दिष्टीकरण में उन्होंने काव्यप्रकाश[2] का अनुकरण किया है। उसमें भी आठ ही स्थायीभाव माने गये हैं। चर्वणावस्था को पहुँचकर स्थायीभाव ही रस सज्ञा प्राप्त कर लेता है।

सात्त्विकभाव

केशव ने स्तंभ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलाप, ये आठ सात्विक भाव माने हैं।[3] इनमें से सात तो दशरूपक[4] और साहित्यदर्पण[5] से मिलते हैं, किन्तु आठवाँ 'प्रलाप' (delirious speech) प्राचीनों के प्रलय (fainting) से नहीं मिलता। सात्त्विक भावों की गणना प्रायः अनुभावों में हो जाती है। केशव ने इनका उनसे पृथक् निरूपण किया है।

संचारी या व्यभिचारी भाव

जो भाव सब रसों में बिना किसी नियम के उत्पन्न हो जाते हैं उन्हें केशवदास व्यभिचारी कहते हैं।[6] व्यभिचारी का यह लक्षण साहित्य-दर्पण[7] के अनुकरण में लिखा गया है। केशव ने 'विशेषात्' के स्थान पर 'बिना नियम' का प्रयोग किया है। प्राचीनों के समान केशव[8] ने भी इनकी सख्या तंतीस ही निश्चित की है।

१—देखिये, रसिकप्रिया ६·६ २—देखिये, काव्यप्रकाश ४ ३०

३—रसिकप्रिया ६·१० :

स्तभस्वेदरोमाच सुर, भंग कंप वैवर्ण।
अश्रुप्रलाप बखानिये, आठो नाम सुवर्ण।

४—देखिये, दशरूपक ४·७ ५—साहित्यदर्पण, ३ १३५

६—रसिकप्रिया ६·११ ७—देखिये साहित्यदर्पण, ३·१४०

८—देखिये, रसिकप्रिया ६·१२-१४ :

निर्वेद ग्लानि शंका तथा, आलस दैन्य रु मोह।
स्मृति व्रीडा चपलता, श्रम मद चिंता कोह। १२
गर्व हर्ष आवेग पुनि, निन्दा नींद विवाद।
जड़ता उत्कठा सहित, स्वप्न प्रबोध विषाद। १३
अपस्मार मति उग्रता, आश तर्क अनिव्याध।
उन्माद मरणभय आदि दै, व्यभिचारी युत साध। १४

तु० की०, दशरूपक ४·६, तथा काव्यप्रकाश ४ ३१-३४,
तथा साहित्यदर्पण ३·१४१

आचार्यों ने रस निष्पत्ति में भाव को अनिवार्य माना है, इसलिये रस प्रकरण के साथ भाव-निरूपण भी किया जाता है। प्रेम की प्रथम अवस्था को कविजन भाव कहते हैं।[1] नन्ददासकृत भाव का यह लक्षण विश्वनाथकृत[2] लक्षण से मिलता है। अन्तर है तो केवल इतना कि विश्वनाथ का लक्षण सामान्य 'भाव' का सूचक और नन्ददास का विशेष 'भाव' का सूचक है, परन्तु केशव भाव का यह लक्षण देते हैं: "जब आनन, लोचन अथवा वचनों द्वारा मन की बात प्रकट होने लगती है तो कविजन उसे 'भाव' कहते हैं।[3]" यह लक्षण भाव का न होकर 'हाव' का बन गया है।

भाव

ये दोनों भाव की ही विकसित दशाएँ है। नंददास के अनुसार "जब भाव नेत्र और वाणी से प्रकट होने लगता है तो कविलोग उसे हाव कहते हैं,"[4] केशव ने हाव का लक्षण इस प्रकार दिया है।

हाव और हेला

प्रेम राधिका कृष्ण को, है ताते श्रृंगार,
ताके भाव प्रभाव ते, उपजत हाव विचार। रसिकप्रिया, ६·१५

यह लक्षण अधिक स्पष्ट तो नहीं है, किन्तु इससे यह समझा जा सकता है कि 'हाव' की स्थिति श्रृंगार में होती है और इसका कारण प्रेम भाव होता है।

"मन की उस दशा को जिसमें वह श्रृंगार में अत्यन्त मगन रहने लगता है"[5] नंददास 'हेला' कहते हैं। इस दशा में रतिभाव का आविर्भाव अनेक चेष्टाओं से

१—नन्ददास, रसमंजरी, पृ० ५६ : प्रेम की प्रथम अवस्था जोइ।
कविजन भाव कहत हैं सोइ।

२—देखिये, साहित्यदर्पण ३·६३ :
"निर्विकारात्मके चित्ते भावः प्रथमविक्रिया।"

३—रसिकप्रिया ६·१ : आनन लोचन वचन मग, प्रकटत मन की बात।
ताही सों सब कहत हैं, भाव कविन के तात।

४—नंददास, रसमंजरी पृ० ५६ :
नैन बैन जब प्रगटै भाउ, ताकौ सुकवि कहत हैं हाउ।
तु० की० साहित्यदर्पण, ३·६४ :
'भ्रूनेत्रादिविकारैस्तु संभोगेच्छाप्रकाशकः।
भाव एवाल्पसंलक्ष्यविकारो हाव उच्यते॥"

५—देखिये, नंददास, रसमंजरी पृ० ६० :
अति सिंगार मगन मन रहै, ताकौ कवि हेला छवि कहै।

होने लगता है। यह लक्षण साहित्यदर्पण[1] में दिए हुए 'हेला' के लक्षण के अनुरूप है। केशव भी इससे कुछ मिलता जुलता ही लक्षण देते हैं। उनके अनुसार 'हेला' में पूर्ण प्रेम के प्रभाव से लज्जा छूट जाती है और नायक-नायिका के हृदय में पारस्परिक चेष्टाओं से आकर्षण होने लगता है।[2] केशव 'हेला' को हाव का ही भेद मानते हैं। इसके अतिरिक्त साहित्यदर्पण में 'स्त्रियों के जो स्वभावज[3]' अलंकार माने गये हैं उन्हें केशव ने हाव भेदों में सम्मिलित कर लिया है।

रस भेद

रस की संख्या के निर्धारण में आचार्यों में प्रायः मतभेद मिलता है। विश्वनाथ ने 'शान्त' को बड़ी दबी[5] जीभ मे 'रस कहा है। मम्मट[6] ने तो शान्त को एक बार रस श्रेणी से बिल्कुल ही निकाल[7] दिया है, किन्तु कुछ सोचकर पुनः उसे 'नव रस' में सम्मिलित किया है। धनंजय ने 'शम' को स्थायीभाव इसलिए नही माना कि रूपक में इसका विकास नहीं होता। केशव[9] के संबंध में विलक्षण बात यह है कि उन्होंने स्थायी भाव आठ मानते हुए भी 'रस' नौ माने हैं।

शृंगार रस

इसका स्थायीभाव रति है। केशव ने इसे रसराज[10] माना है। इसे रसराज मानने का उनकी समझ में कोई कारण रहा हो, हमारी समझ में तो उन्होंने इसे रसराज इसलिए माना है कि इसमें कोमल एवं मधुर भावों का विलास रहता है तथा उग्रता, मरण, आलस्य और जुगुप्सा जैसे माधुर्यापकर्षक भाव पास भी नहीं फटकने पाते। "कामदेव के उद्भेद को 'शृंग' कहते हैं। उसकी उत्पत्ति का कारण, अधिकांशतः उत्तम प्रकृतियुक्त रस 'शृंगार' कहलाता है।"[11] 'शृंगार' के नामकरण का कारण केशव भी कुछ ऐसा ही बतलाते हैं : "इसमें रतिमति के अति चातुर्य और मन्मथमत्र के विचार की संस्थिति होने से विद्वान् कवि इसे

१—देखिये, साहित्यदर्पण ३.६५ २—देखिये, रसिकप्रिया ६ १८

३—देखिये, रसिकप्रिया ६ १६ ४—देखिये, रसिकप्रिया ६.१६,१७

५—देखिये, साहित्यदर्पण ३ १८२ :

शृंगारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानका .
वीभत्सोऽद्भुत इत्यष्टौ रसाः शान्तस्तथा मत :

६—देखिये, काव्यप्रकाश ४.२६ ७—देखिये, काव्यप्रकाश ४.३५

८—देखिये दशरूपक ४.४४ ६—देखिये, रसिकप्रिया १.१५

१०—देखिये, रसिकप्रिया १.१६ ११—देखिये, साहित्यदर्पण, ३.१८३

शृंगार कहते हैं"[1]। 'शृंगार के दो भेद माने जाते हैं : एक संभोग या संयोग शृंगार और दूसरा विप्रलंभ शृंगार।"[2]

शृंगार रस में आलंबन और आश्रय के अन्तर्गत स्त्री-पुरुष का होना (चाहे आलंबन काल्पनिक ही हो) अनिवार्य होने से नायक-नायिका-संबन्ध का निश्चित रूप इसी में संभव हो सकता है। अन्य रसों में आलंबन और आश्रय दोनों ही स्त्री या पुरुष हो सकते हैं, अतः उनमें आलंबन और आश्रय के बीच उक्त संबन्ध अनिवार्य रूप से नहीं बनता। इस कारण नायक-नायिका भेद-निरूपण शृंगार के अन्तर्गत ही करना अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

नायक

केशव के मत से नायक अभिमानी, त्यागी, तरुण, कोक-कलाप्रवीण, भव्य, क्षमी, सुन्दर, धनी, शुचि, उत्साही (सदारुचि) और कुलीन होना चाहिए।[3] रहीम भी नायक का लगभग इन्हीं गुणों से भूषित होना स्वीकार करते हैं।[4] नायक के गुणों के संबन्ध में विश्वनाथ[5] का भी यही मत है।

नायक-भेद

विश्वनाथ ने सामान्यतः नायक चार प्रकार के माने हैं: धीरोदात्त, धीरशान्त, धीरललित और धीरोद्धत। फिर इनमें से प्रत्येक के चार चार उपभेद किये हैं : अनुकूल, दक्षिण, धृष्ट और शठ। इस प्रकार सोलह प्रकार के नायक हो जाते हैं।

रामचरण तर्कवागीश भट्टाचार्य ने उक्त भेदों पर साहित्यदर्पण में टीका करते हुए लिखा है कि "शृंगारे षोडशप्रकारो नायको भवति रसान्तरे तु चतुष्प्रकार

१—देखिये, रसिकप्रिया १.१७

२—देखिये, रसिकप्रिया १.१८ : शुभ संयोग वियोग पुनि, दो शृंगार की जाति। तु० की० : साहित्यदर्पण, ३.१८६ :

"विप्रलम्भोऽथ संभोग इत्येष द्विविधो मतः"।

३—रसिकप्रिया २ १ :

अभिमानी त्यागी तरुण, कोककलान प्रवीन।
भव्य क्षमी सुन्दर धनी, शुचि रुचि सदा कुलीन॥

४—देखिये, बरवै नायिकाभेद, ६६ :

सुन्दर चतुर धनिअवा, जातिउ ऊँच।
केलि कला परबिनवा, सीलसमूच।

५—देखिये, साहित्यदर्पण ३·३०   ४—देखिये, साहित्यदर्पण ३·३१

६—देखिये, साहित्यदर्पण ३·३५ :

'एभिर्दक्षिणधृष्टानुकूलशठरूपिभिस्तु षोडशधा।'

इत्यवधेयम् ” अर्थात् शृंगार रस में सोलह प्रकार के नायक होते हैं, परन्तु अन्य रसों में धीरोदात्तादि चार ही प्रकार के होते हैं।

केशव[1] और नन्ददास[2] ने नायक के अनुकूलादि चार भेद ही माने हैं, किन्तु रहीम[3] ने 'रसमंजरी'[4] के अनुसार नायक के पति, उपपति और वैशिक, तीन भेद करके अनुकूलादि की पति के उपभेदों में गणना की है। इनके अतिरिक्त रहीम ने नायक के प्रोषित, मानी, वचनचतुर और क्रियाचतुर, चार भेद और माने हैं। रसमंजरी में 'मानी' और 'चतुर' (वचनचतुर और क्रिया चतुर) शठ[5] के ही उपभेद माने गये हैं। उसमें प्रोषित[6] के पत्युपरति आदि के विचार से तीन भेद किए गये हैं, किन्तु रहीम प्रोषित के भेदों के सम्बन्ध में मौन हैं। कृपाराम[7] ने नायकभेद के अन्तर्गत केवल पति, उपपति और वैशिक का ही उल्लेख किया है।

नायिका-भेद

साहित्यदर्पण[8], रसमंजरी[9] और दशरूपक[10] में नायिकाओं के स्वकीया, परकीया और सामान्या, ये तीन भेद समानरूप से मिलते हैं। हिन्दी के प्रायः सब[11] आचार्यों ने इन भेदों को स्वीकार किया है तथा स्वकीया[12] के तीन भेदों (मुग्धा, मध्या

---

१ देखिये, रसिकप्रिया २ २ :

अतुल दक्ष शठ धृष्ट पुन, चौविध ताहि बखान।

२—देखिये, नन्ददास रसमंजरी प्रथम भाग, पृ० ५८

३—देखिये, बरवै नायिका भेद, ६७-१०८

४—देखिये, रसमंजरी भानुदत्तकृत, पृ० १६५-१८१

५—देखिये, रसमंजरी, पृ० १७६ ६—देखिये, रसमंजरी, पृ० १७६

७—देखिये, हिततरंगिणी, १·३६

८—साहित्यदर्पण, ३ ५६ ९ – रसमंजरी, पृ० ५

१०—दशरूपक, २·२४

११—देखिये, नन्ददास रसमंजरी पृ० ४०, पं० १२

” हिततरंगिणी, तरंग १, छंद १६

„ रहीमरत्नावली बरवैनायिकाभेद पृ० ४०, ४३, ४७

„ रसिकप्रिया ३ १४

१२—देखिये, नन्ददास (रसमंजरी) पृ० ४०, पं० १३

„ हिततरंगिणी, तरंग १, छंद २२

„ रहीमरत्नावली (बरवैनायिका भेद), पृ० ४१, ४२, ४१

„ रसिकप्रिया ३·१६

और प्रौढ़ा) को भी सभी ने रसमंजरी[1] और साहित्यदर्पण[2] के अनुकरण पर ही माना है।

मुग्धा

मुग्धा के भेदों के संबन्ध में कृपाराम[3], नन्ददास[4] और रहीम[5] का एकमत है। उन्होंने रसमंजरी[6] के आधार पर मुग्धा के चार भेद—ज्ञातयौवना, अज्ञातयौवना, नवोढ़ा और विश्रब्ध नवोढ़ा ही किए हैं। केशव[7] ने मुग्धा के भेद तो चार ही किये हैं किन्तु उन्होंने एकान्ततः रसमजरी का ही अनुकरण नहीं किया। उन चार भेदों में से एक भेद 'नवल वधू' भी है जो रसमंजरी की 'नवोढ़ा' का ही दूसरा नाम है। अन्य तीन भेद 'नवयौवना', 'नवल अनंगा', और 'लज्जाप्राया' हैं जो साहित्यदर्पण[8] के प्रथमावतीर्णयौवना', 'प्रथमावतीर्णमदनविकारा' और 'समधिकलज्जावती', भेदों के नामान्तर मात्र हैं। कृपाराम[9] ने नवोढ़ा के ललिता और उदितयौवना दो भेद किए हैं। ये भेद न तो रसमंजरी में हैं और न साहित्यदर्पण में।

मध्या

साहित्यदर्पण[10] में मध्या के विचित्रसुरता, प्ररूढस्मरा, प्ररूढयौवना ईषत्प्रगल्भवचना और मध्यमव्रीडिता, पाँच भेद किए हैं। उन्हीं में से मध्यमव्रीडिता को छोड़ कर शेष चार भेदों को केशव[11] ने स्वीकार कर लिया है उन्होंने प्ररूढयौवना को 'आरूढयौवना', ईषत्प्रगल्भवचना को प्रगल्भवचना, विचित्रसुरता को सुरतिविचित्रा तथा प्ररूढस्मरा को प्रादुर्भूत मनोभवा नाम दे दिया है। रसमंजरी में ये भेद नहीं मिलते। उसमें अतिविश्रब्धनवोढा[12] को ही मध्या का अवस्थान्तर माना है। इसी को कृपाराम[13] ने स्वीकार किया है।

धीरा, अधीरा और धीराधीरा, मध्या के ये तीन भेद केशव[14], कृपाराम[15]

१—रसमंजरी, पृ० ७ | २—साहित्यदर्पण, ३ ५७

३—हिततरंगिणी (कृपाराम) तरंग १, छंद २४

४—नन्ददास (रसमंजरी), पृ० ४०, ४१, ४२

५—रहीमरत्नावली (बरवैनायिका भेद) पृ० ४१ ४२

६—रसमंजरी, पृ० ११, १४, १५, १७

७—देखिये, रसिकप्रिया ३·१७ | ८—देखिये, साहित्यदर्पण ३ ५८

९—देखिये हिततरंगिणी, २ ४०, ४४।

१०—साहित्यदर्पण, ३·५९ | ११—देखिये, रसिकप्रिया ३·३२

१२ रसमंजरी पृ० १८ | १३—हिततरंगिणी, तरंग २, छंद ५४

१४—देखिये, रसिकप्रिया, ३·४६ | १५—हिततरंगिणी, तरंग ५, छंद ४४

और नन्ददास[1] ने ही माने हैं; रहीम ने उन्हें छोड़ दिया है। इन भेदों का आधार रसमंजरी[2] और साहित्यदर्पण[3] दोनों को माना जा सकता है। कृपाराम[4] ने ज्येष्ठा, कनिष्ठा और समहिता, ये तीन भेद और किये हैं। 'समहिता' कृपाराम की मौलिक सूझ है। 'ज्येष्ठा' और 'कनिष्ठा' भेदों को तो साहित्यदर्पण[5] और रसमंजरी[6] ने भी स्वीकार किया है

प्रौढा के भेदों के संबन्ध में हिन्दी में कुछ अधिक मतभेद पाया जाता है।

प्रौढा

कृपाराम[7] ने प्रौढा के दो भेद, रतिप्रिया और आनन्द मत्ता, किये हैं। फिर प्रत्येक भेद के धीरादि[8] तीन-तीन भेद और किये हैं। भेदों का यह विधान रसमंजरी[9] के आधार पर दीख पड़ता है, किन्तु कृपाराम ने धीरादि को ज्येष्ठा और कनिष्ठा दो-दो उपभेदों के स्थान पर ज्येष्ठा, कनिष्ठा और समहिता तीन[10] में बाँटकर रसमंजरी[11] और साहित्यदर्पण[12] से अपना मतभेद प्रकट किया है। नन्ददास[13] ने प्रौढा के धीरादि तीन भेद ही किये हैं। रहीम ने प्रौढा के भेद नहीं किये। साहित्यदर्पण[14] का सहारा लेकर केशव[15] ने प्रौढा के पहले चार भेद—'समस्तरसकोविदा,' 'विचित्रविभ्रमा' आक्रामितनायिका और लब्धापति—किये हैं। साहित्यदर्पण की 'समस्तरतकोविदा' नायिका को केशव ने 'समस्तरसकोविदा' और 'आक्रान्त-नायका' को आक्रामितनायका कर दिया है तथा 'साहित्यदर्पण' की 'दरव्रीडा' प्रौढा ने रसिकप्रिया में 'लब्धापति, नाम प्राप्त कर लिया है। केशव ने 'विचित्र-विभ्रमा' का नामकरण संभवतः साहित्यदर्पण की 'भावोन्मत्ता प्रौढा' के स्थान पर किया है। रसिकप्रिया[16] में प्रौढा के धीरा, अधीरा तथा धीराधीरा तीन

१—नन्ददास (रसमंजरी), पृ० ४३
२—देखिये, रसमंजरी, पृ० २७
३—साहित्यदर्पण, ३·६१
४—देखिये हिततरंगिणी, २·६७
५—साहित्यदर्पण, ३·६४
६—रसमंजरी, पृ० ४२
७—देखिये, हिततरंगिणी, २·६३, ६४
८— " " ५·४४
९—देखिये रसमंजरी, पृ० २१, २७
१०—देखिये, हिततरंगिणी, २·६७
११—देखिये, रसमंजरी, पृ० ४२
१२—देखिये, साहित्यदर्पण, ३·६४
१३—देखिये, नन्ददास (रसमंजरी), पृ० ४४।
१४—साहित्यदर्पण, ३·६०
१५—रसिकप्रिया ३·५१
१६—देखिये, रसिकप्रिया, ३·६०, ६४, ६५

उपभेद साहित्यदर्पण और रसमंजरी के समान ही मिलते हैं, परन्तु, ज्येष्ठा और कनिष्ठा का उल्लेख बिल्कुल नहीं है।

परकीया

साहित्यदर्पण[1] और रसमंजरी[2] दोनों में परकीया के भेद, परोढा और कन्यका (अनूढा) किए गये हैं। नन्ददास को छोड़कर केशव[3], कृपाराम[4] और रहीम,[5] तीनों को ये भेद मान्य हैं। रहीम[6] और कृपाराम[7] ने रसमंजरी[8] का अनुकरण करते हुए परकीया के अन्य छै भेद-गुप्ता, विदग्धा, लक्षिता, अनुशयना, मुदिता और कुलटा-भी स्वीकार किए हैं। नन्ददास[9] ने इनमें से केवल तीन भेद गुप्ता, विदग्धा और लक्षिता ही स्वीकार किए हैं। केशव ने परकीया के इन भेदों की ओर रुचि प्रकट नहीं की। वे विश्वनाथ की तरह परोढा और अनूढा पर ही रुक गये हैं।

सामान्या

विश्वनाथ ने सामान्या का सविस्तर निरूपण नहीं किया। संभवतः उन्हीं का अनुकरण करके केशव भी सामान्या के विस्तृत विवेचन की ओर नहीं बढ़े हैं। नंददास भी सामान्या का विवेचन छोड़ गए हैं। रहीम[10] और कृपाराम[11] सामान्या की विवेचना में औरों से अधिक आगे बढ़े दीख पड़ते हैं। उनकी विवेचना का आधार 'रसमंजरी'[12] रही है।

अन्य भेद

रसमंजरी[13] में स्वकीया, परकीया और सामान्या के अन्यसंभोगदुःखिता, गर्विता और मानवती, ये तीन तीन भेद किये गये हैं। कृपाराम[14] ने रसमंजरी ही का अनुकरण किया है। पर मानवती के भेदों के निरूपण में उन्होंने कुछ कृपणता से

१—देखिये, साहित्यदर्पण ३·६६ २—रसमंजरी, पृ० ४६

३—रसिकप्रिया ३ ६८ ४—हिततरंगिणी ३·५

५—रहीमरत्नावली (बरवैनायिका भेद) पृ० ४३-४४

६—देखिये रहीमरत्नावली (बरवैनायिका भेद), पृ० ४४-४७

७—देखिये, हिततरंगिणी ३·१६-४७ ८—देखिये, रसमंजरी, पृ० ५२

९—देखिये, नन्ददास रसमंजरी, पृ० ४४-४५

१०—देखिये, रहीमरत्नावली बरवैनायिका भेद, पृ० ४७.४८

११—देखिये, हिततरंगिणी, तृतीय तरंग

१२—देखिये, रसमंजरी, पृ० ७०, ७४, ६७, १०३, ११०, ११६, १२२, १२८, १३४, १४४, १५१

१३—देखिये, रसमंजरी, पृ० ७४ १४—हिततरंगिणी ५.७१-१०३

काम लिया है जब कि रसमंजरी में उन भेदों ने अधिक विस्तार ले लिया है। गर्विता के भेदीकरण में कृपाराम ने कुछ मौलिकता से भी काम लिया है। जहाँ रसमंजरी[1] में गर्विता को वक्रोक्तिगर्विता नाम देकर उसके प्रेमगर्विता और सौन्दर्यगर्विता दो भेद किए हैं वहाँ कृपाराम[2] ने गर्विता के वक्रोक्तिगर्विता और सरलोक्तिगर्विता, दो भेद करके प्रत्येक के प्रेमगर्विता, रूपगर्विता और गुण-गर्विता तीन तीन उपभेद किए हैं। केशव और नंददास ने इन सब भेदों को छोड़ दिया है। रहीम[3] ने केवल गणिका के संबंध में अन्यसंभोगदुःखिता और गर्विता का उल्लेख किया है, किन्तु गर्विता[4] के दो भेद प्रेमगर्विता और रूप-गर्विता रसमंजरी[5] के आधार पर ही किए हैं।

अवस्थानुसार नायिका-भेद

अवस्थानुसार नायिका-भेदों में विभिन्नता मिलती है। दशरूपक[6] और साहित्यदर्पण[7] में आठ प्रकार की नायिकाएँ, प्रोषितभर्तृका खंडिता, अभिसारिका, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, उत्कंठिता, वासकसज्जा और स्वाधीनपतिका मानी गई हैं। रसमंजरी[8] में एक भेद 'प्रवत्स्यत्पतिका' और बढ़ा हुआ मिलता है। केशव[9] ने साहित्यदर्पण के आठ भेदों को ही स्वीकार किया है। इन आठों प्रकार की नायिकाओं के मुग्धा, मध्या, प्रौढा, परकीया और सामान्या—ये पाँच-पाँच भेद न करके 'प्रच्छन्न, और 'प्रकाश' नामक दो-दो भेद (जो केशव ने सब भेदोपभेदों के साथ लगाये हैं) किए हैं। 'प्रच्छन्न' और 'प्रकाश का आविष्कार केशव की मौलिकता है। उन्होंने अभिसारिका[10] के छै भेद किये हैं जो विलक्षण हैं। उनमें से तीन भेद स्वकीया, परकीया और सामान्या तो प्रचलित हैं, किन्तु प्रेमाभिसारिका, गर्वाभिसारिका और कामाभिसारिका, ये तीन भेदमौलिक हैं। नंददास[11] ने रसमंजरी का अनुकरण करते हुए नायिकाएँ नौ प्रकार की ही मानी हैं और उन्होंने प्रत्येक के चार-चार भेद मुग्धा, मध्या, प्रौढा और परकीया किये हैं। 'सामान्या भेद' छोड़ दिया है। कृपाराम[12] ने नायिकाएँ दस मानी हैं उनमें से प्रत्येक के स्वीया, परकीया और सामान्या

१—रसमंजरी, पृ० ७६ २—देखिये, हिततरंगिणी, ५.७७-१०३
३—देखिये, रहीमरत्नावलीः बरवैनायिका भेद, पृ० ४७-४८
४—देखिये, रहीमरत्नावली बरवैनायिका भेद पृ० ४८
५—दखिये, रसमंजरी, पृ० ७७-७८ ६—दशरूपक २.३६
७—साहित्यदर्पण ३.७२-७३ ८—रसमंजरी, पृ० ८५
९—देखिये, रसिकप्रिया, ७.२,३ १०—देखिये, रसिकप्रिया, ७.३१-३६
११—नंददास, रसमंजरी पृ० ४५ १२—देखिये, हिततरंगिणी १.३६-३८

तीन-तीन[1] भेद किये हैं। रहीम[2] ने परकीया-अभिसारिका के दिवसाभिसारिका और निशाभिसारिका तथा निशाभिसारिका के कृष्णाभिसारिका और शुक्लाभिसारिका भेद रसमंजरी के अनुरूप किये हैं। उन्होंने भी नायिकाएँ दस[3] ही प्रकार की मानी हैं और प्रत्येक के पाँच-पाँच भेद मुग्धा, मध्यमा, प्रौढ़ा, परकीया और सामान्या रसमंजरी के आधार पर ही किए हैं।

गुणों के विचार से रहीम,[4] केशव[5] और कृपाराम[6] ने साहित्यदर्पण और रसमंजरी के अनुकरण में सब नायिकाओं के तीन-तीन भेद, उत्तमा, मध्यमा और अधमा माने हैं। नंददास ने इन भेदों को छोड़ दिया है।

इन सब भेदों के लक्षणों और उदाहरणों को लेकर उन सब पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव दिखलाना इस अध्याय में संभव नहीं है। यहाँ पर इस संबंध में केवल इतना ही कह सकते हैं कि केशव, नंददास और कृपाराम ने लक्षणों के लिखने में प्रायः रसमंजरी का अनुकरण किया है। केशव ने कुछ उपभेदों के संबंध में साहित्यदर्पण की भी सहायता ले ली है। केशव ने रसनिरूपण में 'प्रच्छन्न' और 'प्रकाश' का जाल फैलाकर जो भेद और उपभेद तैयार किए हैं वे संस्कृत-साहित्य में संभवतः अप्राप्य हैं। रहीम ने लक्षण नहीं लिखे। इन कवियों के उदाहरण अधिकांशतः मौलिक ही रहे हैं।

सखी

शृंगार रस के वर्णन में नायिका के साथ उसकी सखी का भी वर्णन आता है। "वह रूप, वय, गुण और जाति में नायिका के अनुरूप उदारचित्तवाली, बुद्धिमती तथा हितकारिणी होती है।"[7] केशव[8] के मत से धाया, दासी, नाइन, नटी, पड़ोसिन, मालिन, तमोलिन, चितेरिन, मनिहारिन, सुनारिन, गोसाँइन, सन्यासिन और पटवाइन में से कोई भी नायक-नायिका की सखी हो सकती है। दशरूपक[9] और

१—देखिये, हिततरंगिणी ५.१२८-१३०

२—देखिये, रहीमरत्नावली (बरवैनायिकाभेद) पृ० ५५.७६-८१

तु० की० रसमंजरी, पृ० १४१-१४२

३—देखिये, रहीमरत्नावली (बरवैनायिकाभेद) पृ० ४६-५७ ; 'आगतपतिका' भेद और बढ़ा दिया है।

४—देखिये, रहीमरत्नावली (बरवैनायिका-भेद) पृ० ५७

५—रसिकप्रिया, ७.३८

६—देखिये, हिततरंगिणी १.१७

७—देखिये, हिततरंगिणीः २.१

तु० की० रसमंजरी पृ० १५६

८—देखिये, रसिकप्रियाः १२.१-२

९—देखिये, दशरूपक २.४६

साहित्यदर्पण[1] में उक्त स्त्रियाँ दूतीत्व के लिए उपयुक्त समझी गई हैं। इससे स्पष्ट है कि केशव ने सखी और दूती में कोई अन्तर रखने की चेष्टा नहीं की।

सखीकर्म

रहीम[2] और कृपाराम[3] ने सखी के शिक्षा, मंडन, उपालंभ और परिहास, ये चार कर्म बतलाये हैं। रसमंजरी[4] में भी सखी के ये चार कर्म ही मिलते हैं। केशव ने दूतीकर्म को भी सखीकर्म में सम्मिलित कर लिया है अतः वे "सखी का काम शिक्षा देना, विनय करना, मनाना, मिलाना, शृंगार करना, झुकना और उलाहना देना"[5] मानते हैं।

दूती

'जो वाणी और क्रिया द्वारा, मित्र (नायक-नायिका) का नाम सुनाकर, मन को मोह कर तुरन्त मिलन करा देती है वह दूती कहलाती है।[6] "उसमें चातुर्य, उत्साह, नम्रता, हितैषिता आदि अनेक गुण होते हैं। "उसका काम विरह सुनाना और संघट्टन (मिलन) कराना है।[7]" "प्रकृति-भेद। से दूतियाँ तीन प्रकार की होती हैं : उत्तमा, मध्यमा और अधमा।[8]"

दूती का वर्णन कृपाराम को छोड़कर अन्य किसी कवि ने नहीं किया। उन्होंने लक्षण, गुण, कर्म और भेद के वर्णन में रसमंजरी का अनुकरण किया है।

१—साहित्यदर्पण, ३ १२८-१२९

२—देखिये, रहीमरत्नावली (बरवैनायिका-भेद) पृ० ६२

३—देखिये, हिततरंगिणी २·१

४—देखिये, रसमंजरी, पृ० १५६

५—देखिये, रसिकप्रिया १३·१

६—देखिये, हिततरंगिणी २·८ :

वचन क्रिया आपुहि करै हितको नाम सुनाइ।
मन वस करि मिलवै तुरत सो दूती कविराय।

तु० की०, रसमंजरी, पृ० १६२

७—देखिये, हिततरंगिणी २·९ :

निज चतुराई ठानि के भेद हिये को लेहि।
विरह सुनावै हेत धरि मिलवै मग संग देहि।

तु० की० रसमंजरी, पृ० १६२

८—देखिये, हिततरंगिणी, २·१० :

उत्तमादि दूतीन में प्रकृति भेद त्रय होइ।

तु० की० रसमंजरी, पृ० १६४ तथा साहित्यदर्पण ३·१३०

यों तो सब रसों की सृष्टि में दर्शन का हाथ रहता है, पर शृंगार के क्षेत्र में उसका अधिक महत्व है। साहित्यदर्पण[1] में दर्शन के

दर्शन

चार भेद : इन्द्रजालदर्शन, चित्रदर्शन, साक्षात्दर्शन और स्वप्नदर्शन—माने गये हैं। उसमें श्रवण को दर्शन से भिन्न[2] माना है। रहीम[3] और केशव[4] ने दर्शन के भेद तो चार ही माने हैं किन्तु उन्होंने इन्द्रजालदर्शन के स्थान पर 'श्रवण-दर्शन माना है। रसमंजरी[5] में प्रमुखतया दर्शन के तीन भेद—चित्रदर्शन, साक्षात्दर्शन और स्वप्नदर्शन ही माने गये हैं।

रस ग्रंथों में संयोग शृंगार का विशेष वर्णन नहीं मिलता। इसके विपरीत विप्रलंभ की अनेक अवस्थाएँ मिलती हैं जिनमें रसाचार्यों की

विप्रलंभ शृंगार

बुद्धि का प्रवेश बहुत गहराई तक हुआ है। "प्रियतम और प्रियतमा के बिछुड़ जाने की अवस्था में जो रस होता है उसे विप्रलंभ शृंगार कहते हैं।[6]" "उसके चार भेद होते हैं : १—पूर्वानुराग २—मान, ३—प्रवास और ४—करुण।[7]"

"जहाँ दर्शन मात्र से ही दम्पति का अनुराग उत्पन्न हो जाता है और बिना देखे दुःख की प्रतीति होती है, वहाँ 'पूर्वानुराग' होता है।[8]"

पूर्वानुराग

यहाँ केशव ने अनुराग की उत्पत्ति केवल दर्शन से ही मान

१—देखिये, साहित्यदर्पण ३·१८९

२—देखिये, साहित्यदर्पण ३·१८९ :

श्रवणं तु भवेत्तत्र दूतवन्दीसखीमुखात्।
इन्द्रजाले च चित्रे च साक्षात्स्वप्ने च दर्शनम्।

३—देखिये, रहीमरत्नावली (बरवैनायिका-भेद) पृ० ६१

४—देखिये, रसिकप्रिया ४·२ :

एक जु नीको देखिये, दूजो दरशन चित्र।
तीजो सपनो जानिये, चौथो श्रवण सुमित्र।

५—रसमंजरी, पृ० २०४

६—रसिकप्रिया ८·१ : बिछुरत प्रीतम प्रीतम, होत जु रस तिहिं ठौर।
विप्रलंभ तासों कहै, केशव कविशिरमौर।

७—देखिये, रसिकप्रिया ८·२ : तु० की० साहित्यदर्पण, ३ १८७

८—रसिकप्रिया ८·३ : देखतिहीं द्युति दंपतिहिं, उपज परत अनुराग।
बिन देखे दुख देखिये, सो पूरब अनुराग।

ली है। विश्वनाथ[1] के अनुसार वह श्रवण द्वारा भी उत्पन्न हो सकता है—संभवतः केशव ने 'श्रवण' का पृथक् नाम इसलिये नहीं लिया कि उसे दर्शन का ही एक भेद मानते हैं।

पूर्वानुराग में केशव ने काम की इन दश[2] दशाओं का होना बतलाया है: १—अभिलाषा, २—चिन्ता, ३—स्मृति, ४—गुणकथन, ५—उद्वेग, ६—प्रलाप, ७—उन्माद, ८—व्याधि, ६—जड़ता, और १०—मरण।

मान

मान प्रणय या ईर्ष्या की किसी भी कारण से उत्पत्ति हो सकती है। विश्वनाथ प्रणय से उत्पन्न होनेवाले को 'प्रणयमान' और ईर्ष्या से उत्पन्न होने वाले को "कोप" कहते हैं।[3] मान के ये दो कारण केशव[4] ने भी स्वीकार किए हैं। रसमंजरी[5] का अनुकरण करते हुए कृपाराम[6] और केशव[7] दोनों ने मान के तीन भेद—गुरुमान, मध्यम मान और लघुमान—किये हैं।

मान-मोचन

कृपाराम[8] ने तीनों प्रकार के मान, गुरु, लघु और मध्यम को छुड़ाने की पृथक् पृथक् अनेक विधियाँ बतलाई हैं। यद्यपि उनकी यह शैली कुछ विचित्र है किन्तु उपाय सब वे ही हैं जिनका निरूपण संस्कृत काव्य शास्त्र में मिलता है। केशव[9] ने साहित्यदर्पण

१—देखिये, साहित्यदर्पण ३·१८८:

श्रवणाद्दर्शनादपि मिथः संरूढरागयो:
दशाविशेषो यो प्राप्तौपूर्वरागः स उच्यते।

२—देखिये, रसिकप्रिया ८६:

अभिलाष सुचिंता गुणकथन, स्मृति उद्वेग प्रलाप।
उन्माद व्याधि जड़ता भये, होत मरण पुनि आप॥

तु० की० साहित्यदर्पण ३ १६०

३—देखिये, साहित्यदर्पण ३ १६८:

"मानः कोपः सतु द्वेधा प्रणयेर्ष्यासमुद्भव:"

४—देखिये, रसिकप्रिया ६·१ ५—देखिये, रसमंजरी, पृ० ७६

६—देखिये, हिततरंगिणी, ५ १७, १८, १६

७—देखिये, रसिकप्रिया ६ २:

"मानभेद प्रकटहि प्रिया, गुरु लघु मध्यम मान।"

८—देखिये, हिततरंगिणी ५·१७-१६

६—देखिये, रसिकप्रिया १०·२

रौद्र रस — रौद्र रस का स्थायीभाव क्रोध है। इसका आविर्भाव विग्रह में माना जाता है। इसका लक्षण शरीर की उग्रता है।[1]

वीर रस — इसका स्थायीभाव उत्साह होता है।[2] साहित्यदर्पणकार[3] ने वीर के दानवीर, धर्मवीर, युद्धवीर और दयावीर, चार भेद किए हैं।[4] केशव ने ये चार भेद न दिखाकर केवल उदारता और गंभीरता, दो भावों पर जोर दिया है।

भयानक रस — इसका स्थायीभाव भय है। किसी भयंकर दर्शन या श्रवण से इसकी उत्पत्ति होती है।[5]

वीभत्स रस — इसका स्थायीभाव घृणा है। इसकी उत्पत्ति किसी घृणित वस्तु को देखने या सुनने से होती है। इसमें तन मन उदास हो जाता है।[6]

अद्भुत रस — इसका स्थायीभाव 'विस्मय' है। इसकी उत्पत्ति अद्भुत वस्तु को देखने या सुनने से होती है।[7]

सम रस — केशव ने एक 'सम' रस भी माना है। इसका लक्षण देते हुए वे कहते हैं :—"इसमें मन सबसे उदास होकर एक ही ठौर पर बसने लगता है, इसलिए कवि लोग 'सम' रस कहते हैं"। विश्वनाथ[8] ने इसी को शान्त रस कहा है और 'शम' उसका स्थायीभाव माना है।

रस-वर्ण — विश्वनाथ ने प्रत्येक रस के लक्षण के साथ उसके वर्ण का भी वर्णन किया है। इसी प्रकार केशव ने भी प्रत्येक रस के वर्णन के साथ साथ उसका वर्ण भी बताया है, किन्तु वे 'हास्य' और 'सम[9]' का वर्ण बताने में मौन हैं। उन्होंने शेष रसों के वर्ण इस

१—देखिये, रसिकप्रिया १४·२१ : तु० की० साहित्यदर्पण ३·२२७

२—देखिये, रसिकप्रिया १४·२४ : तु० की० साहित्यदर्पण ३·२३२

३— देखिये, साहित्यदर्पण ३·२३४

४—देखिये, रसिकप्रिया १४·२४ : 'अति उदार गंभीर कहि, केशव पाइ प्रसग

५—देखिये, रसिकप्रिया १४·२७ : तु० की० साहित्यदर्पण ३·२३५, २३६

६—देखिये, रसिकप्रिया, १४·३३ : तु० की० साहित्यदर्पण ३·२४२-२४३

७—देखिये, रसिकप्रिया, १४·३८   ८—देखिये, साहित्यदर्पण, ३·२४५

९—हास्य का शुभ्र और शान्त का कुन्दवर्ण माना जाता है।

प्रकार बतलाये हैं :—शृंगार श्यामवर्ण, करुण कपोतवर्ण, रौद्र रक्तवर्ण, वीर गौरवर्ण (सुवर्ण), भयानक कृष्ण वर्ण, बीभत्स नीलवर्ण और अद्भुत पीतवर्ण।

अलंकार

इस निबन्ध के अन्तर्गत अलंकार क्षेत्र में विवेचना पानेवाले केवल केवशदास हैं। केशव प्रमुखतया अलंकारवादी थे। उन्होंने काव्य के और अंगों की अपेक्षा अलंकारों पर विशेष ध्यान दिया है। हम नायक-नायिका-भेद में देख चुके हैं कि केशव का ध्यान भेद-उपभेद लिखने की ओर अधिक रहता है। अलकार-प्रकरण में भी उनकी वृत्ति वही जमी रही है। अलंकारों के लिखने में उन्होंने प्रधानतया तीन ग्रन्थों—अलंकारशेखर, काव्यकल्पलतावृत्ति और काव्यादर्श—से ही सहायता ली है। उन्होंने अलंकारों को साधारण और विशेष दो[1] प्रकार का माना है। पुनः साधारण या सामान्य अलंकारों को चार भेदों में विभक्त किया है :– १—वर्ण, २—वर्ण्य, ३—भू-श्री और ४—राज्यश्री।

१—वर्णालंकार

इस भेद के अन्तर्गत सात[3] प्रकार के वर्ण (रंग) लिए गये हैं। वर्णालंकारों में कवि ने यह दिखाने की चेष्टा की है कि काव्य में कौन वस्तु किस वर्ण की दिखानी चाहिये :—यथा, जरा को श्वेत, कुवलय को नीला, बालरवि को अरुण, पाप को काला, वीर रस को पीला और कपोत को धूम्रवर्ण का वर्णन करते हैं। वर्णालंकारों के सम्बन्ध में केशव ने काव्यकल्पलतावृत्ति (३ २, ३·३ तथा ४·३) और अलंकार-शेखर, १७ मरीचिः, से सहायता ली है।

२—वर्यालकार

जिनकी आकृति का गुण लेकर कोई उक्ति कही जाती है उन्हें वर्ण्य कहते हैं। वैसे तो वर्ण्य अनेक हैं, परन्तु केशव ने इन अट्ठाईस को प्रमुख माना है :—"१—सम्पूर्ण, २—आवर्त, ३—कुटिल ४—त्रिकोण, ५—सुवृत्त, ६—तीक्ष्ण, ७—गुरु, ८—कोमल ९—कठोर, १०—निश्चल, ११—चंचल, १२—सुखद, १३—दुःखद, १४—मंद-गति, १५—शीतल, १६—तप्त, १७—सुरूप, १८—क्रूरस्वर, १९—सुस्वर, २०—

१—देखिये, कविप्रिया, ५·२

२—देखिये, कविप्रिया ५ ३ : सामान्यालंकार को चारि प्रकार प्रकास।
वर्ण, वर्ण्य, भू-राज-श्री भूषण केशवदास॥

३—देखिये, कविप्रिया ५.४।
सेत पीत कारे अरुण, धूमर नीले वर्ण।
मिश्रित केशवदास कहि, सात भाँति शुभकर्ण।

का हू-बहू अनुकरण करते हुये मान-मोचन के छै उपाय साम, दाम, भेद, प्रणति उपेक्षा और प्रसंग-प्रध्वंस बतलाये हैं।

"जिस तिस प्रकार मन को मोह कर मान छुड़ाना 'साम' उपाय कहलाता है। किसी व्याज से कुछ देकर मान छुड़ाना 'दान' उपाय है। नायिका की सब सखियों को अपनी ओर मिला लेने से उसका मान स्वतः छूट जाता है, इसे 'भेद' उपाय कहते हैं। जब अति प्रेम, अति काम वा अति अपराध से नायक वा नायिका पैरों में पड़ जाते हैं, तो भी मान छूट जाता है, इसे 'प्रणति' उपाय कहते हैं। जहाँ प्रसंग की उपेक्षा कर देने से मान छूट जाता है, वहाँ 'उपेक्षा' उपाय होता है। जहाँ भय या घबराहट के उत्पन्न होने से 'मान' छूट जाता है, उसे 'प्रसंग-विध्वंस' उपाय कहते हैं।[1] साहित्य दर्पणकार ने इसी को 'रसान्तर' कहा है।

प्रवास

किसी भी कारण से प्रिया या प्रिय के परदेश चले जाने की दशा में प्रवास विरह होता है।[2]

करुण विप्रलंभ

"जहाँ संयोग सुख के सब यत्न छूट जाते हैं, वहाँ व्याकुलता के कारण करुण विप्रलंभ की संस्थिति होती है।[3]" इस परिभाषा को केशव ने अधिक स्पष्ट नहीं किया। विश्वनाथ करुण विप्रलंभ की परिभाषा इस प्रकार देते हैं—"नायक और नायिका में से एक के मर जाने पर जब दूसरा दुःखी होता है तब करुण विप्रलंभ की अवस्था होती है।[4]"

परन्तु करुण विप्रलंभ तभी होता है जब परलोकगत व्यक्ति के इसी जन्म में इसी देह से फिर मिलने की आशा हो। जैसे 'कादम्बरी' में पुण्डरीक और महाश्वेता का वृत्तान्त। यदि फिर मिलने की आशा टूट जाय तब तो करुण रस ही होता है।

"जहाँ किसी के नेत्र या वाणी या चेष्टा से दर्शक को मोद होता है वहाँ पंडित लोग हास्य रस की स्थिति बतलाते हैं।[5]" विश्वनाथ[6] ने भी

१—देखिये, रसिकप्रिया १०·३, ६, ११, १४, २०, २३
तु० की० साहित्यदर्पण ३·२०२, २०३

२—देखिये, रसिकप्रिया ११·७ : तु० की० साहित्यदर्पण ३·२०४
"प्रवासो भिन्नदेशित्वं कार्याच्छापाच्च संभ्रमात्।"

३—देखिये, रसिकप्रिया ११·१

४—देखिये, साहित्यदर्पण ३·२०६

५—रसिकप्रिया १४·१

६—देखिये, साहित्यदर्पण ३·२१४

हास्य रस हास्य रस का यही लक्षण दिया है। इसका स्थायी भाव हास है।

दशरूपक[१] और साहित्यदर्पण[२] में 'हास' के ६ भेद किए गये हैं:—स्मित, हसित, विहसित, अवहसित, अपहसित और अतिहसित। अतः इन भेदों से हास्य भी छै भेदों में विभक्त हो जाता है। केशव ने 'हास' के चार भेद माने हैं:—मन्दहास, कलहास, अतिहास और परिहास। सम्भवतः उन्होंने स्मित और हसित को मिलाकर 'मन्दहास', विहसित को कलहास और अवहसित, अपहसित और अतिहसित (तीनों को मिलाकर) को अतिहास का नाम दिया है। उनका 'परिहास' भेद मौलिक प्रतीत होता है।

मन्दहास में नेत्र, कपोल, दाँत और होंठ कुछ कुछ विकसित हो जाते हैं।[४] कलहास में मुस्कराहट के साथ साथ कलध्वनि भी सुनाई पड़ती है।[५] अतिहास में निःशंक होकर हँसा जाता है, मुख-गंध प्रकट हो जाती है और मुख से वर्ण और पद अधूरे निकलते हैं।[६] परिहास में सब परिजन नायक-नायिका की मर्यादा का विचार न करके हँस पड़ते हैं।[७]

"प्रिय के विप्रिय (unpleasant) करने से करुण रस होता है।[८]"

करुण रस केशव द्वारा दिया हुआ करुण रस का लक्षण अधिक स्पष्ट नहीं है। विश्वनाथ ने इसके "आविर्भाव का कारण इष्ट का नाश और अनिष्ट की प्राप्ति माना है।[९]" इसका स्थायी भाव 'शोक' होने से यह रस करुणविप्रलंभ से भिन्न है। उसमें फिर समागम की आशा बनी रहने से स्थायीभाव का आसन रति ग्रहण करती है।[१०]

१—दशरूपक ४.८३ २—साहित्यदर्पण ३.२१८-२१६

३—देखिये, रसिकप्रिया १४.२ :

मन्दहास कलहास पुनि, कहि केशव अतिहास।
कोविद कवि वर्णंत सबै, अरु चौथौ परिहास।

४—देखिये, रसिकप्रिया १४.३ ५—देखिये, रसिकप्रिया १४.८

६—देखिये, रसिकप्रिया १४.१२ ७—देखिये, रसिकप्रिया १४.१५

८—देखिये, रसिकप्रिया १४.१८ :

'प्रिय के विप्रिय करण ते, आन करुण रस होत।'

९—देखिये, साहित्यदर्पण ३.२२२ :

'इष्टनाशादनिष्टाप्तेः करुणाख्यो रसो भवेत्'

१०—साहित्यदर्पण ३ २२६

रौद्र रस

रौद्र रस का स्थायीभाव क्रोध है। इसका आविर्भाव विग्रह में माना जाता है। इसका लक्षण शरीर की उग्रता है।[1]

वीर रस

इसका स्थायीभाव उत्साह होता है।[2] साहित्यदर्पणकार[3] ने वीर के दानवीर, धर्मवीर, युद्धवीर और दयावीर, चार भेद किए हैं।[4] केशव ने ये चार भेद न दिखाकर केवल उदारता और गंभीरता, दो भावों पर जोर दिया है।

भयानक रस

इसका स्थायीभाव भय है। किसी भयंकर दर्शन या श्रवण से इसकी उत्पत्ति होती है।[5]

बीभत्स रस

इसका स्थायीभाव घृणा है। इसकी उत्पत्ति किसी घृणित वस्तु को देखने या सुनने से होती है। इसमें तन मन उदास हो जाता है।[6]

अद्‌भुत रस

इसका स्थायीभाव 'विस्मय' है। इसकी उत्पत्ति अद्‌भुत वस्तु को देखने या सुनने से होती है।[7]

सम रस

केशव ने एक 'सम' रस भी माना है। इसका लक्षण देते हुए वे कहते हैं :—"इसमें मन सबसे उदास होकर एक ही ठौर पर बसने लगता है, इसलिए कवि लोग 'सम' रस कहते हैं"। विश्वनाथ[8] ने इसी को शान्त रस कहा है और 'शम' उसका स्थायीभाव माना है।

रस-वर्ण

विश्वनाथ ने प्रत्येक रस के लक्षण के साथ उसके वर्ण का भी वर्णन किया है। इसी प्रकार केशव ने भी प्रत्येक रस के वर्णन के साथ साथ उसका वर्ण भी बताया है, किन्तु वे 'हास्य' और 'सम[9]' का वर्ण बताने में मौन हैं। उन्होंने शेष रसों के वर्ण इस

१—देखिये, रसिकप्रिया १४·२१ : तु० की० साहित्यदर्पण ३·२२७

२—देखिये, रसिकप्रिया १४ २४ : तु० की० साहित्यदर्पण ३·२३२

३— देखिये, साहित्यदर्पण ३ २३४

४—देखिये, रसिकप्रिया १४·२४ : 'अति उदार गंभीर कहि, केशव पाइ प्रसग

५—देखिये, रसिकप्रिया १४·२७ : तु० की० साहित्यदर्पण २·२३५, २३६

६—देखिये, रसिकप्रिया, १४·३३ : तु० की० साहित्यदर्पण ३ २४२-२४३

७—देखिये, रसिकप्रिया, १४·३८ ८—देखिये, साहित्यदर्पण, ३ २४५

९—हास्य का शुभ्र और शान्त का कुन्दवर्ण माना जाता है।

प्रकार बतलाये हैं :—शृंगार श्यामवर्ण, करुण कपोतवर्ण, रौद्र रक्तवर्ण, वीर गौरवर्ण (सुवर्ण), भयानक कृष्ण वर्ण, बीभत्स नीलवर्ण और अद्भुत पीतवर्ण।

अलंकार

इस निबन्ध के अन्तर्गत अलकार क्षेत्र में विवेचना पानेवाले केवल केवशदास हैं। केशव प्रमुखतया अलंकारवादी थे। उन्होंने काव्य के और अंगों की अपेक्षा अलंकारों पर विशेष ध्यान दिया है। हम नायक-नायिका-भेद में देख चुके हैं कि केशव का ध्यान भेद-उपभेद लिखने की ओर अधिक रहता है। अलकार-प्रकरण में भी उनकी वृत्ति वहीं जमी रही है। अलंकारों के लिखने में उन्होंने प्रधानतया तीन ग्रन्थों—अलकारशेखर, काव्यकल्पलतावृत्ति और काव्यादर्श—से ही सहायता ली है। उन्होंने अलंकारों को साधारण और विशेष दो[1] प्रकार का माना है। पुनः साधारण या सामान्य अलंकारों को चार भेदों में विभक्त किया है :— १—वर्ण, २—वर्ण्य, ३—भू-श्री और ४—राज्यश्री।

१—वर्णालंकार

इस भेद के अन्तर्गत सात[2] प्रकार के वर्ण (रंग) लिए गये हैं। वर्णालंकारों में कवि ने यह दिखाने की चेष्टा की है कि काव्य में कौन वस्तु किस वर्ण की दिखानी चाहिये :—यथा, जरा को श्वेत, कुवलय को नीला, बालरवि को अरुण, पाप को काला, वीर रस को पीला और कपोत को धूम्रवर्ण का वर्णन करते हैं। वर्णालंकारों के सम्बन्ध में केशव ने काव्यकल्पलतावृत्ति (३·२, ३·३ तथा ४·३) और अलंकार-शेखर, १७ मरीचिः, से सहायता ली है।

२—वर्ण्यालकार

जिनकी आकृति का गुण लेकर कोई उक्ति कही जाती है उन्हें वर्ण्य कहते हैं। वैसे तो वर्ण्य अनेक हैं, परन्तु केशव ने इन अट्ठाईस को प्रमुख माना है :—"१—सम्पूर्ण, २—आवर्त, ३—कुटिल ४—त्रिकोण, ५—सुवृत्त, ६—तीक्ष्ण, ७—गुरु, ८—कोमल ६—कठोर, १०—निश्चल, ११—चंचल, १२—सुखद, १३—दुःखद, १४—मंद-गति, १५—शीतल, १६—तप्त, १७—सुरूप, १८—क्रूरस्वर, १६—सुस्वर, २०—

१—देखिये, कविप्रिया, ५·२

२—देखिये, कविप्रिया ५.३ : सामान्यालंकार को चारि प्रकार प्रकास।
वर्ण, वर्ण्य, भू-राज-श्री भूषण केशवदास॥

३—देखिये, कविप्रिया ५.४।
सेत पीत कारे अरुण, धूमर नीले वर्ण।
मिश्रित केशवदास कहि, सात भाँति शुभकर्ण।

मधुर, २१—प्रबल, २२—बलिष्ठ, २३—सत्य, २४—झूठ, २५—मण्डल, २६—अगति, २७—सदागति, और २८—दानी।[१]"

वर्ण्य प्रकरण काव्यकल्पलतावृत्ति के चतुर्थ प्रतान में है। केशव ने यह सामग्री वहीं से ली दीख पड़ती है।

भूतल के प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन ही भूमि-भूषण-वर्णन माना गया है।

भू-श्री या भूमि-भूषण

केशव ने भूमि-भूषण ये माने हैं।

"देश, नगर, बन, बाग, गिरि, आश्रम, सरिता, ताल।
रवि, शशि, सागर, भूमि के, भूषण ऋतु सब काल।"

देशादि में से प्रत्येक को लेकर यह भी बताया गया है कि किस के वर्णन में किस-किस दृश्य और काल का उल्लेख होना चाहिए।

राज्य-श्री भूषण

राज्य-श्री भूषण के अन्तर्गत "राजा, रानी, राजकुमार, पुरोहित, सेनापति, दूत, मन्त्री, मन्त्रणा, प्रयाण, हय, गज और संग्राम का वर्णन होता है।[२]"

भू-श्री और राज्य-श्री के लिखने में केशव को अलंकार शेखर की सोलहवीं मरीचि तथा काव्यकल्पलतावृत्ति के प्रथम प्रतान से प्रेरणा और सामग्री मिली प्रतीत होती है।

इस प्रकरण में केशव ने स्वभावोक्ति आदि अलंकारों की विवेचना की है।

विशेषालंकार

कविप्रिया[३] में इनकी संख्या पैंतीस ही रक्खी गई है, परन्तु अवान्तर भेद से यह संख्या बहुत बढ़ जाती है। उक्त पैंतीस अलंकार ये हैं: स्वभावोक्ति, विभावना, हेतु, विरोध, विशेष, उत्प्रेक्षा, आक्षेप, क्रम, गणना, आशिष, प्रेम, श्लेष, सूक्ष्म, लेश, निदर्शना, ऊर्ज, रसवत, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, अपन्हुति, उक्ति, (वक्रोक्ति, अन्योक्ति, व्यधिकरणोक्ति, विशेषोक्ति और सहोक्ति), व्याजस्तुति, निंदास्तुति, अमित, पर्यायोक्ति, युक्त, समाहित, सुसिद्ध, प्रसिद्ध, विपरीत, रूपक, दीपक, प्रहेलिका, परिवृत्त, उपमा, यमक, और चित्रालंकार।[४]

१—स्वभावोक्ति—केशव ने स्वभावोक्ति का वर्णन दण्डी आदि प्राचीनों के

१—देखिये, कविप्रिया ६-१,२,३

२—देखिये, कविप्रिया ७.१

३—देखिये, कविप्रिया ८.१ : तु० की० काव्यकल्पलतावृत्ति १.५.४६

४—देखिये, कविप्रिया ६.१-७

अनुरूप ही लिखा है। "जहाँ वर्ण्य वस्तु वा व्यक्ति का सहज रूप (वर्णाकृति) वा गुण-वर्णन किया जाता है वहाँ स्वभावोक्ति अलंकार होता है।"[१]

२—विभावना-जहाँ कारण के बिना ही कार्य की उत्पत्ति कही जाती है वहाँ विभावना अलंकार होता है।[२]

केशव ने काव्यादर्श के अनुरूप विभावना के दो ही भेद किये दीख पड़ते हैं : स्वाभाविकत्व-विभावना और कारणान्तर-विभावना।

३—हेतु—केशव ने हेतु अलंकार के दो भेद[३] माने हैं: सभावहेतु, अभाव-हेतु। सभावहेतु अन्य हेतुओं के बल से सबल होता है। अभावहेतु वह है जो स्वयं निर्बल होता हुआ भी कार्य करता है। दोनों की आंशिक स्थिति का मिलन होने की दशा में तीसरा भेद सभाव-अभावहेतु बन जाता है। केशव ने इन भेदों का आधार काव्यादर्श को ही बनाया है, परन्तु अपने ढंग से। दण्डी[४] ने हेतु के कारण और ज्ञापक दो भेद माने हैं। कारकहेतु के पुनः दो[५] उपभेद किये हैं : भाव-साधन में कारकहेतु तथा अभाव-साधन में कारकहेतु। इन्हीं भेदों को कुछ अन्तर से केशव ने स्वीकार कर लिया है, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि केशव दण्डी के किये हुए भेदों का अभिप्राय न समझ कर गड़बड़ कर गये हैं; अतएव अभाव के उदाहरण में विभावना अलंकार हो गया है।

४—विरोध—विचारपूर्वक की हुई विरोधमय वचन-रचना में विरोधालंकार होता है।[६]

केशव ने काव्यादर्श[७] और अलकारशेखर[८] के अनुकरण में विरोधाभास को विरोध ही के अन्तर्गत माना है।

विरोध और विरोधाभास का अन्तर स्पष्ट है। विरोधालंकार में विरोधी गुण सहस्थ होते हैं और उन्हें विरोधी शब्दों से ही प्रकट किया जाता है, परन्तु विरोधा-भास में विरोध का केवल आभास होता है, वास्तविक विरोध नहीं होता।

१—देखिये. कविप्रिया ६.८ : तु० की० काव्यादर्श २.८
तथा काव्यप्रकाश १०.२५

२—देखिये, कविप्रिया ६.११ : तु० की० काव्यादर्श २.१९९

३—देखिये, कविप्रिया ६.१५ ४—देखिये, काव्यादर्श २.२३५

५—देखिये, काव्यादर्श २.२४०-२४१ ६—देखिये, कविप्रिया ६.१९

७—देखिये, काव्यादर्श २.३३३ 'विरोधदर्शनायैव।'

८—देखिये, अलंकार शेखर, मरीचिः १३, पृ० ३५

उदाहरणों में केशव ने विरोध को कहीं विरोधाभास,[1] कहीं विषम[2] और कहीं विभावना[3] बना दिया है।

५—विशेष—जहाँ कार्य का साधक कारण अपूर्ण होने पर भी कार्य की पूर्ण सिद्धि हो वहाँ विशेषालंकार होता है।[4] विशेषालंकार का यह लक्षण कुछ विलक्षण है।[5]

६—उत्प्रेक्षा—किसी वस्तु में अन्य वस्तु की कल्पना करने को 'उत्प्रेक्षा अलंकार कहते हैं।[6]

७—आक्षेप—"जहाँ पहले उपमान का प्रयोग किया जाय, फिर किसी विचार से उसका निषेध कर दिया जाय वहाँ आक्षेप अलंकार होता है।[7]

केशव ने आक्षेप की परिभाषा कुछ ढीली कर दी है। उदाहरणों में तो उसे और भी शिथिल कर दिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि केशव ने केवल आक्षेप में रहनेवाले प्रतिषेध को पकड़ लिया है। वे दण्डी द्वारा दिये हुए आक्षेप के लक्षण को भली भाँति समझ नहीं सके हैं।

दण्डी ने आक्षेप का लक्षण "प्रतिषेधोक्तिराक्षेपः"[8] लिखा है। इसकी व्याख्या में श्री जीवानन्द विद्यासागर ने यह लिखा है: "वक्तुं प्रारब्धास्यापि विशेषद्योतनार्थं निषेधभाषणं, न तु तत्वतः प्रतिषेधः तात्विकत्वे वैचित्र्याभावात्।" इससे स्पष्ट है कि वास्तविक निषेध में अलंकार की विचित्रता नहीं रहती।

केशव ने इस अलंकार को काव्यादर्श के आधार पर लिखा है, तथापि अन्तर स्पष्ट है। उन्होंने आक्षेप के जो नौ भेद किये हैं उनमें से चार (संशयाक्षेप,

---

१—"एरी मेरी सखी तेरी कैसे कै प्रतीत कीजै,
कृशनानुसारी दृग करनानुसारी है।"

कविप्रिया ९.२०

२—"आपुसितासितरूप, चितै चित श्यामशरीर रँगै रँग राते।"

कविप्रिया ९.२१

३—"केशव काननहीन सुनै, सु कहै रस की रसना बिन बातैं।"

कविप्रिया ९.२१

४—कविप्रिया ९.२४

५—अन्तर देखिये, काव्यप्रकाश १०.४९, ५० तथा साहित्यदर्पण ३.७३

६—कविप्रिया ९.३० : केशव औरै वस्तु में और कीजिये तर्क।
उत्प्रेक्षा तासों कहैं जिनको बुद्धि संपर्क।
तु० की० काव्यप्रकाश १०.६, प्रथम चरण

७—कविप्रिया १०.१

८—काव्यादर्श २.१२०

धर्माक्षेप और उपायाक्षेप) के नाम तो काव्यादर्श में वर्णित नामों से साम्य रखते हैं तथा दण्डी का 'मूर्च्छाक्षेप' केशव के हाथों में 'मरणाक्षेप' हो गया है। दण्डी[1] की भाँति केशव[2] ने भी प्रतिषेधोक्ति को तीन कालों से सम्बद्ध किया है।

८—क्रमालंकार—यह नाम केशव ने दण्डी से लिया, है किन्तु दण्डी[3] द्वारा दिये हुए लक्षण और उदाहरण से केशव का लक्षण और उदाहरण भिन्न है। केशव ने क्रम की परिभाषा इस प्रकार दी है: "आदि अन्त भर बरणिये, सो क्रम केशवदास।[4]" यह परिभाषा कुछ अस्पष्ट है, परन्तु उदाहरणों[5] से ज्ञात होता है कि जिसे केशव ने क्रम अलंकार कहा है उसे मम्मट और विश्वनाथ ने एकावली नाम दिया है।

९—गणना अलंकार—इसका लक्षण केशव ने इस प्रकार लिखा है :

"गणना गणना सों कहत, जिनके बुद्धि प्रकास।[6]"

वास्तव में यह कोई अलंकार नहीं है। इसमें केशव ने पहले एक से दश तक की सख्या के सूचक शब्दों के नाम लिख कर दो छन्दों में उदाहरण दिये हैं। इसकी प्रेरणा केशव को काव्यकल्पलतावृत्ति के चौथे प्रतान के छठे स्तबक और अलंकार शेखर की अठारहवीं मरीचि से मिली है। उसमें पहले से बीस तक की सख्या के सूचक शब्दों के नाम क्रमपूर्वक देकर फिर 'शत' और सहस्र' के सूचक शब्दों के नाम दिये गये हैं। उनके साथ ही उदाहरण भी हैं।

१०—आशिषालंकार—"माता, पिता, गुरु, देव वा मुनि प्रसन्न होकर जो कुछ कहते हैं उसी को सब कवि आशिष अलंकार कहते हैं।[7]"

१—देखिये काव्यादर्श: २.१२० : "त्रैकाल्यापेक्षया त्रिधा।"

२—देखिये कविप्रिया १०.२ : "तीनों काल बखानिये, भावी भयो जु होइ।"

३—लक्षण : उद्दिष्टाना पदार्थानामनुदेशो यथाक्रमम्।
यथासख्यमिति प्रोक्तं सह संख्यानां क्रम इत्यपि।
काव्यादर्श २ २७३

उदाहरण :
ध्रुवं ते चोरिता तन्वि स्मितेक्षणनखद्युतिः
स्नातुमम्भः प्रविष्टायाः कुमुदोत्पल पंकजैः

४—कविप्रिया : ११.१

५—देखिये, कविप्रिया ११ २ :
तु० की० काव्यप्रकाश, पृ० ४३४ तथा साहित्यदर्पण, पृ० २१२ :
"न तज्जलं..........नजहार यन्मनः

६—देखिये, कविप्रिया ११.१ ७—देखिये, कविप्रिया ११.२४

नाम से तो दण्डी का आशीः अलंकार और केशव का आशिषालंकार एक हैं, परन्तु केशव ने उसकी परिधि बहुत बढ़ा दी है। दण्डी[1] के अनुसार "आशीः अलंकार वहाँ होता है जहाँ कोई व्यक्ति इष्ट प्राप्ति के प्रति अभिलाषा या प्रार्थना प्रकाशित करता है," किन्तु केशव ने सब प्रकार के आशीर्वादों को अलंकार मान लिया है।

११—प्रेमालंकार—यह दण्डी के 'प्रेयस' का ही नामान्तर है। केशव इसका लक्षण इस प्रकार देते हैं :

"कपट निपट मिटि जाय जहँ, उपजै पूरण क्षेम।
ताही सों सब कहत हैं, केशव उत्तम प्रेम।[2]"

दण्डी ने 'प्रेयस' का लक्षण इस प्रकार लिखा है :

"प्रेयः प्रियतराख्यानं।[3]" दण्डी के उदाहरणों से प्रकट हो जाता है कि 'देवगुरुपित्रादिविषयक प्रीतिप्रकर्ष' को ही प्रेय कहना चाहिए। विश्वनाथ ने प्रेयस् का कुछ भिन्न लक्षण दिया है। वे कहते हैं: "जहाँ भाव किसी दूसरे का अंगत्व प्राप्त कर लेता है वहाँ प्रेयस् अलंकार होता है।[4]"

प्रेमालंकार के सम्बन्ध में केशव का मूल मत काव्यादर्श पर आधारित है।

१२—श्लेषालंकार—"जहाँ एक ही शब्द से दो, तीन वा अधिक अर्थ निकलते हैं वहाँ श्लेषालंकार होता है।[5]" संस्कृत की भाँति हिन्दी में भी इस अलंकार का बड़ा मान रहा है। हिन्दी में केशव ही पहले आचार्य हैं जिनके हाथों में श्लेष को इतनी प्रतिष्ठा उपलब्ध हुई है। कविप्रिया में पाँच अर्थ तक का श्लेष मिलता है। केशव ने श्लेष को दो[6] प्रकार का माना है: अभिन्नपद और भिन्नपद। साहित्यदर्पण में तीन[7] भेद किये गए हैं: सभंग, अभंग तथा उभयात्मक। उक्त दो भेदों के अतिरिक्त केशव ने श्लेष के पाँच[8] भेद और भी किए हैं : १. अभिन्नक्रिया श्लेष, २. भिन्न क्रिया श्लेष, ३ विरुद्धकर्मा श्लेष ४. नियम श्लेष और ५. विरोधी श्लेष। ये भेद मौलिक प्रतीत होते हैं।

१—देखिये, काव्यादर्श २.३५७
२—देखिये, कविप्रिया ११.२७
३—देखिये, काव्यादर्श २.२७५
४—देखिये, साहित्यदर्पण १०.६५-६६
५—देखिये, कविप्रिया ११.२६
६—देखिये, कविप्रिया ११.३४
७—देखिये, साहित्यदर्पण १०.१२
८—देखिये, कविप्रिया ११.३६

१३—सूक्ष्मालंकार—जहाँ किसी भाव, चेष्टा वा आकार से दूसरे के मन की बात समझ ली जाती है वहाँ सूक्ष्मालकार होता है।[१] दंडी[२] ने भी सूक्ष्म का यही लक्षण दिया है।

१४—लेशालंकार—"जहाँ कोई बात चतुरता द्वारा किसी ब्याज से छिपा ली जाती है और उसे चतुर लोग समझ नही पाते, वहाँ 'लेशालकार' होता है।[३]" दंडी[४] ने भी 'लेश' का यही लक्षण दिया है।

१५—निदर्शना—"जहाँ किसी एक ढंग से सत् और असत् (उपमेयोपमान) को एक सा प्रकट किया जाता है वहाँ निदर्शना अलंकार होता है।[५]" केशव की 'निदर्शना' का यह लक्षण दंडी के 'निदर्शन' के लक्षण से बहुत कुछ मिलता है।

१६—ऊर्जालंकार—जहाँ सहायता घटने पर भी अहंकार का परित्याग नही मिलता वहाँ ऊर्जालंकार होता है।[७] दंडी ने इसे 'ऊर्जस्वि' कहा है। केशव ने दंडी द्वारा दी हुई ऊर्जस्वि की परिभाषा[८] को कुछ बढ़ा कर लिख दिया है।

१७—रसवत्—जिस अलंकार से रस का पोषण होता है उसे केशव 'रसवत' कहते हैं। इसका पोषकत्व किसी भी रस के प्रति हो सकता है।[९]" 'रसवद्रसपेशलम्[१०]' से केशव के 'रसवत्' का उक्त लक्षण बहुत कुछ पुष्ट हो जाता है।

१—कविप्रिया : ११. ४५

२—देखिये, काव्यादर्श २. २६० :

"इंगिताकारलक्ष्योऽर्थः सौक्ष्म्यात् सूक्ष्म इति स्मृतः"

३—देखिये, कविप्रिया : ११. ४७ ४—देखिये, काव्यादर्श : २.२६५

५—देखिये, कविप्रिया : ११. ४९

६—देखिये, काव्यादर्श २. ३४८ :

अर्थान्तरप्रवृत्तेन किंचित्तत्सदृशं फलम्।
सदसद्वा निदर्श्येत यदि स्यात्तन्निदर्शनम्।

७—कविप्रिया ११.५१:

तजे न निज हंकार को, यद्यपि घटै सहाय।
ऊर्ज नाम तासों कहैं, केशव सब कविराय।

८—देखिये, काव्यादर्श : २. २७५ :

"ऊर्जस्वि रूढाहंकारम्"

९—देखिये, कविप्रिया ११. ५३ :

रसमय होय सु जानिये, रसवत केशवदास।
नवरस को संक्षेप ही, समुझौ करत प्रकाश।

१०—देखिये, काव्यादर्श २.२७५:

१८—अर्थान्तरन्यास—"जहाँ मुख्यार्थ के समर्थन के लिए दूसरे वाक्यार्थ की सत्ता हो, वहाँ 'अर्थान्तरन्यास' अलंकार होता है। इसके चार भेद होते हैं: युक्त, अयुक्त, युक्तायुक्त और अयुक्तयुक्त।[1]"

यद्यपि एक वाक्य का दूसरे द्वारा समर्थन 'काव्यालिंग' में भी होता है, किन्तु वहाँ इसकी तरह 'सामान्य-विशेष' संबंध नहीं रहता। इसके अतिरिक्त समर्थन के योग्य पदार्थ का ही समर्थन होने पर यह अलंकार होता है, अन्यथा 'काव्यलिंग' होता है।

केशव ने अर्थान्तरन्यास की जो परिभाषा दी है वह दंडी[1] के अर्थान्तरन्यास की परिभाषा से बहुत कुछ मिलती है। भेद[2] तो काव्यादर्श के अनुकरण में ही किए गये हैं, परन्तु उदाहरण कुछ भिन्नार्थ के द्योतक हैं।

१९—व्यतिरेक—"दो पदार्थों में साम्य के परिज्ञात होने पर भी उनमें भेद वर्णन करने को 'व्यक्तिरेक' अलंकार कहते हैं। इसके दो भेद हैं: युक्तिव्यतिरेक तथा सहजव्यतिरेक।[4]"

कविप्रिया का व्यतिरेक काव्यादर्श[5] के व्यतिरेक से मिलता है।

२०—अपह्नुति—"जहाँ किसी सत्य बात को छिपाकर असत्य का आरोप कर दिया जाता है, वहाँ अपह्नुति अलंकार होता है।"[6] यह लक्षण तो दंडी[7] के अनुसार है, परन्तु उदाहरण भिन्न हो गया है। केशवकृत उदाहरण अपह्नुति का न रहकर 'मुकरी' का बन गया है।

२१—उक्ति अलंकार—'बुद्धि और विवेक से सुसिद्ध तर्क को केशव उक्ति अलंकार कहते हैं"। इसके अन्तर्गत उन्होंने वक्रोक्ति, अन्योक्ति, व्यधिकरणोक्ति विशेषोक्ति और सहोक्ति, ये पाँच अलंकार माने हैं।

१—देखिये, कविप्रिया ११. ६५

२—देखिये, काव्यादर्श २. १६९:

ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासो वस्तु प्रस्तुत्य किंचन।
तत्साधनसमर्थस्य न्यासो यो न्यस्य वस्तुनः॥

३—देखिये, कविप्रिया ११. ६७: तु० की० काव्यादर्श २.१७०.

४—देखिये, कविप्रिया: ११ ७८

५—देखिये, काव्यादर्श २ १८०, १८१—१८४

६—कविप्रिया ११.८१ ७—देखिये, काव्यादर्श, २ ३०४

८—कविप्रिया १२.१

(क) वक्रोक्ति—"जहाँ सीधी बात में टेढ़ा भाव दिखलाया जाता है वहाँ वक्रोक्ति अलंकार होता है।"[१]

(ख) अन्योक्ति—"जहाँ और की बात और से कही जाती है वहाँ अन्योक्ति अलंकार होता है।"[२]

(ग) व्यधिकरणोक्ति—"जहाँ और के गुण वा दोष को और में प्रकट किया जाता है वहाँ व्यधिकरणोक्ति अलंकार होता है।"[३]

(घ) विशेषोक्ति—"कारण के रहते हुए भी जहाँ कार्य सिद्ध न हो, वहाँ विशेषोक्ति अलंकार होता है।"[४]

(ङ) सहोक्ति—"हानि-वृद्धि, शुभ-अशुभ, गूढ़-प्रकाश, इनमें से किसी एक के वर्णन के साथ दूसरे का भी वर्णन करने पर सहोक्ति अलंकार होता है।"[५]

उक्त अलंकारों में से तीन वक्रोक्ति,[६] विशेषोक्ति[७] और सहोक्ति[८] तो साहित्यदर्पण आदि में प्रसिद्ध हो चुके हैं। अन्योक्ति के संबंध में यह कहना है कि उसे केशव ने अलंकारों में स्थान दे दिया है। हाँ, व्यधिकरणोक्ति नाम नया है, किन्तु लक्षण और उदाहरण से प्रतीत होता है कि जिसे मम्मट[९] और विश्वनाथ[१०] 'असंगति' कहते हैं उसी को केशव ने 'व्यधिकरणोक्ति' नाम दिया है।

२२, २३—व्याजस्तुतिनिंदा "वाच्य निन्दा से स्तुति के व्यंग्य होने पर और वाच्य स्तुति से निंदा के व्यंग्य होने पर यह अलकार होता है।" यह साहित्यदर्पण[११] के आधार पर लिखा गया है। अन्तर इतना सा है कि साहित्य-दर्पण में इसका नाम व्याजस्तुति है और केशव उसे 'व्याजस्तुतिनिन्दा' कहते हैं।

२४. अमितालंकार—"जहाँ साधक-प्राप्य सिद्धि को साधन ही पा लेता है वहाँ अमितालंकार होता है।"[१२] यह अलंकार केशव की सृष्टि का नमूना प्रतीत होता है।

१—कविप्रिया १२ ३
२—कविप्रिया १२.६
३—कविप्रिया १२.८
४—कविप्रिया १२.१४
५—कविप्रिया १२.२०
६—देखिये, साहित्यदर्पण १०.६
७—देखिये, साहित्यदर्पण १० ६७
८—देखिये, साहित्यदर्पण १०.५५
९—देखिये, काव्यप्रकाश १० ३८
१०—देखिये, साहित्यदर्पण १०.६९
११—देखिये, कविप्रिया १२.२२
१२—देखिये, साहित्यदर्पण १०.६०

२५—पर्यायोक्ति—"जहाँ इष्ट की सिद्धि बिना कुछ किए हुए भाग्य से ही हो जाती है वहाँ पर्यायोक्ति अलंकार होता है।"[1] केशव ने इस लक्षण को काव्यादर्श[2] से लेने की चेष्टा की है, किन्तु वे पूरी तरह से ले नहीं सके हैं। अतः यह लक्षण 'प्रहर्षण'[3] का हो गया है।

२६—युक्तालंकार—"जहाँ किसी के रूप और बल का ज्यों का त्यों वर्णन किया जाता है वहाँ युक्त अलंकार होता है।"[4] परन्तु यह लक्षण 'स्वभावोक्ति'[5] के लक्षण से बिल्कुल मिलता है। कोई विशेषता नही है, केवल नाममात्र का अन्तर है।

२७—समाहित अलंकार—"जो काम अनेक उपायों से भी न होता हो, पर दैवयोग से साधनों के प्राप्त हो जाने पर वह पूरा हो जाय, ऐसे वर्णन में समाहित अलंकार होता है।"[6]

केशव ने इस लक्षण के लिखने में दंडी[7] का अनुकरण किया है, किन्तु उन्होने 'किंचिदारभमाणस्य' के स्थान पर 'होत न क्यों हूँ' करके कुछ परिवर्तन को स्थान दे दिया है। इसी को साहित्यदर्पण में 'समाधि'[8] कहा गया है।

२८—सुसिद्ध अलंकार—"जहाँ साधन और कोई करता है और सिद्धि का फल और कोई भोगता है, वहाँ सुसिद्ध अलंकार होता है।[9]"

इस अलंकार में कारण कहीं होने से और कार्य (फल) का उदय अन्यत्र होने से असंगति[10] का सा रूप दीख रहा है। इसके नाम में केशवत्व की झलक अवश्य है।

१—देखिये, कविप्रिया १२ २६   २—देखिये, कविप्रिया १२ २६

३—देखिये, काव्यादर्श २.२९५ :

अर्थमिष्टमनाख्याय साक्षात्तस्यैव सिद्धये।
यत्प्रकारान्तराख्यानं पर्यायोक्तं तदिष्यते।

४—देखिये, चन्द्रालोक ५.७६   ५—कविप्रिया १२.२६

६—देखिये, कविप्रिया ९ ८   ७—कविप्रिया १३-१

८—देखिये, काव्यादर्श, २ २९८ :

किंचिदारभमाणस्य कार्यं दैववशात् पुनः
तत्साधन समापत्तिर्या तदाहुः समाहितम्।

९—देखिये, साहित्यदर्पण १०.८६ :

'समाधिः सुकरे कार्ये दैवाद्वस्त्वन्तरागमात्।'

१०—कविप्रिया १३ ४

२६—प्रसिद्धालंकार—"जहाँ एक के साधन का फल अनेकों को मिले, वहाँ प्रसिद्ध अलंकार होता है।"[1] इसमें केशव की मौलिकता है।

३०—विपरीतालंकार "जहाँ कार्यसाधक के लिये साधन ही बाधक बन जाता है वहाँ विपरीतालंकार होता है।" केशव के इस अलंकार में मम्मटादि[3] के 'व्याघात' की 'छाया' प्रतीत होती है। फिर भी व्याघात से विपरीत का अन्तर स्पष्ट है। विपरीत में तो साधन स्वतः विरुद्ध बन जाता है, किन्तु 'व्याघात' में दूसरे के हाथ में जाकर विरोधी बनता है।

३१—रूपक—"जहाँ उपमान और उपमेय में एकता का आरोप किया जाता है वहाँ रूपक अलंकार होता है।"[4] इसके लिखने में केशव को काव्यादर्श से प्रेरणा मिली दीख पड़ती है। भेद लिखने में उन्होंने स्वतंत्रता से भी काम लिया है। दंडी[5] ने रूपक के अनेक भेद माने हैं, किन्तु केशव ने 'अद्भुत रूपक,' 'विरुद्धरूपक' और रूपक-रूपक, ये तीन ही भेद किए हैं। उदाहरण में केशव का 'अद्भुत रूपक' अधिकाद्रूप्य रूपक तथा 'विरुद्ध रूपक' 'रूपकातिशयोक्ति' बन गया है। दंडी और केशव के रूपक-रूपक में केवल नामसाम्य है। सभवतः केशव दंडी के भाव को न समझकर कुछ का कुछ कर गये हैं।

३२—दीपक—जहाँ क्रियावाची, गुणवाची अथवा द्रव्यवाची पद एक ही स्थान से प्रकाश करता है (सर्ववाक्योपकारक होता है) वहाँ केशव दीपक अलंकार का होना मानते हैं।[7] दीपक का यह लक्षण काव्यादर्श[8] के आधार पर लिखा गया है। केशव, दंडी की भाँति दीपक के बहुत से भेद न मानकर, केवल दो भेद करते हैं: मणिदीपक तथा मालादीपक। केशव के 'मणि' और 'माला' भेद क्रमशः दंडी के 'जाति' और 'माला' से मिलते हैं।

३३—प्रहेलिका—'किसी वस्तु को किसी प्रकार छिपाकर वर्णन करना'

१—कविप्रिया १३ ७ 　 २—कविप्रिया १३ ६

३—देखिये, काव्यप्रकाशः १० ५२ तथा साहित्यदर्पण, १० ७५

४—कविप्रिया १३ ’२ 　 ५—देखिये, काव्यादर्श २ ६७-६३

६—कविप्रिया १३ १४ 　 ७—कविप्रिया १३. २१

८—देखिये, काव्यादर्श २ ६७ :

जातिक्रियागुणद्रव्यवाचिनैकवर्तिना।
सर्ववाक्योपकारश्चेत् तदाहुर्दीपकं यथा।

प्रहेलिका कहलाता है।[१] 'प्रहेलिका को दंडी[२] ने क्रीड़ागोष्टी आदि के लिए उपयोगी माना है, परन्तु विश्वनाथ[३] इसे अलंकार नहीं मानते।

३४—परिवृत्तालंकार—"जहाँ कुछ और करते हुए कुछ और ही हो जाता है वहाँ परिवृत्तालंकार होता है।[४]" यह लक्षण चन्द्रालोक[५] के 'विषादन' के लक्षण से मिलता है। साहित्यदर्पण[६] के 'परिवृत्ति' से यह भिन्न है।

३५—उपमालंकार—"जहाँ किसी वस्तु के रूप, शील और गुण की समता किसी अन्य वस्तु के रूप, शील और गुण से की जाती है वहाँ उपमा अलंकार होता है।[७]"

३६—उपमालंकार—उपमालंकार के कविप्रिया में बाईस[८] भेद किए गए हैं। उनमें से पन्द्रह (संशयोपमा, हेतूपमा, अभूतोपमा, अद्भुतोपमा, विक्रियोपमा, मोहोपमा, नियमोपमा, अतिशयोपमा, उत्प्रेक्षितोपमा, श्लेषोपमा, धर्मोपमा, निर्णयोपमा, असंभावितोपमा, विरोधोपमा और मालोपमा) तो काव्यादर्श[९] के आधार पर ही लिखे गये हैं। पाँच के केवल नाम बदले हुए मिलते हैं : केशव का दूषणोपमा[१०] दंडी के निन्दोपमा[११] से, भूषणोपमा[१२] प्रशंसोपमा[१३] से, गुणाधिकोपमा[१४] प्रतिषेधोपमा[१५] से, लाक्षणिकोपमा[१६] चटूपमा[१७] से और परस्परोपमा[१८] अन्योन्योपमा[१९] से मिलता है। केशव के विपरीतोपमा और संकीर्णोपमा दंडी के किसी भेद से नहीं मिलते।

१—कविप्रिया १३. ३०　　　२—देखिए, काव्यादर्श ३ ९७

३—देखिये, साहित्यदर्पण १० १३ :

"रसस्यपरिपन्थित्वान्नालङ्कारः प्रहेलिका।"

४—कविप्रिया १३. ३६　　　५—देखिये, चन्द्रालोक ५. ५०

६—देखिये, साहित्यदर्पण १०. ८१ :

'परिवृत्तिर्विनियमः समन्यूनाधिकैर्भवेत्।'

७—कविप्रिया १४. १　　　८—कविप्रिया १४. २, ३, ४, ४७.

९—देखिये, काव्यादर्श २. २६, ५०, ३८, २४, ४१, २५, १९, २२, २३, २८, १५, २७, ३९, ३३, ४२

१०—कविप्रिया १४. १५　　　११—काव्यादर्श २. ३०

१२—कविप्रिया १४. १७　　　१३—काव्यादर्श २. ३१

१४—कविप्रिया १४. २३　　　१५—काव्यादर्श २. ३४

१६—कविप्रिया १४. ३७　　　१७—काव्यादर्श २. ३५

१८—कविप्रिया १४. ४५　　　१९—काव्यादर्श २. १८

दंडी की तरह केशव ने भी कई अलंकारों को उपमा के भेदों में सम्मिलित कर लिया है। केशव के 'मोहोपमा' में भ्रान्तिमान, अद्भुतोपमा में अतिशयोक्ति, 'संशयोपमा में सन्देह, प्रतिषेधोपमा में व्यतिरेक, निश्चयोपमा में निश्चय और लाक्षणिकोपमा में विशेषोक्ति का रूप दीख पड़ता है।

३७—यमक—केशव के मत से यमकालंकार वहाँ होता है "जहाँ एक से पदों के अनेक अर्थ निकलते हैं।[१]

यमक के अनेक भेद करने में केशव ने दंडी का अनुकरण किया है। उन्होंने पहले यमक के आदिपद, द्वितीयपद आदि चार[२] भेद किए हैं। फिर पदों के अन्तर को ध्यान में रखकर उन्होंने दंडी की तरह यमक के दो भेद[३]—अव्यपेत और सव्यपेत—किए हैं।

"जहाँ पदों में अन्तर न हो (सटे हुए आवें) वहाँ अव्यपेत यमक और जहाँ पदों में अन्तर हो (बीच में अन्यपद आ जावें) वहाँ सव्यपेत यमक होता है।[४]"

उक्त भेदों के अतिरिक्त सरलता और कठिनता के विचार से केशव ने दंडी की तरह यमक के दो भेद[५]—सुखकर और दुःखकर—और किए हैं।

३८—चित्रालंकार[६]—इसका वर्णन अलंकार संबंधी अनेक संस्कृत ग्रंथों में मिलता है। केशव ने इसके लिखने में काव्यकल्पलतावृत्ति[७] से सहायता लेकर बहुत कुछ मौलिकता का परिचय ही दिया है। इसके संबंध में पहले केशव ने नियमों का निरूपण किया है और बतलाया है कि चित्रालंकार में कुछ दोष दोष नहीं माने जाते। चित्रनिर्वाह के लिए यदि किसी विसर्ग वा अनुस्वार रहित

१—कविप्रिया १५. १ :

पद एकै नाना अरथ, जिनमें जेतो वित्त।
तामें ताको काढ़िये, यमक माहिं दै चित्त।

२—देखिये, कविप्रिया १५. ३ : तु० की० काव्यादर्श ३. २

३—देखिये, कविप्रिया १५. ४ :

अव्यपेत सव्यपेत पुनि, यमक बरन दुइ देत।

४—देखिये, कविप्रिया १५. ४ : अव्यपेत बिनु अंतरहि, अंतर सो सव्यपेत।

५—देखिये, कविप्रिया १५. २६ : "सुखकर दुखकर भेद द्वै।"

तु० की० काव्यादर्श ३. ३ : "सुकरादुष्कराश्चैव"

६—देखिये, कविप्रिया, प्रभाव १६

७—देखिये, काव्यकल्पलतावृत्ति ३.५

अक्षर को विसर्ग वा अनुस्वार युक्त करना पड़े अथवा यतिभंग, रसहीन, वधिर, अन्ध, अगण आदि दोष आजावें तो उन्हे नगण्य ही समझना चाहिये। इनके अतिरिक्त लघु-गुरु, व-व, ज-य का दोषात्मक भेद भी मिट जाता है।

चित्रालंकारों के अन्तर्गत केशव ने निरोष्ठ रचना, अमात्रिक रचना, नियमाक्षर-शब्द-रचना, बहिर्लापिका, अन्तर्लापिका, गूढोत्तर, एकानेकोत्तर, व्यस्तसमस्तोत्तर व्यस्तगतागतोत्तर, विपरीत व्यस्तसमस्त प्रश्नोत्तर, शासनोत्तर, प्रश्नोत्तर और व्यस्त-गतागत को लिया है। इनसे अनेक प्रकार के चित्र बनते हैं। उनमें केशव ने गोमूत्रिकाचक्र, कपाटबद्ध, अश्वगतिचक्र, चरणगुप्तचक्र, गतागत चतुष्पदी और चरणगुप्त का उल्लेख किया है।

दोषों का वर्णन दो ग्रंथों में मिलता है : कविप्रिया में और रसिकप्रिया में।

दोष — कविप्रिया में वह 'काव्य-दूषण' के प्रकरण में और रसिकप्रिया मे अनरस के प्रकरण में।

कविप्रिया में केशव ने कुल अठारह दोषों का उल्लेख किया है। उनमें से पाँच अंध, वधिर, पगु, नग्न और मृतक हैं।

कवियों की बँधी हुई रीति के विरुद्ध उक्ति को 'अंध' दोष कहते हैं, दो या अधिक परस्पर-विरुद्ध शब्दों के प्रयोग से 'वधिर' दोष होता है, छंदःशास्त्र के विरुद्ध रचना करना पगु दोष है, अलकारहीन रचना में 'नग्न' दोष होता है, और कविता में निरर्थक शब्दों के प्रयोग से 'मृतक' दोष आजाता है।

उक्त पाँच दोषों का नामकरण केशव ने स्वमति से ही किया है, किन्तु इनमें केवल नाम की मौलिकता है, वस्तुतः इन्हें संस्कृत आचार्य भी मान चुके हैं।

केशव का 'अध' दोष[1] विश्वनाथ के 'प्रसिद्धि[2]-विरुद्धता' दोष से मिलता है। वधिर[3] दोष केशव मिश्र के 'व्याहत[4]' दोष से साम्य रखता है। केशव का 'पंगु[5]' दोष और केशवमिश्र का भग्नछन्द[6]' दोष एक ही हैं। कविप्रिया का 'मृतक[7]' दोष अलंकार शेखर के 'अवाचक[8]' दोष से मिलता है। 'नग्न' दोष में केशव की मौलिकता दीख पड़ती है।

उक्त पाँच दोषों के अतिरिक्त शेष तेरह[9] दोष ये हैं: अगण, हीनरस, यतिभंग,

---

१—देखिये, कविप्रिया ३. ६ २—देखिये, साहित्यदर्पण ७. ११
३—देखिये, कविप्रिया ३ १० ४—देखिये, अलंकार शेखर, मरीचि ६
५—देखिये, कविप्रिया ३. १२ ६—देखिये, अलकार शेखर, मरीचि ५
७—देखिये, कविप्रिया ३. १४ ८—देखिये, अलंकार शेखर, मरीचि ४
९—देखिये, कविप्रिया ३ १५, १६, १७

व्यर्थ, अपार्थ, हीनक्रम, कर्णकटु, पुनरुक्ति, देशविरोध, कालविरोध, नीति-विरोध और आगमविरोध।

इनमें से व्यर्थ, अपार्थ, कालविरोध और आगमविरोध दोष तो काव्यादर्श[1] के अनुरूप हैं तथा हीनरस[2], यतिभंग,[3], हीनक्रम[4], और कर्णकटु[5] दोष अलंकारशेखर के क्रमशः विरस, भग्नयति, भग्नक्रम और कष्ट से मिलते हैं। केशव का नीति-विरोध[6] दोष अलंकारशेखर के 'देशादिविरोध' दोष के अन्तर्गत तथा 'अगण[7]' दोष 'भग्नछंद' दोष के अन्तर्गत आ सकता है।

'अनरस' के (रसिकप्रिया में) पाँच भेद किए गये हैं: १. प्रत्यनीक, २. नीरस, ३. विरस, ४. दुःसंधान, और ५. पात्रदुष्ट।

इनमें से पहला, तीसरा और पाँचवा अलंकारशेखर में क्रमशः 'प्रकान्तरसवैरित्व[8],' 'अनौचिती[9]' और व्यक्तिविपर्यय[10] के नाम से प्रसिद्ध हैं। चौथा दोष 'दुःसंधानत्व' भी 'व्यक्तिविपर्यय' ही में आ जाता है। नीरस में केशवत्व का आभास है।

१—देखिये, काव्यादर्श ४. २, ३

२—देखिये, कविप्रिया ३. ३८ :
तु० की० 'विरस' : अलकारशेखर, मरीचि ६

३—देखिये, कविप्रिया ३. ४० :
तु० की० 'भग्नयति', अलंकारशेखर, मरीचि ५

४—देखिये, कविप्रिया ३. ४६ :
तु० की० 'भग्नयति' अलंकारशेखर, मरीचि ५

५—देखिये, कविप्रिया ३. ४८ :
तु० की० 'कष्ट' अलंकारशेखर, मरीचि ४

६—देखिये, कविप्रिया ३. ५८ :
तु० की० 'देशादिविरोध' अलंकारशेखर, मरीचि ६

७—देखिये, कविप्रिया ३. १८
तु० की० 'भग्नछन्द' अलंकारशेखर, मरीचि ५

८—देखिये, अलंकारशेखर २१. २, पृ० ७८

९—देखिये, अलंकारशेखर २१. २, पृ० ८०

१०—देखिये, अलंकारशेखर २१. २, पृ० ८०

केशव ने कैशिकी, भारती, आरभटी और सात्वती-ये चार वृत्तियाँ मानी हैं।[1]

वृत्ति

जहाँ करुण, हास्य अथवा शृंगार रस होता है वहाँ कैशिकी वृत्ति होती है,[2] जहाँ वीर, अद्भुत अथवा हास्य रस होता है वहाँ भारती वृत्ति होती है,[3] रौद्र, भयानक और बीभत्स रस में आरभटी वृत्ति होती है[4] और अद्भुत, वीर, शृंगार और शान्त रस के वर्णन में सात्वती वृत्ति रहती है।[5] केशव ने वृत्तियों के भेदों का निरूपण साहित्यदर्पण के आधार पर किया है, किन्तु अनेक रसों में उनकी स्थिति का वर्णन उन्होंने अपने ढग से किया है। साहित्यदर्पण के अनुसार कैशिकी शृंगार रस में, भारती सब रसों में, आरभटी, रौद्र और बीभत्स रस में तथा सात्वती वीर रस में रहती है।

१—देखिए, रसिकप्रिया १५.१ :

प्रथम कैशिकी भारती, आरभटी भनि भाँति।
कहि केशव शुभ सात्वती, चतुर चतुर विधि जाति।

२—देखिये, रसिकप्रिया १५.२

३—देखिये, रसिकप्रिया १५.४

४—देखिये, रसिकप्रिया १५.६

५—देखिये, रसिकप्रिया १५.८

६—देखिये, साहित्यदर्पण ६.१२२ :

शृंगारे कैशिकी, वीरे सात्वत्यारभटी पुनः
रसे रौद्रे च बीभत्से, वृत्तिः सर्वत्र भारती।

निबंध में प्रयुक्त पुस्तकों की सूची

१—दी इम्पीरियल गजेटियर आफ इंडिया II
२—भारतीय दर्शन : बलदेव उपाध्याय कृत
३—दी मिस्टिक फिलासफी आफ दी उपनिषद्स, एस. पी. सेन
४—दी सिस्टम आफ वेदान्त, डूयसेन
५—गीता
६—वाल्मीकि रामायण 'तिलक' व्याख्या सहित, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, द्वारा प्रकाशित १६०६
७—छान्दोग्योपनिषत्
८—मुंडेकोपनिषत्
९—श्रीमद्भागवतपुराण
१०—माधवालन कामकन्दला, आलमकेलि
११—साहित्यदर्पण, पी. वी. काणे द्वारा संपादित
१२—साहित्यदर्पण, श्री शालग्राम शास्त्री द्वारा सपादित द्वितीयावृत्ति
१३—काव्यकल्पलतावृत्ति, विद्याविलास प्रेस, बनारस, द्वारा प्रकाशित, सन् १६३१
१४—हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल
१५—सतसई सप्तक, श्यामसुन्दरदास द्वारा सम्पादित
१६—शिवपुराण
१७—रामचरितमानस, का० ना० प्र० सभा द्वारा प्रकाशित, सन् १६४०
१८—अध्यात्म रामायण, गीता प्रेस द्वारा प्रकाशित
१९—हनुमन्नाटक, गिरीशयन्त्र, कलकत्ता, द्वारा प्रकाशित, सन् १६३६
२०—प्रसन्नराधव, पं० जीवानन्द विद्यासागर द्वारा संपादित, सन् १८७२
२१—रघुवंश
२२—सर्गसंहिता
२३—योगवासिष्ठ
२४—अलंकारशेखर, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई द्वारा प्रकाशित, सन् १६२६
२५—कुमारसंभव
२६—तुलसी रचनावली, श्री सीताराम प्रेस, बनारस द्वारा प्रकाशित
२७—वेलिक्रिसन रुक्मिणी री राठौड पृथ्वीराज रा कही
२८—गीतगोविंद

२९—अभिज्ञान शाकुन्तल
३०—भँवरगीत (नंददासकृत)
३१—रुक्मिनी मंगल (नंददासकृत)
३२—नंददास, प्रयाग विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित
३३—रूपमंजरी (नंददासकृत)
३४—मेघदूत
३५—विरहमंजरी (नंददासकृत)
३६—सुदामाचरित (नंददासकृत)
३७—सुदामाचरित (नरोत्तमदासकृत)
३८—विज्ञानगीता (केशवकृत)
३९—गीतावली (तुलसीदासकृत)
४०—कृष्णगीतावली „
४१—कवितावली „
४२—विनयपत्रिका „
४३—सूरसागर
४४—ब्रह्मवैवर्तपुराण
४५—विष्णुपुराण
४६—वायुपुराण
४७—दी हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर (विंटरनिजकृत)
४८—'दशमस्कन्ध' (नंददासकृत)
४९—जायसी ग्रंथावली
५०—रामचन्द्रिका
५१—कबीरग्रन्थावली
५२—वैराग्यशतक
५३—मलूकदास की बानी
५४—प्रश्नोत्तरी (शंकराचार्यकृत)
५५—रहीमदोहावली
५६—धर्मदास की शब्दावली
५७—शृंगारशतक
५८—प्राणसंगली (नानक)
५९—पातंजल योगदर्शन : फाइन आर्ट प्रिंटिंग प्रेस, अजमेर द्वारा प्रकाशित
६०—तुलसी दोहावली
६१—तुलसी सतसई

६२—रसखान
६३—महाभारत
६४ - नारदीय भक्तिसूत्र
६५—मीराँ पदावली
६६—हिन्दी के कवि और काव्य
६७—ब्रह्मसूत्र
६८—कठोपनिषत्
६९—शिवसंहिता
७०—मार्कंडेयपुराण
७१—दादूबानी
७२—यजुर्वेद
७३—ब्रह्मबिन्दूपनिषत्
७४—द्वात्रिंशत उपनिषत्
७५—गोरक्षपद्धति
७६—पुरातत्वनिबंधावली : राहुलसांकृत्यायन
७७—सम आस्पेक्टस आफ दी हिस्ट्री एंड डाक्ट्रिन्स आफ दी नाथाज (गोपीनाथ कविराजकृत)
७८—हठयोग प्रदीपिका
७९—दी सर्पेण्ट पावर : आर्थर एवेलन
८०—शाण्डिल्योपनिषत्
८१—विश्वेश्वर तन्त्र
८२—प्राणतोषिनी
८३—दी निर्गुण स्कूल आफ हिन्दी पोएट्री (बड़थ्वाल)
८४—लययोग संहिता तन्त्र
८५—रैदास बानी
८६—बृहदारण्यक उपनिषत्
८७—प्रश्नोपनिषत्
८८—मांडूक्योपनिषत्
८९—संतबानी-संग्रह
९०—ऋग्वेद
९१—केनोपनिषत्
९२—गायत्री तन्त्र
९३—कामधेनुतन्त्र

९४—ज्ञान संकलिनी तन्त्र
९५—कबीर (हजारीप्रसाद द्विवेदी)
९६—वैष्णव फेथ एंड मूवमेंट इन बैंगाल : सुशीलकुमार डे
९७—कल्चरल हेरिटेज आफ इंडिया : यदुनाथ सिनहा
९८—कम्पेरेटिव स्टडीज इन वैष्णविज्म एंड क्रिश्चियैनिटी : डा० सील
९९—हिस्ट्री आफ इंडियन फिलासफी : बेलवेल्कर एंड राणाडे
१००—तैत्तिरीयोपनिषत्
१०१—श्वेताश्वतर उपनिषत्
१०२—सूरदास (रामचन्द्र शुक्ल)
१०३—शांडिल्य भक्तिसूत्र
१०४—व्रजमाधुरीसार
१०५—अष्टछाप पदावली
१०६—नारद पांचरात्रम्
१०७—श्रीभाष्य
१०८—दी इंडियन फिलासफी : सर राधाकृष्णन
१०९—वैराग्य संदीपनी
११०—ईशावास्योपनिषत्
१११—कल्याण (साधनांक)
११२—पंचदशी
११३—शुक्रनीतिसार
११४—मनुस्मृति
११५—पंचतन्त्र
११६—रतनबावनी
११७—नीतिशतक
११८—रहीमरत्नावली
११९—सुभाषितरत्नभांडागार
१२०—चाणक्यनीति
१२१—विदुरनीति
१२२—रसिकप्रिया, केशवदास
१२३—कविप्रिया ,,
१२४—काव्यप्रकाश
१२५—हिततरंगिणी, कृपाराम
१२६—दशरूपक

१२७—रसमंजरी, नंददास
१२८—रसमंजरी (भानुदत्तकृत श्रीहरिकृष्ण निबन्धभवनम् द्वारा प्रकाशित)
१२६—बरवै नायिका भेद, रहीम
१३०—काव्यादर्श
१३१—चन्द्रालोक
१३२—स्कन्दपुराण
१३३—नारदपुराण
१३४—राघवपाण्डवीयम्
१३५—राघवनैषधीयम्
१३६—बुद्धचरित
१३७—सौन्दरानन्द
१३८—यशोधराचरितम्
१३६—किरातार्जुनीय,
१४०—शिशुपालवध
१४१—नैषधचरित
१४२—नलोदय
१४३—सामवेद संहिता
१४४—अथर्ववेद संहिता
१४५—शतपथ ब्राह्मण
१४६—रावणवध
१४७—अमरुक शतक
१४८—शृंगार तिलक
१४६—ऋतुसंहार
१५०—सुभाषित-रत्न--सन्दोह
१५१—नीति-रत्न
१५२—नीति-मंजरी
१५३—आनन्दलहरी
१५४—देवीशतक
१५५—चण्डी शतक
१५६—सूर्यशतक
१५७—वैतालपञ्चविंशति
१५८—सिंहासनद्वात्रिंशिका
१५६—हितोपदेश

१६०—पंचतंत्र
१६१—शुकसप्तति
१६२—कथासरित्सागर
१६३—बृहत्कथामञ्जरी
१६४—विक्रमोर्वशी
१६५—मालविकाग्निमित्र
१६६—मृच्छकटिक
१६७—नागानन्द
१६८—उत्तररामचरितम्
१६९—महावीरचरितम्
१७०—मुद्राराक्षस
१७१—वेणीसंहार
१७२—रत्नावलि
१७३ —बालरामायण
१७४—प्रबोधचन्द्रोदय
१७५—बालमहाभारत
१७६—स्वप्नवासवदत्ता
१७७—काव्यमीमांसा
१७८—वक्रोक्तिजीवित
१७९—अलंकारसर्वस्व
१८०—अग्निपुराण
१८१—रामायणमहानाटक
१८२—पद्मपुराण

संक्षिप्त शब्दों की तालिका

१—इम्पी० ग० आफ इंडिया	दी इम्पीरियल गजेटियर आफ इंडिया ।
२—उपा०	उपाध्याय
३—भा० द०	भारतीय दर्शन
४—दी मि० फि० आफ दी उप०	दी मि० फिलासफी आफ दी उपनिषद्स
५—वा० रा०	वाल्मीकि रामायण
६—अयो० कां०	अयोध्या काण्ड
७—छां० उप०	छांदोग्य उपनिषद्
८—मुं० उप०	मुंडक उपनिषद्
९—बा० कां०	बालकांड
१०—अ० रा०	अध्यात्म रामायण
११—रा० च० मा०	रामचरितमानस
१२—तु० की०	तुलना कीजिये
१३—भाग०	भागवत
१४—प्र० रा० ना०	प्रसन्नराघव नाटक
१५—ह० ना०	हनुमन्नाटक
१६—दो०	दोहा
१७—सुं० कां०	सुन्दरकांड
१८—पृ०	पृष्ठ
१९—कि० कां०	किष्किन्धाकांड
२०—यु० कां०	युद्धकांड
२१—लं० कां०	लंकाकाड
२२—श्लो०	श्लोक
२३—रा० चं०	रामचंद्रिका
२४—पं०	पंक्ति
२५—सा० द०	साहित्यदर्पण
२६—का० क० वृ०	काव्यकल्पलतावृत्ति
२७—हिं० सा०	हिन्दी साहित्य का इतिहास
२८—स० स०	सतसई सप्तक
२९—यो० वा०	योगवासिष्ठ

१४०० ई० से १६०० ई० तक
की
प्रमुख हिन्दी रचनाओं की सूची

सन्तकाव्य

कबीर	१—साखी
	२—सबद
	३—रमैणी
दादूदयाल	४—दादूदयाल की बानी
रैदास	५—रैदास की बानी
नानक	६—प्राणसंगली
धर्मदास	७—धर्मदास की शब्दावली
मूलकदास	८—मलूकदास की बानी

सूफीकाव्य

जायसी	९—पद्मावत
	१०—अखरावट
मंझन	११—मधुमालती
आलमकेलि	१२—माधवानलकामकन्दला

सगुण भक्ति काव्य

विद्यापति	१३—पदावली
सूरदास	१४—सूरसागर
नन्ददास	१५—दशमस्कन्ध
	१६—भवरगीत
	१७—रासपंचाध्यायी
	१८—रुक्मिणीमंगल
	१९—रूपमंजरी
	२०—रसमंजरी
	२१—विरहमंजरी
	२२—सुदामाचरित्र

परमानन्ददास	२३—पदावली
कृष्णदास	२४—पदावली
कुंभनदास	२५—पदावली
चतुर्भुजदास	२६—पदावली
छीतस्वामी	२७—पदावली
गोविंददास	२८—पदावली
हरिराम व्यास	२९—व्यासजी की पदावली
हितहरिवंश	३०—हितचौरासी
रसखान	३१—सुजान रसखान
	३२—कवित्त
	३३—प्रेमवाटिका
मीराँ बाई	३४—मीराँपदावली
कृपाराम	३५—हिततरंगिणी
रहीम	३६—रहीम दोहावली
	३७—बरवैनायिकाभेद
तुलसीदास	३८—तुलसी सतसई
	३९—तुलसी दोहावली
	४०—कवितावली
	४१—गीतावली
	४२—पार्वतीमंगल
	४३—जानकीमंगल
	४४—कृष्णगीतावली
	४५—वैराग्यसंदीपनी
	४६—रामचरितमानस
	४७—विनयपत्रिका
	४८—हनूमानबाहुक
स्वामी अग्रदास	४९—रामध्यानमंजरी
पृथ्वीराज राठौर	५०—वेलिक्रिसनरुक्मिणीरी
केशवदास	५१—रामचंद्रिका
	५२—विज्ञानगीता
	५३—रसिकप्रिया
	५४—कविप्रिया
	५५—रतनबावनी

३०—तु० र०	तुलसीरचनावली
३१—कु० सं०	कुमारसंभव
३२—वेलि	वेलिक्रिसनरुकमणी री
३३—गी० गो०	गीतगोविंद
३४—रु० मं०	रुक्मिणीमंगल
३५—रा० पं०	रासपंचाध्यायी
३६—गी०	गीता
३७—दश० स्कं०	दशमस्कंध
३८—अध्या०	अध्याय
३९—वि० प०	विनयपत्रिका
४०—वै० प्र०	वैराग्य प्रकरण
४१—जा० ग्रं०	जायसीग्रंथावली
४२—वि० पु०	विष्णुपुराण
४३—क० ग्रं०	कबीरग्रंथावली
४४—म० बा०	मलूक बानी
४५—भा० माहा०	भागवत माहात्म्य
४६—तु० स०	तुलसीसतसई
४७—तु० दोहा०	तुलसीदोहावली
४८—अनु० प०	अनुशासनपर्व
४९—पा० यो० द०	पातंजलयोगदर्शन
५०—शां० प०	शान्तिपर्व
५१—द्वि० सा० पा०	द्वितीय साधन पाद
५२—ना० भ० सू०	नारदीय भक्ति सूत्र
५३—प्रा० सं०	प्राणसंगली
५४—अर्द्धा०	अर्द्धाली
५५—अर० कां०	अरण्यकांड
५६—पदा०	पदावली
५७—मा० का० कन्दला	माधवानलकामकन्दला
५८—कठोप०	कठोपनिषद्
५९—शिव सं०	शिवसंहिता
६०—रहीम दो०	रहीम दोहावली
६१—दादू बा०	दादू बानी
६२—गु० सा०	गुरुसागर

६३—गो० प०	गोरक्षपद्धति
६४—पु० त० निबन्धावली	पुरातत्वनिबन्धावली
६५—ह० यो० प्र०	हठयोगप्रदीपिका
६६—शां० उप०	शांडिल्य उपनिषद्
६७—ध० दा० श०	धर्मदास की शब्दावली
६८—सं० बा० सं०	संतबानी संग्रह
६९—बृ० उप०	बृहदारण्यक उपनिषद्
७०—प्र० उप०	प्रश्नोपनिषद्
७१—मां० उप०	मांडूक्योपनिषद्
७२—क० हे० आफ इं०	कल्चरल हेरिटेज आफ इंडिया
७३—हि० आफ इं० फि०	हिस्ट्री आफ इंडियन फिलासफी
७४—तै० उप०	तैत्तिरीय उपनिषद्
७५—श्वे० उप०	श्वेताश्वतर उपनिषद्
७६—शां० भ० सू०	शांडिल्य भक्ति सूत्र
७७—नंद०	नंददास
७८—ब्र० मा० सा०	ब्रजमाधुरीसार
७९—अ० पदा०	अष्टछाप पदावली
८०—उ० कां०	उत्तरकांड
८१—ना० पां० रा०	नारदपांचरात्रम्
८२—के० उप०	केनोपनिषद्
८३—के० पं० र०	केशवपंचरत्न
८४—सु० र० भा०	सुभाषितरत्नभांडागारम्

१४०० ई० से १६०० ई० तक

की

प्रमुख हिन्दी रचनाओं की सूची

सन्तकाव्य

कबीर	१—साखी
	२—सबद
	३—रमैणी
दादूदयाल	४—दादूदयाल की बानी
रैदास	५—रैदास की बानी
नानक	६—प्राणसंगली
धर्मदास	७—धर्मदास की शब्दावली
मूलकदास	८—मलूकदास की बानी

सूफीकाव्य

जायसी	९—पद्मावत
	१०—अखरावट
मंझन	११—मधुमालती
आलमकेलि	१२—माधवानलकामकन्दला

सगुण भक्ति काव्य

विद्यापति	१३—पदावली
सूरदास	१४—सूरसागर
नन्ददास	१५—दशमस्कन्ध
	१६—भंवरगीत
	१७—रासपंचाध्यायी
	१८—रुक्मिणीमंगल
	१९—रूपमंजरी
	२०—रसमंजरी
	२१—विरहमंजरी
	२२—सुदामाचरित्र

परमानन्ददास	२३—पदावली
कृष्णदास	२४—पदावली
कुंभनदास	२५—पदावली
चतुर्भुजदास	२६—पदावली
छीतस्वामी	२७—पदावली
गोविंददास	२८—पदावली
हरिराम व्यास	२९—व्यासजी की पदावली
हितहरिवंश	३०—हितचौरासी
रसखान	३१—सुजान रसखान
	३२—कवित्त
	३३—प्रेमवाटिका
मीराँ बाई	३४—मीराँपदावली
कृपाराम	३५—हिततरंगिणी
रहीम	३६—रहीम दोहावली
	३७—बरवैनायिकाभेद
तुलसीदास	३८—तुलसी सतसई
	३९—तुलसी दोहावली
	४०—कवितावली
	४१—गीतावली
	४२—पार्वतीमंगल
	४३—जानकीमंगल
	४४—कृष्णगीतावली
	४५—वैराग्यसंदीपनी
	४६—रामचरितमानस
	४७—विनयपत्रिका
	४८—हनूमानबाहुक
स्वामी अग्रदास	४९—रामध्यानमंजरी
पृथ्वीराज राठौर	५०—वेलिक्रिसनरुक्मिणीरी
केशवदास	५१—रामचंद्रिका
	५२—विज्ञानगीता
	५३—रसिकप्रिया
	५४—कविप्रिया
	५५—रतनबावनी

	५६—जहाँगीरजसचंद्रिका
	५७—नखशिख
नरोत्तमदास	५८—सुदामाचरित
बलभद्र	५६—नखशिख
अज्ञात	६०—'ढोलामारूरा दूहा'

जो ग्रंथ उपलब्ध नहीं हो सके हैं अथवा संस्कृत के प्रभाव की दृष्टि से जिनकी कोई उपयोगिता नहीं रही है उनका उल्लेख यहाँ नहीं किया गया है।

इति शुभम्

मुद्रक—मुंशी रमजान अली शाह, नेशनल प्रेस प्रयाग